अथैकविंशोऽध्यायः

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की कामना

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके॥१॥

१. 'शुनःशेप' ऋषि के ये मन्त्र हैं। सुख का (शुनं) निर्माण करनेवाला ऋषि प्रार्थना करता है कि हे **वरुण**=मेरे जीवन से सब द्वेषों का निवारण करनेवाले और मुझे श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! (वरुण=श्रेष्ठ) **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **श्रुधि**=सुनिए **च**=और **अद्य**=आज ही **मृडय**=सुखी कीजिए। २. **अवस्युः**=अपने रक्षण की कामनावाला मैं **त्वाम्**=आपकी **आचके**=(कामये) कामना करता हूँ, आपको चाहता हूँ। वस्तुतः रक्षण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। जगज्जननी की गोद में ही यह जीव सुरक्षित रह पाता है।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, मैं उन्हें पुकारता हूँ, वे मेरे जीवन को सुखी करते हैं। हम अपनी रक्षा करना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय प्रभु-प्राप्ति की कामना है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान+यज्ञ

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा नऽआयुः प्र मोषीः॥२॥

१. **ब्रह्मणा**=स्तोत्रों से व वेदज्ञान से **वन्दमानः**=आपका स्तवन करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत्**=वही बात **यामि**=(याचामि) चाहता हूँ, **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=हवियों के द्वारा, अर्थात् दानपूर्वक अदन के द्वारा **तत्**=वही **आशास्ते**=इच्छा करता है कि हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करके हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए आप हमें **बोधि**=बोधयुक्त कीजिए। हे **उरुशंस**=बहुतों से स्तुति किये गये प्रभो! आप **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा प्रमोषीः**=मत चुरने दीजिए। हमारी आयु को आप व्यर्थ न जाने दीजिए। २. ज्ञान-प्राप्ति व जीवन को सार्थक करने के दो ही उपाय हैं—(क) हम वेदज्ञान से प्रभु का स्तवन करें तथा (ख) यज्ञशील बनकर हविर्भुक् बनें, दान देकर बचे हुए को खानेवाले हों, केवलादी न बन जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान व यज्ञ ही जीवन को सार्थक बनानेवाले हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निवरुणौ**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

द्वेष-दूरीकरण

त्वं नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽअव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥३॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाश से चमकनेवाले **वरुणस्य विद्वान्**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले विद्वन्! प्रभु को

जाननेवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमसे **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज, सब-कुछ देनेवाले प्रभु के **हेडः**=क्रोध को **अवयासिसीष्ठाः**=दूर नष्ट कर (दसु उपक्षये)। हमारे ज्ञान देनेवाले आचार्य (क) 'अग्नि' हों—अग्नि के समान ज्ञान से प्रकाशित हों तथा (ख) उस प्रभु के जाननेवाले हों, जिस प्रभु का ज्ञान ही हमारे जीवनों को उत्तम बनाता है। ये विद्वान् ज्ञान-प्रदान द्वारा हमारे जीवनों में इस प्रकार परिवर्तन पैदा करें कि हम कभी भी 'वरुण' प्रभु के क्रोध के पात्र न हों। २. हे विद्वन्! आप **यजिष्ठः**=अधिक-से-अधिक यज्ञ करनेवाले, देवों का आदर करनेवाले हो। **वह्नितमः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का वहन करनेवाले हो। **शोशुचानः**=इसी कारण अपने जीवन को अत्यन्त पवित्र बनानेवाले हो। ३. आप हमें उपदेश देकर **अस्मत्**=हमसे **विश्वा द्वेषांसि**=सब द्वेष की भावनाओं को **प्रमुमुग्धि**=छुड़ा दीजिए।

भावार्थ—हम पारस्परिक कलह व ईर्ष्या-द्वेष को दूर करें। परस्पर प्रेम से वर्तें तभी हम प्रभु की कृपा के पात्र होंगे।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निवरुणौ**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सत्सङ्ग

स त्वं नोऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणꣳरराणो वीहि मृडीकꣳसुहवो नऽएधि॥४॥

१. हे **अग्ने**=अग्निवत् प्रकाशमान विद्वन्! **सः त्वम्**=वह आप **नः**=हमारे **अवमः**=अत्यन्त रक्षक **भवः**=होओ। २. **अस्याः उषसो व्युष्टौ**=इस उषःकाल के आने पर, अन्धकार के दूर होने पर आप **ऊती**=रक्षा के दृष्टिकोण से **नेदिष्ठः**=अन्तिकतम हो। आपके सामीप्य में मैं बुराइयों से बचा रहूँगा और ३. **रराणः**=(रा दाने) उत्तम ज्ञान देते हुए आप **नः**=हमें **वरुणं अवयक्ष्व**=द्वेष-निवारण करनेवाले प्रभु के साथ सङ्गत कीजिए, अर्थात् यह विद्वानों का दिया हुआ ज्ञान हमें प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला हो। ४. इस प्रकार आप हमें **मृडीकम्**=सुख को **वीहि**=प्राप्त कराइए। ५. आप **नः**=हमारे लिए **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **एधि**=होओ। हम जब-जब ज्ञान-प्राप्ति के लिए आपको पुकारें तब-तब आप हमारी पुकार को सुनें।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन विद्वानों का सङ्ग प्राप्त हो। वे हमें ज्ञान के द्वारा प्रभु से सङ्गत करें और इस प्रकार हमें सुखी करें। सत्सङ्ग के द्वारा अपने में उत्तमगुणों को उत्पन्न करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव' बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वेदमाता

महीमू षु मातरꣳसुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳ सुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्॥५॥

१. गतमन्त्र में भावना यह थी कि विद्वान् लोग ज्ञान देते हुए हमें प्रभु से सङ्गत करनेवाले हों। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह वामदेव वेदमाता की आराधना करता है और कहता है कि हम **अवसे**=रक्षण के लिए व तृप्ति के अनुभव के लिए (अवनाय तर्पणाय वा) **हुवेम**=इस वेदवाणी को पुकारते हैं, इसे प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। उस वेदवाणी को जो २. **महीम्**=(महतीम्) महनीय है, हमारे जीवनों को महिमायुक्त

करनेवाली है, **ऊ**=और ३. **सुव्रतानाम् सुमातरम्**=उत्तम व्रतों का सुन्दरता से निर्माण करनेवाली है। यह वेदवाणी हमारे जीवनों को व्रतमय जीवनवाला बनाती है। ४. **ऋतस्य पत्नीम्**=यह ऋत का, नियमपरायणता व यज्ञ का पालन करानेवाली है। इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन के परिणामस्वरूप हम सब कार्यों में बड़े नियमित व मर्यादित हो जाते हैं और हमारा जीवन यज्ञशील होता है। ५. **तुविक्षत्राम्**=यह ज्ञान की वाणी वासनाओं के प्रबल व बहुत अधिक (तुवि) क्षतों (चोटों) से हमें बचानेवाली है। ज्ञान वासनाओं के आक्रमण के लिए ढाल के समान है। ६. **अजरन्तीम्**=(न जीर्यति) यह ज्ञानवाणी कभी जीर्ण होनेवाली नहीं। **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। यह अपने अध्ययन करनेवाले को जीर्णता से बचानेवाली है। ७. **उरूचीम्**=(उरु अञ्च्) यह अत्यन्त क्रियाशील है। इसका स्वाध्याय करनेवाला क्रियाशील होता है। इसी क्रिया के द्वारा ही यह **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाली है। (शोभनं शर्म यस्याः) ८. **अदितिम्**=जो हमारा नाश नहीं होने देती, प्रत्युत हमारे जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली है। ९. **सुप्रणीतिम्**=(शोभना प्रणीतिः स्याः) इससे हमारे जीवनों का मार्ग उत्तम होता है, हमारे जीवनों का उत्तम निर्माण होता है।

भावार्थ—वेदवाणी को हम अपने जीवनों की उत्तमता के लिए आराधित करते हैं।

ऋषिः—**गयःप्लातः**। देवता—**अदितिः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दैवी नाव

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳसुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्।
दैवीं नावꣳस्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥६॥

१. गतमन्त्र का ऋषि **अदिति**=अदीना देवमाता की उपासना करके 'वामदेव' बनता है और वामदेव बनने के कारण ही 'गयस्फान' होता है—'गयाः प्राणाः तान् प्राति-पूरयति' अपने में प्राणशक्ति का पूरण करनेवाला होता है। यह 'गयःप्लातः' अपने इस शरीर को एक 'दैवी नाव' उस देव से दी गई नाव के रूप में समझता है और इस नाव के द्वारा भवसागर को तैरकर अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होता है। **'अत्रा जहाम अशिवा ये असन् शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्'**=सब अशिवों को छोड़कर हम परले पार पहुँचकर शिवों को प्राप्त करनेवाले बनें। २. एवं, इस शरीररूप नाव का महत्त्व स्पष्ट है। यह **सुत्रामाणम्**=उत्तमता से रक्षित की जानेवाली हो (सुष्ठु त्रायते)। इस शरीररूप नाव की जितनी भी रक्षा की जाए वह थोड़ी है। ३. **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) यह विस्तारवाली है। शरीररूप नाव ने ब्रह्माण्ड के सारे देवों का अधिष्ठान बनना है, अतः इसे विस्तृत होना ही चाहिए। ४. **द्याम्**=(दिव्=द्युति) यह प्रकाशमय हो। प्रत्येक वाहन में प्रकाश का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना उसके मार्गभ्रष्ट होने व टकरा जाने की आशंका बनी ही रहती है। ५. **अनेहसम्**=(वत्रि go एह च) यह अहन्तव्य है, नष्ट करने योग्य नहीं। इतनी महत्त्वपूर्ण व दुर्लभ वस्तु नष्ट करने योग्य कैसे हो सकती है? अथवा (हेड=क्रोध—उ०) क्रोधरहित यह नाव होनी चाहिए। लक्षणा से नावस्थ पुरुषों को कभी क्रोध न करना चाहिए। क्रोध में नाविक चेतना को खो बैठेगा और नाव को ठीक प्रकार से न चला पाएगा। ६. **सुशर्माणम्**=(शोभनं शर्म यया) यह उत्तम कल्याण को प्राप्त करानेवाली है अथवा यह (शर्म=गृह, आश्रय) शोभन आश्रयवाली है। ७. **अदितिम्**=अखण्डित है। शरीर का स्वस्थ होना ही इस नाव का न खण्डित होना है। ८. **सुप्रणीतिम्**=यह उत्तम

प्रणयनवाली है। बड़ी उत्तमता से आगे-आगे बढ़ रही है। ९. **स्वरित्राम्**=उत्तम चप्पूओंवाली है, मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ ही इस नाव के अरित्र (oar) हैं। १०. **अनागसम्**=यह निर्दोष है, शरीररूप नाव में किसी अङ्ग का विकृत होना ही उसका दोष है। यह दोषों से रहित है। ११. **अस्रवन्तीम्**=यह चू नहीं रही। शरीर में सोम का सुरक्षित होना ही इसका न चूना है। ११. ऐसी इस **दैवीं नावम्**=देव परमात्मा की ओर ले-जानेवाली नाव पर हम आरोहण करें। इस प्रकार निर्दोष नाव पर बैठकर ही हम संसार-समुद्र को पार कर सकेंगे।

भावार्थ—हम इस शरीररूपी दैवी नाव पर आरोहण करें। इस उत्तमता से प्रणयन की जानेवाली नाव के द्वारा संसार-समुद्र को तैरकर यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**गयःप्लातः**। देवता—**स्वर्ग्या नौः**। छन्दः—**यवमध्यागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

शतारित्रा नौः

सुनावमा रुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्राꣳस्वस्तये॥७॥

१. 'गयःप्लात' ही कह रहा है कि मैं **सुनावम्**=उत्तम नाव पर **आरुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। उस नाव पर जो २. **अस्रवन्तीम्**=स्रुत नहीं हो रही है। इस शरीररूप नाव में सोम का सुरक्षित न होना ही इसका चूना है। ३. **अनागसम्**=यह नाव आगस् से रहित है, दोषरहित है। ये मल ही दोष हैं, उनसे यह शून्य है। ४. **शतारित्राम्**=जिसके अरित्र सौ वर्ष तक उत्तमता से कार्य करनेवाले हैं। ऐसी इस नाव पर मैं **स्वस्तये** =उत्तम जीवन व कल्याण के लिए आरुढ़ होऊँ। ऐसी नाव पर आरोहण करके ही मैं संसाररूप 'अश्मन्वती नदी' को पार कर सकूँगा।

भावार्थ—यह शरीररूप नाव अत्यन्त निर्दोष होगी तभी यह 'सुनाव' हमें इस संस्सृतिरूप नदी से पार उतारनेवाली होगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

माधुर्य

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजाꣳसि सुक्रतू॥८॥

१. गतमन्त्र का 'गयःप्लात' सब प्रकार के क्रोधादि को छोड़कर 'विश्वामित्र'=सभी से स्नेह करनेवाला बनता है और प्रार्थना करता है—हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवो! 'मित्र-स्नेह की देवता है' वरुण' द्वेष-निवारण की। हे स्नेह व द्वेषनिवृत्ति की भावनाओ! **नः**=हमारे **गव्यूतिम्** =जीवनमार्ग को, इन्द्रियों के प्रचार-क्षेत्र को **घृतैः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण तथा ज्ञान के दीपनों से **उक्षतम्**=सर्वथा सिक्त कर दो। स्नेह व द्वेष निवृत्ति ही वस्तुतः सब मलों के ध्वंस के द्वारा हमें शरीर में नीरोग व मन में निर्मल और प्रसन्न बनाती है तथा हमारे मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करने में सहायक है। २. हे **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले मित्रावरुणो! आप **रजांसि**=(रजः कर्मणि भारत) हमारे सब कर्मों को **मध्वा**=माधुर्य से सिक्त करने की कृपा करो। मित्र व वरुण की आराधना हमारे सब कार्यों के अन्दर माधुर्य का सञ्चार करनेवाली होगी। हमारा आना-जाना, बोलना-चालना सब मधुर होगा तभी तो हमारा 'विश्वामित्र' यह नाम चरितार्थ होगा।

भावार्थ—हमारा जीवनमार्ग घृत=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति से सिक्त हो तथा हमारे सब कर्म माधुर्य को लिये हुए हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्मव्यापृति

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नऽआ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा॥९॥

१. हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व द्वेषाभाव की भावनाओ! **नः**=हमारे **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **बाहवा**=हमारी बाहुओं को **प्रसिसृतम्**=(प्रसारयतम्) गतियुक्त करो, अर्थात् हम स्नेह से प्रेरित होकर, सब प्रकार के द्वेषों से ऊपर उठकर सदा कार्यों में लगे रहें। २. **नः**=हमारे **गव्यूतिम्**=प्रचार-इन्द्रिय क्षेत्र को अथवा जीवनमार्ग को **घृतेन**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति से **उक्षतम्**=सिक्त करो। हमारे शरीर व मन निर्मल होकर नीरोग तथा प्रसन्न हों, तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो उठें। ३. इस प्रकार आप हमारे जीवन को ऐसा सुन्दर बनाइए कि **मा**=मुझे **जने**=लोगों में **आश्रवयतम्**=चारों ओर कीर्तियुक्त कर दीजिए। ४. **युवाना**=आप मेरे लिए गुणों का मिश्रण करनेवाले तथा अवगुणों को दूर करनेवाले (अमिश्रण) होओ। ५. हे मित्रावरुणा! आप **मे**=मेरी **इमा हवा**=इन प्रार्थनाओं को **श्रुतम्**=सुनिए और मेरे जीवन को सचमुच **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तं वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'** भद्र से युक्त कीजिए और अभद्र से व पाप से पृथक् कीजिए, इस प्रकार आप मुझे अत्यन्त उत्तम जीवनवाला 'वसिष्ठ' बनाइए।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम सदा कार्यों में लगे रहें। हमारा मार्ग मलशून्य व ज्ञानदीप्तिवाला हो। लोगों में हमारी कीर्ति हो, इसीलिए अभद्र से हम दूर व भद्र के समीप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**ऋत्विजः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

विद्वान् 'आत्रेय'

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳरक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥१०॥

१. अब इस अध्याय में समाप्ति तक मन्त्रों का ऋषि 'आत्रेय' है। 'आत्रेय' वह है जो 'अत्रि'—'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से रहित है। यह 'आत्रेय' ही वस्तुतः गतमन्त्र का वसिष्ठ है। उत्तम निवासवाला है। यह प्रार्थना करता है कि **हवेषु**=जब-जब हम पुकारें तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवताता**=(देवान् तन्यन्ति) दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, **मितद्रवः**=बड़ी मपी-तुली गतिवाले, प्रत्येक कर्म में युक्त चेष्टावाले, **स्वर्काः**=(अर्कम् अन्नम्) उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले अथवा (अर्क =स्तोत्र) उत्तम स्तोत्रोंवाले, उत्तम स्तवनवाले विद्वान् लोग **नः**=हमारे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति व सुख के देनेवाले हों। २. **अहिम्**=(आहन्तीति) हिंसा व घात-पात की वृत्ति को अथवा सर्पवत् कुटिलता को, **वृकम्**=(वृक आदाने) लोभवृत्ति को तथा **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को **जम्भयन्तः**=नष्ट करते हुए ये **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों को **सनेमि**=शीघ्र **युयवन्**=पृथक् करें। इनके उपदेश हमारे जीवनों में हिंसा के स्थान में प्रेम को, कुटिलता के स्थान में सरलता को, लोभ के स्थान में सन्तोष को, राक्षसीवृत्तियों के स्थान में दैवीवृत्तियों को जन्म देते हुए शरीर व मानस नीरोगता प्राप्त करानेवाले हों। इनके उपदेशों से हम भी इनकी भाँति 'शक्तिशाली, दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, युक्तचेष्ट तथा उत्तमाहार-सेवी' बनें तो

अवश्य ही कुटिलता-लोभ-हिंसा आदि को छोड़कर पूर्ण आरोग्य का साधन कर पाएँगे और तब सचमुच 'आत्रेय' होंगे—त्रिविध कष्टों से ऊपर उठ जाएँगे।

भावार्थ—विद्वान् का लक्षण है कि वह 'शक्तिशाली, दिव्य वृत्तिवाला, युक्तचेष्ट, सात्त्विक आहारी व उत्तम उपासक' होता है। इनके उपदेश लोगों को अहिंसक, सन्तोषी व यशस्वी बनाते हैं और लोगों को नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्गोपदेश

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥११॥

१. गतमन्त्र के विद्वानों से ही प्रार्थना करते हैं कि **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी आप **नः**=हमारी **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **अवत**=रक्षा करनेवाले होओ। आपकी कृपा से हम गतमन्त्र के 'अहि, वृक व राक्षसों' के साथ संग्राम में उनका हिंसन करनेवाले हों। २. हम भी आप की भाँति **धनेषु**=धनों के विषय में **विप्राः**=(वि+प्रा) विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले हों। हम धनों को सदा सुपथ से ही सञ्चित करनेवाले हों। ३. **अमृताः**=हम विषयों के पीछे मरनेवाले न हों, विषय हमारे लिए विषय=बन्धनकारक (षिञ् बन्धने) न रह जाएँ। ४. **ऋतज्ञाः**=हम अपने जीवनों में ऋत को जाननेवाले हों—हमारे जीवनों में मर्यादा हो, यज्ञ हों (ऋत=यज्ञ), अनृत से हम ऊपर उठे हुए हों। ५. इस प्रार्थना के करने पर विद्वान् उपदेश देते हैं कि **'अस्य मध्वः पिबत'**=इस मधु का पान करो। ओषधि-वनस्पतियों के सारभूत सोम (मधु) को तुम अपने जीवन में सुरक्षित करो। सोम का रक्षण तुम्हें **सोम**=परमात्मा-जैसा बनाएगा। ६. इस सोम का पान करके **मादयध्वम्**=हर्ष का अनुभव करो। तुम्हारा जीवन आह्लादमय बने। ७. **तृप्ताः यात**=तुम इस संसार में सदा तृप्त होकर चलो। भूखा व्यक्ति ही निष्करुण व पाप-प्रवृत्त होता है। ८. तुम **देवयानैः पथिभिः**=देवताओं से जाने योग्य मार्गों से चलनेवाले होओ। देवों के तुम अनुयायी बनो। देवों की भाँति ही तुम 'दान, दीपन व द्योतन' वाले होओ। वस्तुतः यही शान्ति-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें, तृप्त व सन्तुष्ट होकर चलें। सदा प्रसन्न रहें। देवयान-मार्ग पर आक्रमण करें। देवों के ही अनुगामी हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

त्र्यविर्गौः

समिद्धोऽअग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः।
गायत्री छन्दऽइन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' है। **सु**=उत्तम **अस्ति**=जीवनवाला **आत्रेय**=विविध कष्टों से दूर, अथवा काम-क्रोध-लोभ से रहित। कामादि से रहित होने के कारण ही वह कष्टों से भी रहित है। इस स्वस्त्यात्रेय के जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। २. कौन धारण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **समिधा**=समिधाओं से, यज्ञिय काष्ठों से, **समिद्धः**=अग्निकुण्ड में दीप्त किया हुआ **अग्निः**=अग्नि। एक सद्गृहस्थ प्रतिदिन प्रातः-सायं घर में अग्निहोत्र करता है, **'अग्निं सपर्यतारा नाभिमिव'**=रथनाभि के चारों ओर स्थित अरों की भाँति

अग्निकुण्ड के चारों ओर स्थित होकर, पूजा की भावनावाले होकर, तुम अग्निहोत्र करो। इस अग्निहोत्र से वायुमण्डल का शोधन होता है, रोगकृमियों का संहार होता है और मनुष्य का जीवन नीरोग बनता है। इस नीरोगता से सौमनस्य प्राप्त होता है। एवं, यह समिद्ध अग्नि हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन का धारण करनेवाली है। ३. **सुसमिद्धः वरेण्यः**=वह वरणीय प्रभु सोमरक्षा द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से हृदयाकाश में दीप्त किया जाता है। उस प्रभु को हम सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देख पाते हैं। इस बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए ही हमें शरीर में सोम की रक्षा करनी है। यह सुसमिद्ध वरेण्य प्रभु हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। ४. **गायत्री छन्दः**=(गयः प्राणः, त्रा=रक्षण) 'प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा' हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल भावना से हम 'प्रेय' मार्ग का वरण न करके श्रेय का ही वरण करते हैं। ५. अन्त में **गौः**=ज्ञान की रश्मि हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। वह ज्ञान की रश्मि जोकि **त्र्यविः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही रक्षण करती है अथवा जो हमारे जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों को लाती है। **'धर्मार्थकामः सममेव सेव्यः'** के अनुसार समानुपात में चलनेवाले धर्मार्थकाम हमारे जीवनों को बड़ा उत्कृष्ट बना देते हैं।

भावार्थ—(क) अग्निहोत्र (ख) प्रभु का वरण (ग) प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल कामना तथा (घ) धर्मार्थकाम तीनों का समसेवन करानेवाली ज्ञानरश्मि—ये हमारी शक्तियों को स्थिर करें तथा जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दित्यवाट् गौः

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती।
उष्णिहा छन्दऽइन्द्रियं दित्यवाड् गौर्वयो दधुः॥१३॥

१. स्वस्त्यात्रेय के जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को, जिस जीवन में अन्त तक कर्मतन्तु का विस्तार होता है, **दधुः**=धारण करते हैं। २. 'कौन धारण करते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **तनूनपात्**=(प्राणो वै तनूनपात् स हि तन्वः पाति-ऐ० २।४) प्राण जो **शुचिव्रतः**=पवित्र व्रतोंवाला है। संक्षेप में वह जीवन जो व्रतमय है। व्रती जीवन 'शक्ति' को बढ़ाता है, वह जीवन उत्कृष्ट तो बनता ही है। ३. **च**=और **सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता जोकि **तनूपाः**=हमारे शरीरों की रक्षा करनेवाली है। अथवा शक्तियों के विस्तार (तनू) की रक्षा करनेवाली है। ४. **उष्णिहा छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की भावना भी शक्ति को बढ़ाती है तथा जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। संसार में सामान्यतः हीनाकर्षण प्रबल होता है, कोई विरल व्यक्ति ही इस स्नेह को उत्कर्ष की ओर ले-जाता है। जब हमारा स्नेह उत्कृष्ट वस्तुओं के लिए होने लगता है तब यह हमारी शक्ति का रक्षक सिद्ध होता है और हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। ५. **गौः**=ज्ञान की वह रश्मि जोकि **दित्यवाट्** है=(दितेर्भावः कर्म वा दित्यं), अर्थात् जो ज्ञान अविद्यान्धकार को नष्ट करता है, वह निश्चय से हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है।

भावार्थ—१. व्रती जीवन २. शक्तियों की रक्षक ज्ञानाधिदेवता ३. उत्कृष्ट स्नेह तथा ४. अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाली ज्ञान की किरणें हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाती हैं तथा प्रत्येक इन्द्रिय को शक्तियुक्त करती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पञ्चाविर्गौः

इडा॑भिर॒ग्निरीड्यः॒ सोमो॑ दे॒वोऽअम॑र्त्यः।
अ॒नुष्टुप् छन्द॑ऽइ॒न्द्रियं पञ्चा॑वि॒र्गौर्वयो॑ दधुः॥१४॥

१. स्वस्त्यात्रेय के जीवन में निम्न वस्तुएँ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=अविच्छिन्न कर्मतन्तुवाले जीवन को **दधुः**=धारण करती हैं। २. सबसे प्रथम तो **इडाभिः**=सब वेदवाणियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य **अग्निः**=परमात्मा स्तुत्य हैं। इनसे उनका स्तवन करने पर हमारी शक्तियों का ह्रास नहीं होता और हमारा जीवन क्रियामय बनकर उत्कृष्ट बनता है। ३. दूसरे स्थान पर **सोमः**=सोम है, वीर्यशक्ति है जो **देवः**=मन के अन्दर दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली है तथा **अमर्त्यः**=मनुष्य को रोगों से न मरने देनेवाली है। यह 'सोम' सुरक्षित होकर शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का धारण करता है। ४. तीसरे स्थान पर **अनुष्टुप् छन्दः**=(अनु स्तौति) प्रत्येक कार्य को करते हुए प्रभु का स्तवन करने की इच्छा है। प्रभु-स्मरणपूर्वक होनेवाले कार्य हमें कभी क्षीणशक्ति नहीं करते और ये कार्य हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। ५. अन्त में **पञ्चाविः गौः**=है, वह ज्ञान की रश्मि है, जो हमारे पञ्चभौतिक शरीर का पूर्ण रक्षण करती है। इससे हमारे पाँचों प्राणों का रक्षण होता है—पाँचों कर्मेन्द्रियों का मार्ग प्रशस्त बनाया जाता है और यह ज्ञानरश्मि हमें पाँचों क्लेशों से बचाती है।

भावार्थ—१. वेदवाणियों से स्तुत्य प्रभु २. दिव्य गुणों को पैदा करनेवाला व रोगों से न मरने देनेवाला सोम ३. प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करना तथा ४. पाँचों क्लेशों से बचानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हममें शक्ति का धारण करें व हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

त्रिवत्सो गौः

सु॒ब॒र्हिर॒ग्निः पू॑ष॒ण्वान्त्स्ती॒र्णब॑र्हि॒रम॑र्त्यः।
बृ॒ह॒ती छन्द॑ऽइ॒न्द्रियं त्रि॑व॒त्सो गौर्वयो॑ दधुः॥१५॥

१. स्वस्त्यात्रेय के लिए **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **सुबर्हिः**=(ओषधयो बर्हिः—ऐ० ५।२८) उत्तम ओषधियों का सेवन करनेवाला, **अग्निः**=उदरस्थ वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) जो **पूषण्वान्**=हमारा उत्तम पोषण करता है। वस्तुतः शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का बहुत कुछ निर्भर इस जाठराग्नि पर ही है। यदि इस जाठराग्नि को उत्तम सात्त्विक ओषधीय भोजन ही प्राप्त होते रहें तभी शरीर का उत्तम पोषण होता है। ३. **स्तीर्णबर्हिः**=(पशवो वै बर्हिः—ऐ० २।४ कामः पशुः, क्रोधः पशुः, स्तृ=to kill) नष्ट किये हैं काम-क्रोधादि पशु जिसने, ऐसा **अमर्त्यः**=विषयों के पीछे न मरनेवाला मनुष्य अथवा **स्तीर्ण**=बिछाई है **बर्हिः**=कुशा जिसने, ऐसा यज्ञवेदि पर कुशादि को बिछानेवाला **अमर्त्यः**=रोगों से न मरनेवाला यज्ञशील पुरुष, ४. **बृहती छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर बढ़ने की प्रबल भावना, तथा ५. **गौः**=वह ज्ञान की रश्मि जोकि **त्रिवत्सः**=(त्रीन् वदति) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' तीनों का ज्ञान देती है। इन तीनों को समझने पर हमारा जीवन-मार्ग निश्चय से प्रशस्त होता है और हम उत्कृष्ट जीवनवाले

बनकर अपनी शक्ति का ठीक रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—१. वानस्पतिक पौष्टिक भोजन २. वासना-विनाश व यज्ञशील जीवन ३. निरन्तर आगे बढ़ने की इच्छा, ४. प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान देनेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमारे जीवन को सशक्त व उत्कृष्ट बनाती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तुर्यवाड् गौः

दुरो॑ दे॒वीर्दिशो॑ म॒हीर्ब्र॒ह्मा दे॒वो बृह॒स्पतिः॑।

प॒ङ्क्तिश्छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं तु॒र्य्य॒वाड् गौर्वयो॑ दधुः॥१६॥

१. **देवीः**=उत्तम रूप से गति करनेवाले, अपने-अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाले **दुरः**='मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' आदि द्वार **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। 'मुख व पायु' का कार्य ठीक होने पर शरीर का स्वास्थ्य सिद्ध होता है तथा उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र का कार्य ठीक होने पर अध्यात्म-उन्नति व मानस स्वास्थ्य, अर्थात् उत्कृष्ट जीवन प्राप्त होता है। २. **मही दिशः**=ये महनीय दिशाएँ भी हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाती हैं। 'प्राची' (प्र अञ्च्) हमें आगे बढ़ने को कहती है तो प्रतीची (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार करने का संकेत करती है, **उदीची**=ऊपर उठाती है तो **अवाची**=(अव अञ्च्) नम्रता का उपदेश दे रही है। एवं, ये भावनाएँ निश्चितरूप से हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनाती हैं। ३. **ब्रह्मा देवः**=इस संसाररूपी क्रीड़ा को करनेवाला ब्रह्मदेव हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। 'ब्रह्म ही निर्माण करनेवाले हैं' उनके अनुकरण पर हम भी निर्माण करेंगे तो जीवन में आनन्द का अनुभव करेंगे। ४. **बृहस्पतिः**=देवताओं को भी ज्ञान देनेवाले ये बृहस्पति हैं, ब्रह्मणस्पति हैं, चारों वेदों का ज्ञान वहीं सुरक्षित है। वे प्रभु ही इस वेदज्ञान के उत्तम स्रोत हैं, उस प्रभु से हमारा मेल होता है तो यह ज्ञान हममें भी प्रवाहित होता है। इस ज्ञान से हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं और हमारी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती तथा हमारा जीवन उत्कृष्ट होता है। ५. **पंक्तिः छन्दः**=(पंक्तिरूर्ध्वादिक्—श० ८।३।१।१२) हमारी यह प्रबल इच्छा हो कि हम 'ऊर्ध्वा दिक्' को प्राप्त करनेवाले बनें। इसके अधिपति बनकर हम स्वयं बृहस्पति बन जाएँ। सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनने की प्रबल कामना हमारी भावनाओं को हीन नहीं बनने देती और इस प्रकार हमारी शक्ति क्षीण नहीं होती। ६. **गौः**=वह ज्ञानरश्मि भी हमारी शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का कारण बनती हैं जो **तुर्यवाट्**=तुर्य अवस्था का वहन करनेवाली होती है। 'जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति' से ऊपर समाधिजन्य तुरीयावस्था 'पूर्ण एकाग्रता' की अवस्था है। ज्ञान मनुष्य को इस अवस्था के अनुकूल बनाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर शक्ति के ह्रास व जीवन की हीनता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

भावार्थ—१. दिव्य गुणोंवाले मुख आदि द्वार २. महनीय संकेत देनेवाली दिशाएँ ३. निर्माण का कर्त्ता ब्रह्मदेव ४. देवगुरु बृहस्पति ५. ऊर्ध्वादिक् का आधिपत्य प्राप्त करने की इच्छा ६. और तुरीयावस्था (पूर्ण एकाग्रता) को प्राप्त करानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हममें इन्द्रियों की शक्ति को तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पष्ठवाड् गौः

उषे यह्वी सुपेशसा विश्वेदेवाऽअमर्त्याः।
त्रिष्टुप् छन्दऽइहेन्द्रियं पष्ठवाड् गौर्वयो दधुः॥१७॥

१. **यह्वी**=(महत्यौ) महिमा से सम्पन्न **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाली **उषे**=(द्विवचनाद् दिनं रात्रिं च—म०) दोनों सन्ध्याकाल (twilights) **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें। दोनों सन्ध्याकाल हमें 'सूर्य व चन्द्र' के मेल का ध्यान कराते हैं और बोध देते हैं कि तुम्हारा मस्तिष्क सूर्य के समान हो तो तुम्हारा हृदय चन्द्रमा के समान हो। सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान तथा चन्द्र के समान आह्लादमय मन दानों ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा ये दोनों जीवन को अत्यन्त सुन्दर रूप प्राप्त कराते हैं। २. **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण जो **अमर्त्याः**=मनुष्य को मृत्यु के मार्ग से बचाते हैं, ये भी 'इन्द्रिय और वयः' के धारण करानेवाले हैं। ३. **त्रिष्टुप् छन्दः**='काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की प्रबल इच्छा हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। इनके अतिरिक्त ४. **गौः**=ज्ञानरश्मि जो **पष्ठवाट्**=(पष्ठं भारं वहति—उ०) कार्यभार को धारण करती है। ज्ञान जो क्रिया को उत्तमता से करनेवाला होता है, वह मानव-जीवन को सशक्त व उत्तम बनाता है।

भावार्थ—जीवन को सूर्य व चन्द्र के समान बनाने का उपदेश देनेवाला उषःकाल २. विषयों के पीछे न मरने देनेवाले दिव्य गुण ३. 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने की प्रबल कामना तथा ४. कार्यभार को सुचारुरूपेण वहन करनेवाला ज्ञान हमारे जीवनों को सशक्त व उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अनड्वान् गौः

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा।
जगती छन्दऽइन्द्रियमनड्वान् गौर्वयो दधुः॥१८॥

१. 'स्वस्त्यात्रेय' के जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. प्रथम **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्या होतारा—ऐ० २।४) प्राणापान जो **भिषजा**=सब व्याधियों के चिकित्सक हैं और वस्तुतः व्याधियों को आने ही न देनेवाले हैं। ३. दूसरे स्थान में **इन्द्रेण सयुजा**=आत्मा के साथ मिलकर कार्य करनेवाले **युजा**=(परस्परेण युक्तौ) परस्पर जुड़े-से हुए ये मन और बुद्धि हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनानेवाले हैं। इनका उत्कर्ष ही जीवन का उत्कर्ष है। ४. **जगती छन्दः**=लोकहित की प्रबल भावना भी हमें भोगमय जीवन से ऊपर उठाने में बड़ी सहायक होती है। ५. वह **गौः**=ज्ञान की रश्मि भी हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाती है जो **अनड्वान्**=इस जीवन-शकट का वहन करती है। ज्ञान की रश्मि जीवन की गाड़ी को उसी प्रकार सुन्दरता से ले-चलती है जैसे बैल भार की गाड़ी को खैंच ले-चलता है।

भावार्थ—१. प्राणापान जो दैव्य=देव की ओर ले-जानेवाले हैं तथा होतारा=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं, सब इन्द्रियों को शक्ति देते हुए अपना कार्य करने में लगे रहते हैं। २. जीवात्मा के सदा के साथी मन व बुद्धि ३. लोकहित की प्रबल भावना ४.

जीवन की गाड़ी को उत्तमता से वहन करनेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमें सशक्त व सुन्दर जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

धेनुगौः

तिस्रऽइडा सरस्वती भारती मरुतो विशः।
विराट् छन्दऽइहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः॥१९॥

१. **इडा सरस्वती भारती तिस्रः**=श्रद्धा, ज्ञानाधिदेवता तथा वाणी—ये तीन, तथा २. **मरुतो विशः**=(मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति वा—नि० ११।१३) कम बोलनेवाले, परन्तु खूब कार्य करनेवाले, मनुष्य अपने उदाहरण से हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाएँ। ३. **विराट् छन्दः**=हमारे अन्दर भी **'मरुतो विशः'** की भाँति अपने जीवनों को विशिष्ट रूप से दीप्त बनाने की कामना हो। यह जीवनों को दीप्त बनाने की कामना हमें ऊँचा उठाती है। हम अपनी शक्ति को भोगविलास में नष्ट नहीं होने देते और इस प्रकार हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। ४. **धेनुः गौः न**=(नकारश्चार्थे—उ०) ज्ञान-दुग्ध का पान करानेवाली ज्ञान-रश्मियाँ **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को हममें **दधुः**=धारण करें। सारी अवनति का मूल अज्ञान है, ज्ञान से ही जीवन उन्नत होता है।

भावार्थ—१. श्रद्धा, ज्ञान व पवित्र वाणी २. मितभाषी पुरुष ३. विशेषरूप से चमकने की प्रबल कामना तथा ४. ज्ञानदुग्ध को पिलानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उक्षा गौः

त्वष्टा तुरीपोऽअद्भुतऽइन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना।
द्विपदा छन्दऽइन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः॥२०॥

१. हममें **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें। कौन? २. पहले तो **त्वष्टा**=(त्वष्टा तूर्णमश्नुते, त्विषतेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः—नि० ८।१४) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला, क्रियाशीलता के कारण चमकनेवाला तथा इसी क्रियाशीलता से बुद्धि को तीव्र (सूक्ष्म) करनेवाला, **तुरीः**=जो (तूर्णम् आप्नोति) शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, इसलिए **अद्भुतः**=आश्चर्यजनक व महान् होता है। यह व्यक्ति अपने उदाहरण से हममें भी शक्ति व उत्कृष्ट जीवन को स्थापित करे। ३. **पुष्टिवर्धना**=मेरे शरीर व आत्मा की पुष्टि के बढ़ानेवाले **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेव मुझे सशक्त व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ। 'इन्द्र' बल का प्रतीक होकर मुझे शारीरिक दृष्टिकोण से उन्नत करता है तो 'अग्नि' प्रकाश व दोषदहन का प्रतीक होकर मुझे अध्यात्म-उन्नति प्राप्त कराता है। मैं अपने जीवन में इन्द्र व अग्नि दोनों तत्त्वों को बढ़ानेवाला बनूँ। ४. **द्विपदा छन्दः**=(द्वे पद्यते ज्ञानं कर्म च) ज्ञान व कर्म दोनों को प्राप्त करने की कामना मुझे उत्कृष्ट जीवनवाला करे। हमारा जीवन यदि पक्षिरूप है तो ज्ञान और कर्म उसके दो पंख हैं। दोनों पंखों के ठीक होने पर ही हम ऊँचा उठ सकेंगे। ५. **न**=इन तीन के अतिरिक्त **उक्षा गौः**=सब सुखों का सिञ्चन करनेवाली ज्ञानरश्मियाँ (नकारश्चार्थे) हममें शक्ति व अविच्छिन्न कर्मतन्तुवाले जीवन को धारण करें।

संसार में सब कष्टों का मूल अविद्या है–विद्या ही सब सुखों का सिञ्चन करनेवाली है।

भावार्थ–१. क्रियाशीलता से दीप्त व महापुरुष २. बल व प्रकाश के तत्त्व ३. ज्ञान व कर्म दोनों के अपनाने की प्रबल कामना तथा ४. सुखों का सिञ्चक ज्ञान हमें सशक्त व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता–**विश्वेदेवाः**। छन्दः–**अनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**॥

वशा वेहत्

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम्।

ककुप् छन्दऽइहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः॥२१॥

१. **वनस्पतिः**=वानस्पतिक भोजन जो **नः शमिता**=हमारे मन को शान्त करनेवाला है, अर्थात् जिस वानस्पतिक भोजन के परिणामरूप हमारे जीवन में क्रोध आदि भावनाओं का प्राबल्य नहीं होता तथा २. **भगम् प्रसुवन्**=ऐश्वर्य को जन्म देनेवाली **सविता**=निर्माण की देवता, अर्थात् प्रतिक्षण निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने की भावना ३. **ककुप् छन्दः**=(ककुप्=summit) शिखर पर पहुँचने की इच्छा ४. **वशा**=सब इन्द्रियों को वश में करने की वृत्ति अथवा **वशा** वन्ध्या गौ=इस प्रकृति को अपने लिए वशा के समान समझना, अर्जित सब धन को परार्थ में विनियुक्त करना, **वेहद्**=(गर्भोपधतिनी) सब बुराइयों को मूल में ही (गर्भ में ही) नष्ट करने की वृत्ति (Nip the evil in the bud), ये सब बातें **इह**=हमारे मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें।

भावार्थ–इन्द्रियों की शक्ति के लिए तथा उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि हम १. शान्ति देनेवाले वानस्पतिक भोजन का प्रयोग करें। २. निर्माणात्मक कार्यों में लगने के द्वारा ऐश्वर्यवृद्धि करनेवाले हों। ३. हममें शिखर तक पहुँचने की प्रबल कामना हो। ४. इन्द्रियों को वश में करें, प्राकृतिक भोगों व धनों को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझें, हमारे ये सब कार्य परार्थ के लिए हों। ५. बुराइयों को हम मूल में ही विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता–**विद्वांसः**। छन्दः–**अनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**॥

ऋषभो गौः

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत्।

अतिच्छन्दाऽइन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः॥२२॥

१. **स्वाहा यज्ञम्**=(स्व+हा) स्वार्थ त्यागवाला यह यज्ञ तथा २. **सुक्षत्रः**=उत्तम क्षत–त्राणवाला, घावों से बचानेवाला **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **भेषजं करत्**=औषध का काम करती है, अर्थात् यज्ञ का करना और ईर्ष्या-द्वेषादि का अभाव ये मनुष्य को शारीरिक व मानस क्षतों से बचाते हैं। यज्ञ से सामान्यतः शरीर व्याधिशून्य होता है और द्वेषनिवारण से मन स्वस्थ होता है। ३. **अतिच्छन्दाः** =औरों को लांघ जाने की प्रबल भावना (अतीत्य गच्छति) तथा ४. **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि की कारणभूत **ऋषभः**=(ऋष गतौ) कर्म में प्रवृत्त करनेवाली **गौः**=ज्ञान की रश्मियाँ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ–इन्द्रियों की शक्ति तथा उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि १. हममें

स्वार्थ-त्यागरूप यज्ञ की भावना और मानस आघातों से बचानेवाला द्वेषाभाव=प्रेम प्राप्त हो २. हममें औरों को आगे लाँघ जाने की भावना हो। ३. हमें वह ज्ञानरश्मि प्राप्त हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने और हमें क्रियाशील बनाए।

ऋषिः-**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता-**रुद्राः**। छन्दः-**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः-**गान्धारः**॥

वसवः (वयो दधुः)

वसन्तेनऽऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२३॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को तथा **वयः** =उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **वसवः देवाः**=वसुदेव। चौबीस वर्षपर्यन्त आचार्य के समीप निवास करके उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले जो ज्ञान उनके निवास को उत्तम बनानेवाला है। ये वसुदेव ३. **वसन्तेन ऋतुना स्तुताः**=वसन्त ऋतु से स्तुत होते हैं, जैसे वसन्त ऋतु में चारों ओर फूल खिले होते हैं और सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार इनके जीवन में ज्ञान-विज्ञानों के पुष्प विकसित होकर इनके जीवन को सुन्दर बनाते हैं। ४. ये वसुदेव **त्रिवृता स्तुताः**=त्रिवृत से स्तुत होते हैं। (त्रिषु वर्तत्ते) 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों में समानरूप से वर्तने के कारण इनकी स्तुति होती है। ये धनप्रधान जीवनवाले होते हुए भी धर्मपूर्वक धन कमाते हैं और संसार के उचित आनन्दों को उस धन से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस धर्मार्थकाम तीनों में वर्तन के कारण ही ये ५. **रथन्तरेण तेजसा**=(युक्ताः) उस तेज से युक्त होते हैं जिस तेज के कारण ये शरीररूप रथ से इस 'अश्मन्वती नदी' (भवसागर) को तैर जाते हैं।

भावार्थ-'वसु' देव वे हैं जिनके जीवन में वसन्तऋतु के समान ज्ञान-विज्ञान के पुष्प खिले होते हैं, जो धर्मार्थकाम का समसेवन करते हैं, जो शरीररूप रथ से इस अश्मन्वती नदी को तैर जानेवाले तेज से युक्त होते हैं। ये 'वसु' देव इन्द्र में हवि व वयः का धारण करें, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष को त्यागपूर्वक खानेवाला व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः-**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता-**विश्वेदेवाः**। छन्दः-**अनुष्टुप्**। स्वरः-**गान्धारः**॥

रुद्राः

ग्रीष्मेणऽऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः।
बृहता यशसा बलꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२४॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **बलम्**=शक्ति को **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **रुद्राः देवाः**=(रुद्रदेव) जिन्होंने ४४ वर्षपर्यन्त आचार्यों के समीप रहकर उस ज्ञान को प्राप्त किया है जो ज्ञान उनको रुद्र बनाता है (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभुनाम स्मरण करते हुए यह वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला बनता है। ३. ये 'रुद्र' देव **ग्रीष्मेण ऋतुना स्तुताः**=ग्रीष्मऋतु से स्तुत होते हैं। जैसे ग्रीष्मऋतु प्रचण्ड सूर्य की किरणों से युक्त है, इसी प्रकार ये रुद्र ज्ञान की तीव्र किरणों से युक्त होते हैं। इन ज्ञान की किरणों की प्रचण्डता में मानस मल भस्मसात् हो जाते हैं और ये रुद्रदेव ४. **पञ्चदशे स्तुताः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों के पन्द्रह समूह के निमित्त स्तुत होते हैं। इनकी सब इन्द्रियाँ व प्राण ये सब खूब निर्मल व सशक्त होते हैं। ५. इस प्रकार अपने इस पञ्चदशक को सुन्दर बनाकर ये

बृहता यशसा=सदा बढ़ते हुए यश से युक्त होते हैं।

भावार्थ—रुद्रदेव वे हैं जिनके जीवन में ग्रीष्मऋतु का प्रचण्ड तेज विद्यमान है। इस तेजसे इनकी इन्द्रियाँ व प्राण निर्मल बने हैं और ये बड़े यशस्वी होते हैं। ये रुद्रदेव इन्द्र में बल, हवि (त्यागपूर्वक अदन) तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदित्याः

वर्षाभिर्ऋतुनादित्या स्तोमे सप्तदशे स्तुताः।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२५॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **आदित्या**=आदित्यदेव, जिन्होंने ४८ वर्षपर्यन्त आचार्यों के समीप रहकर सब आदान करने योग्य विज्ञानों व गुणों का ग्रहण किया है (आदानात् आदित्या) जैसेकि मेघ जल का आदान करते हैं। ३. अब ये आदित्य **वर्षाभिः ऋतुना** =वर्षाऋतु से **स्तुताः**=स्तुत होते हैं। वर्षाऋतु में मेघ चारों ओर जल की वृष्टि करके लोगों के सन्ताप को हरते हैं। ये आदित्यदेव भी चारों ओर ज्ञानजल की वर्षा करते हुए लोगों के कष्टों का निवारण करते हैं। ४. और **सप्तदशे स्तोमे स्तुताः**=सत्रह तत्त्वों से बने हुए समूह के निमित्त स्तुत होते हैं। ये सत्रह तत्त्वों से बना हुआ शरीर ही सूक्ष्मशरीर है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व मिलकर यह सूक्ष्मशरीर बना है। 'आदित्य' देव अपने इस सूक्ष्मशरीर के कारण निरन्तर प्रशंसित होते हैं। ५. इस सूक्ष्मशरीर को अच्छा बनाने के कारण ही ये आदित्य **वैरूपेण विशा ओजसा**=विशिष्ट रूपवाली सन्तान से और ओज से अथवा विशिष्ट रूपवाले तथा लोगों के हृदयों में प्रवेश करनेवाले, उनपर प्रभाव डालनेवाले तेज से युक्त होते हैं।

भावार्थ—आदित्यदेव वे हैं जो वर्षाऋतु के समान शान्ति देनेवाले ज्ञानजल को बरसाते हैं, सूक्ष्मशरीर को सुन्दर बनाने से स्तुत होते हैं और विशिष्ट रूपवाले प्राभाविक ओजसे युक्त हैं। ये इन्द्र में त्यागपूर्वक अदन की भावना को तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ऋभवः

शारदेनऽऋतुना देवाऽएकविꣳशऽऋभवं स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२६॥

१. **इन्द्रे**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष में **श्रियम्**=श्री को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **ऋभवः देवाः**=वे देव जो ऋभु नामवाले हैं (मेधाविनाम—नि० ३।१५, उरु भान्ति, ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा—नि० ११।१६) मेधावी हैं, ज्ञान-ज्योति से खूब चमकते हैं, ऋत से देदीप्यमान होते हैं अथवा सदा ऋत के साथ रहते हैं। ये देव ३. **शारदेन ऋतुना स्तुताः**=शरद् ऋतु से स्तुत होते हैं। जैसे शरद् ऋतु में ठीक प्रकार से अन्नों का परिपाक होता है, उसी प्रकार इन देवों में भी ज्ञान का परिपाक होता है। जैसे शरद् ऋतु में जल निर्मल हो जाता है, इसी प्रकार इनका मन भी निर्मल होता है। जैसे इस ऋतु में पत्ते शीर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार ये भी वासनाओं व रोगों को शीर्ण करनेवाले होते हैं।

४. ये देव **एकविंशे स्तुताः**='वे त्रिषप्ताः' मन्त्र के अनुसार शरीर को धारण करनेवाले इन इक्कीस बलों से युक्त होते हैं। इन इक्कीस शक्तियों के कारण इनकी सर्वत्र स्तुति होती है और ५. **वैराजेन श्रिया श्रियम्**=ये विशेषरूप से चमकनेवाली श्री से युक्त होते हैं। इनकी आकृति ही विशेषरूप से प्रभाव डालनेवाली होती है।

भावार्थ—ऋभुदेव वे हैं जोकि शरद् ऋतु के समान ज्ञानरूप अन्न के परिपाकवाले होते हैं, शरीर की इक्कीस-की-इक्कीस शक्तियों का विकास कर पाते हैं और विशिष्ट दीप्तिवाली श्री से युक्त होते हैं। ये इन्द्र में 'श्री हवि व वयस्, उत्कृष्ट जीवन' का धारण करें।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मरुतः

हेमन्तेनऽऋतुना देवास्त्रिणवे मरुत स्तुताः।
बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२७॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों की शक्ति का उपचय करके इन्द्र बननेवाले पुरुष में **सहः**=बल को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **मरुतः देवाः**=मरुत् देव। (मरुत् इति ऋत्विङ्नाम—नि०२।१९, मितराविणः, मरुद् द्रवन्ति—नि० ११।१३) जो ऋत्विज हैं, ऋतु-ऋतु में यजन करनेवाले हैं, कम बोलनेवाले हैं और खूब क्रियाशील हैं। ३. वस्तुतः इसी कारण **हेमन्तेन ऋतुना स्तुताः**=हेमन्त ऋतु से ये स्तुत होते हैं। हेमन्त ऋतु उपचय की ऋतु होती है। कम बोलने व खूब क्रियाशील होने से इन मरुतों की शक्ति का भी उपचय होता है। ४. इस प्रकार शक्ति के उपचय के कारण ये **त्रिणवे स्तुताः**=त्रिगुणित नौ, अर्थात् सत्ताईस से स्तुत होते हैं। शरीर में नवद्वार हैं **'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'**। ये नवद्वार कर्मोपासना व ज्ञानरूप व्यवहार में तीन प्रकार से प्रवृत्त होते हैं और 'त्रिणव' कहलाते हैं। उदाहरण के लिए हम मुख से शब्द बोलनारूप कर्म करते हैं, प्रणवजप द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं और ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से ज्ञान को बढ़ाते हैं। एवं, नवद्वार कर्मोपासना व ज्ञान में लगे होकर 'त्रिणव' हो जाते हैं। मरुत इन 'त्रिणव' के कारण प्रशंसनीय होते हैं। ५. और **बलेन शक्वरीः**=बल के साथ प्रत्येक अङ्ग को शक्तियुक्त करते हैं। वैदिक भाषा में ये 'शक्वरपृष्ठ' से युक्त होते हैं। इनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग कार्यभार को वहन करने में सशक्त होता है।

भावार्थ—मरुतदेव वे हैं जो हेमन्तऋतु की भाँति सब शक्तियों के उपचयवाले होते हैं, जिनके कर्मज्ञानोपासना में प्रवृत्त नवद्वार प्रशंसनीय होते हैं और जिनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बल से सशक्त बनता है। ये इन्द्र में 'बल, हवि व वयस्=उत्कृष्ट जीवन' को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अमृता देवाः

शैशिरेणऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिꣳशेऽमृता स्तुताः।
सत्येन रेवतीः क्षत्रꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२८॥

१. **इन्द्रे**=(इन्दवे द्रवति) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए गति करनेवाले इन्द्र में **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट

जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **अमृताः देवाः**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले और अतएव रोगों से आक्रान्त न होनेवाले देव। जो देव ३. **शैशिरेण ऋतुना**=(शम्नातेर्वा शृणातेर्वा—नि० २।१९) सब वासनाओं को शीर्ण करके शान्ति प्राप्त करके अपने जीवन में शिशिरऋतु को ला पाये हैं। ४. इस वासना की शीर्णता व शान्ति के कारण ही **त्रयस्त्रिंशे स्तुताः**=ये तेतीस दिव्य गुणों के निमित्त स्तुत हुए हैं। इनके मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक में ग्यारह-ग्यारह करके तेतीस देवों का निवास हुआ है और इस प्रकार इनका यह शरीर सचमुच 'देवानां पूः'=देवनगरी बन गया है। ५. ये अमृतदेव इस संसार में **सत्येन रेवतीः**=सत्य से रयिधनवाले हुए हैं। ये सदा सत्यमार्ग से धन का अर्जन करते हैं—'रेवती' होते हैं, वैदिक भाषा में 'रैवतपृष्ठ' से स्तुत होते हैं। इनका आधार निर्धनतावाला नहीं होता। इस धन के साथ सत्य को जोड़ने से ही वस्तुतः ये संसार में अमृत बने हैं।

भावार्थ—अमृतदेव वे हैं जो वासनाओं को शीर्ण करके शान्ति धारण से अपने जीवन में शिशिर ऋतु को लाये हैं, तेतीस दिव्य गुणों को धारण करनेवाले बने हैं और जिन्होंने सत्य से धन का अर्जन किया है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अग्न्यश्वीन्द्रसरस्वत्याद्या लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**।
स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-यजन

होता॑ यक्षत्स॒मिधा॒ग्निमि॒डस्प॒दे॒ऽश्विनेन्द्र॒ꣳसर॑स्वतीम॒जो धू॒म्रो न गो॒धू॒मैः कुव॑लैर्भेष॒जं मधु॒ शष्पै॒र्न तेज॑ऽइन्द्रि॒यं पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥२९॥

१. गतमन्त्रों में (२३ से २८ तक) हवि का आख्यान है। उस हवि के आख्यान से यह होता=दानपूर्वक अदन करनेवाला बना है। यह **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **इडस्पदे**=(इडा=श्रद्धा अथवा वेदवाणी) श्रद्धा अथवा वेदवाणी के मार्ग में, अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदमार्ग पर चलता हुआ **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। केवल प्रभु को ही नहीं, **अश्विना**=प्राणापान को, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली आत्मतत्त्व को तथा **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता को भी अपने साथ सङ्गत करता है। दानपूर्वक अदन से और इसके साथ ज्ञान की दीप्ति व श्रद्धा को अपनाने से हम प्रभु को, प्राणापान को, इन्द्रतत्त्व—आत्मिक शक्ति को तथा ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करते हैं। ३. अब हम **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों के प्रयोग से तथा **कुवलैः**=(कु-वल) पृथिवी पर संचरणों से, अर्थात् व्यायामों से **अजः धूम्रः न**=अज अर्थात् गतिशीलता से बुराइयों को दूर फेंकनेवाले होते हैं। (अज गतिक्षेपणयोः, न=च) और (धूञ् कम्पने) वासनाओं को अपने से कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। वस्तुतः गोधूमादि वानस्पतिक भोजन व उचित व्यायाम शारीरिक व मानस स्वस्थ के लिए आवश्यक हैं। ३. इस प्रकार वानस्पतिक भोजन व व्यायाम का उचित मिश्रण होने पर **मधु**=शहद **भेषजम्**=हमारा औषध हो जाता है। शहद का औषध के रूप में हम प्रयोग करते हैं। ४. **शष्पैर्न**=और (न=च) शष्पों से, अर्थात् इन वानस्पतिक भोजनों से हमें **तेजः इन्द्रियम्**=तेजस्विता व इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त होती है, ५. अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **पयः**=दूध **सोमः**=सोमलता का रस **परिस्रुता**=निचोड़े जानेवाले फलों के रस के साथ **घृतम्**=घृत और **मधु**=शहद—ये

सब पदार्थ **व्यन्तु**=हमें विशेषरूप से प्राप्त हों। (परितः—सर्वतः स्रुता—द०) हम घृतादि पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें। ६. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू घृतादि का भक्षण तो कर, परन्तु **आज्यस्य यज**=इस घृत का तू यज्ञ भी करनेवाला हो। इन पदार्थों को खा, परन्तु हवन अधिक कर। 'सब स्वयं खा जाना' जहाँ मानस विकारों को पैदा करता है वहाँ शरीर के रोगों का भी कारण हो जाता है।

भावार्थ—होता पुरुष श्रद्धा व ज्ञान को अपनाकर 'प्रभु, प्राणापान, इन्द्रशक्ति व विद्या' को अपने साथ जोड़ता है। वानस्पतिक भोजनों व व्यायामों से सब बुराइयों को दूर भगानेवाला 'अजधूम्र' बनता है। शहद इसका औषध होता है। शष्प=वानस्पतिक भोजन इसे तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनाते हैं। यह 'दूध-सोमरस-फलों का रस, घृत व मधु' को भोज्यद्रव्यों के रूप में प्राप्त करता है और घृतादि से हवन अवश्य करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सरस्वती यजन

होता॑ यक्षत्तनूनपा॑त्सर॑स्वतीमविर्मे॒षो न भे॑षजं प॒था मधु॑मता॒ भर॑न्नश्विनेन्द्रा॑य वी॒र्यं॑ बद॑रैरुप॒वाका॑भिर्भे॒षजं तोक्म॑भिः पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥३०॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला अतएव **तनूनपात्**=शरीर को न गिरने देनेवाला, शरीर को रोगों का शिकार न होने देनेवाला **सरस्वतीम्**=ज्ञानाधिदेवता को, ज्ञान की वाणी को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्यागपूर्वक अदन से बुद्धि शुद्ध होती है और ज्ञान बढ़ता है। २. यह **होता अविः**=कामादि शत्रुओं से अपनी रक्षा करनेवाला होता है, **न**=और (न=च) **मेषः**=(मिष् to evulate, to contend, to rival)। यह उत्तमता के मार्ग में स्पर्धावाला होता है। 'अति समं क्राम' के उपदेश को सदा क्रियान्वित करता हुआ बराबरवालों को लाँघ जाने के लिए यत्नशील होता है। ३. यह **मधुमता पथा**=माधुर्यमय मार्ग से **भेषजं भरत्**=औषध का भरण करनेवाला होता है। मधुर मार्ग से चलने के कारण यह ईर्ष्यादि दुर्भावनाओं से पैदा होनेवाले विकारों से बचा रहता है। ४. ऐसी स्थिति में **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **वीर्यम्**=शक्ति प्राप्त कराते हैं और **बदरैः**=बेरों से **उपवाकाभिः**=इन्द्रयवों से तथा **तोक्मभिः** =अंकुरित यवों से **भेषजम्**=औषध को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये बदर व यव आदि ही उत्तम औषध हो जाते हैं। ५. अब हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु (शहद) **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ६. प्रभु कहते हैं कि **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का हवन भी कर। खाना तो सही, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करना।

भावार्थ—होता शरीर का रक्षक होता है, सरस्वती को अपनाता है, वासनाओं से अपना रक्षक तथा उत्तमताओं में स्पर्धावाला होता है। माधुर्यमय मार्ग से चलना ही इसके लिए औषध हो जाता है। प्राणापान इसे वीर्यवान् बनाते हैं। बेर, इन्द्रयव व भुने चावल व जौ ही इसके लिए उत्तमौषध होते हैं। यह दूध, घृत आदि का सेवन करता है, परन्तु खाने से अधिक यज्ञ करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

नराशंस-यजन

होता यक्षन्नराशꣳसं न नग्नहुं पतिꣳसुरया भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्रथो न चन्द्र्यश्विनोर्वपाऽइन्द्रस्य वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३१॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला प्रभु को अपने साथ **यक्षत्**=सङ्गत करता है जो प्रभु **नराशंसम्**=(नरैः=आशंस्यते) समन्तात् मनुष्यों से स्तुति किये जाते हैं **'यस्य विश्व उपासते'**—सभी जिसकी उपासना करते हैं। **न**=(च) और **नग्नहुम्**=स्वयं कुछ भी धारण न करते हुए सब-कुछ देनेवाले हैं, **पतिम्**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। २. यह होता प्रभु से मेल करके प्रभु की भाँति ही 'नराशंस-नग्नहु व पति' बनने का प्रयत्न करता है। **मेषः**=उत्तमता से स्पर्धा करनेवाला बनकर **सुरया**=(सुर् to govern) आत्मनियन्त्रण से **भेषजम्**=औषध को प्राप्त कर लेता है। आत्मनियन्त्रण से सुरक्षित वीर्य ही इसके लिए औषध का काम करता है। ३. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता ही **भिषक्**=इसके लिए वैद्य बन जाती है। ज्ञानी होकर सब वस्तुओं का यह ठीक प्रयोग करता है और रोगों से बचा रहता है। ४. **न**=और सरस्वती के वैद्य होने पर **रथः**=इसका यह शरीररूप रथ **चन्द्री**=सदा प्रसन्नतावाला होता है। अथवा 'चन्द्रमिति हिरण्यनाम' चन्द्र का अभिप्राय है 'सोना'। इसका शरीररूप रथ सुवर्ण की भाँति देदीप्यमान होता है। इसमें **अश्विनोः वपा**=प्राणापान का वपन होता है, प्राणापान बोये जाते हैं, अर्थात् प्राणापान-शक्ति सुदृढ़ होती है और **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **वीर्यम्**=वीर्य इसमें होता है। ५. **बदरैः**=बेरों से **उपवाकाभिः**=इन्द्रयवों से और **तोक्मभिः** =अंकुरितयवों से **भेषजम्**=इसको औषध प्राप्त हो जाता है। इन सामान्य वस्तुओं के अन्दर भी विज्ञानपूर्वक प्रयोग से वह औषधों को पा लेता है। ६. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ७. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन करनेवाला हो। घृत का सेवन भी कर, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता सर्वस्तुत्य प्रभु का अपने से मेल करता है। आत्मनियन्त्रण से वह रोगों का प्रतीकार करनेवाला होता है। ज्ञान ही इसका वैद्य होता है। इसका शरीर-रथ सुवर्ण के समान देदीप्यमान होता है, इसमें प्राणापानशक्ति दृढ़ होती है। यह वीर्यवान् होता है। बेर, यव आदि इसके भेषज हो जाते हैं। यह दूध आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**सरस्वत्यादयः**। छन्दः—**विराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

इडा-यजन

होता यक्षदिडेडितऽआजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रं बलेन वर्धयन्नृषभेण गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **ईडितः**=(ईडितम् अस्य अस्तीति) उपासनावाला होकर **इडा**=(इडाम्—म०) इडा को, श्रद्धा को व प्रशंसित ज्ञानवाणी को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है। २. श्रद्धा व ज्ञानवाणियों से यह **सरस्वतीम् आजुह्वानः**=सरस्वती को अपने में

पुकार रहा होता है और सरस्वती का आराधन करके अपने ज्ञान को बढ़ा रहा होता है। ३. यह **बलेन**=बल के धारण से **इन्द्रम्**=प्रभु को **वर्धयन्**=बढ़ाता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=बलहीन से आत्मतत्त्व अप्राप्य है, यह सबल होकर उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। ४. **ऋषभेण**=(ऋष गतौ, गन्तुं योग्येन—द०) क्रिया में परिणत होनेवाले **गवा**=(गमयन्ति अर्थम्) वेदज्ञान से यह **इन्द्रियम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को **वर्धयन्**=बढ़ाता है। गति कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है और ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों को। ५. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भेषजम्**=औषध होते हैं। ६. **यवैः**=जौ के साथ तथा **कर्कन्धुभिः**=बेरों के साथ **मधु**=शहद **न**=और **लाजैः**=लाजाओं के साथ, अक्षत धान्यों के साथ **मासरम्**=ओदन=भात। ये इन्द्र के लिए भेषज हो जाते हैं। ७. यह इन्द्र प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद ये वस्तुएँ **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ८. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=इस घृत का सेवन भी कर, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता श्रद्धा व ज्ञान की वाणी का अपने साथ मेल करता है। यह सरस्वती की आराधना करता है। बल से आत्मतत्त्व का वर्धन करता है, गति व ज्ञान-प्राप्ति से ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सशक्त करता है। प्राणापान इसके लिए वैद्य हो जाते हैं। 'बेर, यव, मधु, लाजा व मासर' आदि पदार्थ इसके लिए भेषज का काम करते हैं। यह होता घृतादि का सेवन करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

बर्हिर्यजन

होता यक्षद् बर्हिरूर्णम्रदा भिषङ् नासत्या भिषजाश्विनाश्वा शिशुमती भिषग्धेनुः सरस्वती भिषग्दुहऽइन्द्राय भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्णं=आच्छादकं=वृत्रं मृद्नाति) ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का विनाश करनेवाला बनकर, कामादि वासनाओं को नष्ट करके **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, ऐसे वासनाशून्य हृदय का **यक्षत्**=अपने साथ सङ्ग (मेल) करता है। यह ऊर्णम्रदा**: भिषज्**=स्वयं अपना वैद्य होता है। २. ऐसा होने पर **नासत्या**=ये नासिका में होनेवाले **अश्विना**=प्राणापान भी **भिषजा**=इसके वैद्य बनते हैं, अर्थात् वासनाओं का विनाश करना ही वैद्य बनना है। वासनाओं का विनाश होने पर ही प्राणापान वैद्य होते हैं। वासनामय जीवन में प्राणापान की शक्ति क्षीण हो जाती है। उन्होंने रोगों को क्या दूर करना? ३. प्राणापान के वैद्य के रूप में होने पर एक गृहिणी **अश्वा**=सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त, सबल व **शिशुमती**=उत्तम सन्तानोंवाली होती है। ४. इस गृहिणी के लिए **धेनुः**=घर में रखी हुई गौ **भिषक्**=वैद्य हो जाती है, क्योंकि गोदुग्ध शरीर को ही नहीं मन व बुद्धि को भी नीरोग करता है। ५. इसके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता भी **भिषक्**=वैद्य होती है। ज्ञानपूर्वक किया गया वस्तुओं का उपयोग रोगों को नहीं आने देता। ये वैद्यभूता सरस्वती **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भेषजं दुहे**=औषध को दुहती है, प्राप्त कराती है। अजितेन्द्रिय के लिए औषध का कोई लाभ नहीं। ६. यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत व शहद **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ७. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन

करनेवाले! तू **आज्यस्य**=घृत का **यज**=यजन कर। खा भी, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता वृत्र को कुचलकर, पवित्र हृदय को अपने साथ सङ्गत करता है। इसके लिए प्राणापान वैद्य होते हैं। इन वैद्योंवाली माता कर्मों में व्याप्त व उत्तम सन्तानवाली होती है। इनके लिए गौ तथा ज्ञानाधिदेवता वैद्य हो जाते हैं। हम जितेन्द्रिय बनकर दूध आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करें। घृत आदि को खाएँ, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

द्वार-यजन

होता यक्षद्दुरो दिशः कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशऽइन्द्रो न रोदसी दुघे दुहे धेनुः सरस्वत्यश्विनेन्द्राय भेषजꣳशुक्रं न ज्योतिरिन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३४॥

१. यह शरीर मुखादि नौ द्वारोंवाला है (दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, मुख, पायु, उपस्थ)। इन द्वारों में नाभि व ब्रह्मरन्ध्र को मिलाकर ११ द्वार हो जाते हैं। **दुरः**=इन सब-के-सब द्वारों को **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। ये द्वार **दिशः**=एक विशिष्ट उपदेश को लिये हुए हैं। कानों ने ज्ञान की वाणियों को सुनने का निश्चय किया तो आँखों ने प्रकृति की शोभा में प्रभु की महिमा को देखने का निश्चय किया। एवं, प्रत्येक इन्द्रियद्वार की अपनी-अपनी एक दिशा है। **कवष्यः**=(कवषः= shield) जो द्वार इस शरीर की रक्षा के लिए ढालरूप हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर को रोगादि के आक्रमण से बचाता है **न**=और ये द्वार **व्यचस्वतीः**=अपनी-अपनी शक्तियों के विस्तारवाले हैं। २. **न**=और **दुरः**=ये द्वार **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा **दिशः**=अपनी विशिष्ट दिशा में कार्य करनेवाले होते हैं। ३. प्रत्येक इन्द्रियद्वार का ठीक प्रयोग करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का **दुघे**=पूरण करता है। ४. **न**=और **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **धेनुः**=गौ **भेषजम्**=सब रोगों के औषध को **दुहे**=दुहती है, अर्थात् गोदुग्ध इसके रोगों का इलाज होता है **न**=और **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता इसके लिए **शुक्रं ज्योतिः**=शुद्ध व क्रियाशील बनानेवाला (शुच् दीप्तौ, शुक् गतौ) ज्ञान दुहती है तथा **अश्विना**=प्राणापान इसके लिए **इन्द्रियम्** =इन्द्रियों की शक्ति को दुहते हैं। ५. यह इन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घी और शहद मुझे **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ६. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**= दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन कर।

भावार्थ—हम होता बनकर इस नगरी के सब द्वारों को अपनी-अपनी विशिष्ट दिशा में कार्य करनेवाला बनाएँ। ये द्वार हमारे लिए ढालरूप हों, विस्तृत शक्तियोंवाले हों। हम मस्तिष्क व शरीर दोनों का पूरण करें। हमें दूध आदि पदार्थ प्राप्त हों। उन पदार्थों का हम सेवन करें, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

उषा-यजन

होता यक्षत्सुपेशसोषे नक्तं दिवाश्विना समञ्जाते सरस्वत्या त्विषिमिन्द्रे न भेषजꣳश्येनो न रजसा हृदा श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३५॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सुपेशसा**=उत्तम रूप का निर्माण करनेवाली **उषे**=उषःकालों को, प्रातः तथा सायं की सन्धिभूत उषाओं को, **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। इन उषाओं में सूर्य अस्त हो रहा होता है तो चन्द्र उदय होता है, चन्द्र अस्त हो रहा होता है तो सूर्य का उदय हो रहा होता है। एवं, इन उषःकालों में दोनों प्रकाश होते हैं, इससे इन्हें इंग्लिश में twilight यह नाम दिया गया है। ये दोनों काल मनुष्य को यह उपदेश देते हैं कि तूने मस्तिष्क में सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त बनना तथा मन में चन्द्र की भाँति आह्लादमय होना। २. इस होता को **अश्विना**=प्राणापान **नक्तं दिवा**=रात-दिन **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। ३. **न**=और बुद्धि की तीव्रता के द्वारा **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **त्विषिम्**=ज्ञानदीप्ति को ही **भेषजम्**=औषधरूप से करते हैं। ४. ये प्राणापान इस इन्द्र को **श्येनः न**=तीव्र गतिवाले श्येनपक्षी की भाँति **रजसा**=कर्म में (रजः कर्मणि) अलंकृत करते हैं। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। वासनारूप पक्षियों का शिकार करता ही रहता है। इस शिकार के लिए निरन्तर क्रियाशीलता आवश्यक है। ५. निरन्तर क्रियाशीलता के होने पर **हृदा**=हृदय से **श्रिया न**=(न=च) शोभा के साथ **मासरम्**=प्रत्येक मास में रमण की (मासेषु रमते) वृत्ति को धारण करता है। इसका हृदय श्रीसम्पन्न व आनन्दयुक्त होता है।, इसी से इसे सब मासों व ऋतुओं में आनन्द अनुभव होता है। ६. यह हृदय से श्री को धारण करनेवाला चाहता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घी और शहद **व्यन्तु**=मुझे प्राप्त हों।' ७. प्रभु इसे उपदेश देते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक उपभोक्तः! तू **आज्यस्य**=घृत का **यज**=यजन कर। खा, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—उषःकाल होता को सूर्य के समान दीप्त व चन्द्र के समान प्रसन्न बनाते हैं। प्राणापान इसे सदा सरस्वती से अलंकृत करते हैं। ज्ञानदीप्ति इनके लिए भेषज बन जाती है। यह श्येनपक्षी की भाँति क्रियाशील होता है। हृदय में श्री को धारण करता हुआ प्रत्येक ऋतु व मास में आनन्द का अनुभव करता है। यह दूध आदि उत्तम पदार्थों का ही सेवन करता है। इन पदार्थों का सेवन करता हुआ अग्निहोत्र अधिक करता है, इसीलिए इसका 'होता' नाम सार्थक होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

दैव्य होतृ-यजन

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजाश्विनेन्द्रं न जागृवि दिवा नक्तं न भेषजैः शूषꣳसरस्वती भिषक्सीसेन दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=(अयं चाग्निरसौ च मध्यमः—नि० ७।३०) अग्नि और वायुतत्त्व को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। अग्नितत्त्व इसके मलों को भस्म करनेवाला तथा प्रकाश प्राप्त करानेवाला है, और वायुतत्त्व इसके बल का कारण बनता है। २. वह होता **अश्विना**=प्राणापान को भी अपने साथ सङ्गत करता है जो प्राणापान **भिषजा** =इसके वैद्य होते हैं। ३. **न**=और यह होता **जागृवि इन्द्रम्**=जागरणशील, सदा अप्रमत्त आत्मा को अपने साथ सङ्गत करता है। ४. **न**=और वह होता **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **भेषजैः**=रोगनिवर्तनों के द्वारा **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को अपने साथ सङ्गत करता है। रोग ही बल का क्षय करते हैं। ५. **सरस्वती भिषक्**=यह ज्ञानाधिदेवतारूप वैद्य **सीसेन**=नागभस्म द्वारा **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्तियों को **दुहे**=पूरित करती है। ६. **पयः सोमः**=दूध

व सोमलता का रस तथा **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद को **व्यन्तु**=प्राप्त हों, परन्तु हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का हवन करनेवाला बन।

भावार्थ—होता अपने साथ अग्नि तथा वायुतत्त्व को, वैद्यभूत प्राणापान को, सदा अप्रमत्त आत्मतत्त्व को, दिन-रात रोगनिवारणों के साथ बल को सङ्गत करता है और ज्ञानाधिदेवता नागभस्मादि धातु निर्मित ओषधियों से शक्ति को पूरित करती है। दूध आदि पदार्थों को यह प्राप्त करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

तिस्रो देवीर्यजन

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती वाचा सरस्वती महऽइन्द्राय दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३७॥

१. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रः देवीः**='इडा, सरस्वती, भारती'=श्रद्धा, ज्ञान व वाणी—इन तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। **न भेषजम्**=और अपने साथ औषध को सङ्गत करता है। **इडा**=श्रद्धा मन के दोषों को दूर करके मानस आरोग्य प्राप्त कराती है, सरस्वती मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करके मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है तथा भारती सब इन्द्रियों के भरण का कारण बनती है। ३. **त्रयः**=तीन **त्रिधातवः**=प्राणमयकोश, मनोमयकोश तथा विज्ञानमयकोश का धारण करनेवाले **अपसः**=कर्मशील **अश्विना**=प्राणापान **इडा**=श्रद्धा **न**=और **भारती वाचा**=(ज्ञान की वाणी) **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय स्वर्ण के समान देदीप्यमान **रूपम्**=रूप को धारण करते हैं। प्राणापान 'प्राणमयकोश' को दीप्त करते हैं तो श्रद्धा 'मनोमयकोश' को पूर्ण स्वस्थ करके दीप्त करती है और ज्ञान की वाणी मस्तिष्क की नीरोगता का कारण बनती है। ३. **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के साथ **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **महः**=तेजस्विता को तथा **इन्द्रियम्**=इन्द्रियशक्तियों को **दुहे**=पूरित करती है। ज्ञान वासनाओं को विनष्ट करता है, वासना-विनाश से जीवन भोगप्रवण नहीं होता। भोग ही वस्तुतः शक्ति को व इन्द्रियों के तेज को क्षीण करते हैं। ४. यह भोगों से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति प्रार्थना करता है कि मुझे **पयः सोमः**=दूध, सोमरस **परिस्रुता घृतं मधु**=फलों के रस के साथ घी और शहद आदि उत्तम पदार्थ ही **व्यन्तु**=प्राप्त होते हैं। ५. इस प्रार्थी को प्रभु प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **आज्यस्य यज**=तू घृत का यजन करनेवाला बन। यह अग्नि में डाला हुआ घृत तेरा अधिक कल्याण करेगा।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनकर 'इडा, सरस्वती, भारती' रूप तीनों देवियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करें। ये तीनों 'मन, मस्तिष्क व शरीर' में हमारा धारण करनेवाली हैं। हमें दूध आदि उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त हों। हम यज्ञों में उनका विनियोग करते हुए यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिक्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

सुरेतसः यजन

होता यक्षत्सुरेतसमृषभं नर्यापसं त्वष्टारमिन्द्रमश्विना भिषजं न सरस्वतीमोजो न जूतिरिन्द्रियं वृको न रभसो भिषग्यशः सुरया भेषजꣳश्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३८॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=सङ्गत करता है। किसको? **सुरेतसम्**=उत्तम रेतस्वाले को, उत्तम वीर्यशक्तिवाले को और अतएव **ऋषभम्**=(ऋष गतौ) गतिशील को, **नर्यापसम्**=सदा नरहितकारी कर्म करनेवाले को, और **त्वष्टारम्**=देवशिल्पी को, अर्थात् अपने जीवन में दिव्य गुणों के निर्माण करनेवाले को, अर्थात् जो होता बनता है वह अपने जीवन में उत्तम वीर्य की रक्षा करनेवाला, गतिशील, नरहितकारी कार्यों में तत्पर तथा दिव्य गुणों का निर्माता बनता है। २. यह होता **इन्द्रम्**=इन्द्र को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, अर्थात् जितेन्द्रिय बनता है और इस जितेन्द्रियता के द्वारा बढ़ी हुई प्राणापान शक्तिवाला होता है। ३. यह होता **भिषजं न सरस्वतीम्**=उस ज्ञानाधिदेवता को भी अपने साथ सङ्गत करता है जो ज्ञानाधिदेवता उसके लिए वैद्य सिद्ध होती है। उसके सब रोगों का इलाज हो जाती है। वस्तुत: अविद्या सब क्लेशों का उत्पत्ति-क्षेत्र है तो विद्या सब क्लेशों को दूर करनेवाली है। ४. यह होता **ओज:**=ओजस्विता को **न**=(न=च) तथा **जूति:**=क्रियाशीलता को **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है। ५. यह होता **वृक:**=(वृक आदाने) उत्तम गुणों का आदान करनेवाला **न**=और **रभस:**=शक्तिशाली (Robust) तथा **भिषक्**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाला बनकर **यश:**=यश को, **सुरया**=आत्मशासन के द्वारा **भेषजम्**=सब रोगों के प्रतीकार को, **न**=और **श्रिया**=श्री के साथ, शोभा के साथ **मासरम्**=सब मासों में रमण-आनन्द की भावना को अपने साथ सङ्गत करता है और ६. यही चाहता है कि **पय: सोम:**=दूध और सोमरस तथा **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु **व्यन्तु**=उसे प्राप्त हों। ७. इस प्रार्थना करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि हे **होत:**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य**=इस घृत का **यज**=यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—होता पुरुष उत्तम वीर्यवाला, गतिशील, नरहितकारी कर्मों में लगा हुआ होता है। यह दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु इस बात का ध्यान रखता है कि इन घृत आदि भोज्य पदार्थों से वह अग्निहोत्र अवश्य करता रहे।

ऋषि:—**स्वस्त्यात्रेय:**। देवता—**अश्व्यादय:**। छन्द:—**निचृदत्यष्टि:**। स्वर:—**गान्धार:**॥

वनस्पति-यजन

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुं भीमं न मन्युꣳराजानं व्याघ्रं नमसाश्विना भामꣳसरस्वती भिषगिन्द्राय दुहऽइन्द्रियं पय: सोम: परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥३९॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **वनस्पतिम्**=ज्ञान की किरणों के पति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, अर्थात् ज्ञान की किरणों का पति बनता है। **शमितारम्**=शान्त वृत्तिवाले को अपने साथ सङ्गत करता है। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञावाले को अथवा सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय जीवनवाले को **न**=तथा **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर को, **मन्युम्**=विचारशील को, **राजानम्**=बड़े व्यवस्थित जीवनवाले को, **व्याघ्रम्**=(वि आ जिघ्रति) विविध विज्ञानों की समन्तत: गन्ध ग्रहण करनेवाले को, अर्थात् यह होता अपने जीवन को उल्लिखित गुणों से युक्त बनाता है। २. **नमसा**=नम्रता के द्वारा तथा परमेश्वर के प्रति नमन के द्वारा **अश्विना**=यह अपने साथ प्राणापान को तथा **भामम्**=तेजस्विता को सङ्गत करता है। वस्तुत: विनीतता से

प्राणशक्ति व तेज की वृद्धि होती है। अभिमान व अक्खड़पन से प्राणशक्ति व तेजस्विता की हानि ही होती है। ३. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **भिषक्**=इस होता के लिए वैद्य होती है और **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियम् दुहे**=इन्द्रियों की शक्ति का पूरण करती है। ४. यह जितेन्द्रिय पुरुष चाहता है कि उसे **पयः सोमः**=दूध, सोमरस **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ५. इस जितेन्द्रिय पुरुष से प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन कर। घृत को खा भी, परन्तु अग्निहोत्र करना न भूल। यही बात तुझे 'होता' बनाएगी।

भावार्थ—होता पुरुष ज्ञान की किरणों का पति, शान्त, अनन्त प्रज्ञानवाला व यज्ञशील, शत्रुओं के लिए भयंकर, विचारशील, व्यवस्थित जीवनवाला व व्यापक ज्ञानवाला बनता है। यह नम्रता के द्वारा प्राणापान व तेजस्विता को धारण करता है। ज्ञानाधिदेवता इसे इन्द्रियों की शक्ति से पूर्ण करती है। इसे दूध आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह उनका यज्ञशेष के रूप में सेवन करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**विराडत्यष्टिः**[क], **अत्यष्टिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि-यजन

[क]होता यक्षदग्निꣳस्वाहाज्यस्य स्तोकानाꣳस्वाहा मेदसां पृथक् स्वाहा छागमश्विभ्याꣳस्वाहा मेषꣳसरस्वत्यै स्वाहऽऋषभमिन्द्राय सिꣳहाय सहसऽइन्द्रियꣳस्वाहाग्निं न भेषजꣳस्वाहा सोममिन्द्रियꣳ[र]स्वाहेन्द्रꣳसुत्रामाणꣳसवितारं वरुणं भिषजां पतिꣳस्वाहा वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजꣳस्वाहा देवाऽआज्यपा जुषाणोऽअग्निर्भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥४०॥

१. **होता**=यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाला व्यक्ति **अग्निं यक्षत्**=अग्नि का यजन करता है, अर्थात् अग्निहोत्र करता है। इस अग्निहोत्र के लिए वह **स्वाहा**=(स्व+हा) अपने धन व स्वार्थ का त्याग करता है, सारा स्वयं ही नहीं खा लेता। २. यह अग्निहोत्र के समय अग्नि में **आज्यस्य स्तोकानां स्वाहा**=घृत के कणों की आहुति देता है और **मेदसां पृथक् स्वाहा**=विविध ओषधियों के **मेदस्**=गूदे की अलग-अलग आहुति देता है। उदाहरणार्थ **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के उद्देश्यसे होनेवाले यज्ञ में **छागं स्वाहा**=अजमोद ओषधि के मेदस् की आहुति देता है। **सरस्वत्यै** =ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषं स्वाहा**=मेढ़ासिंगी ओषधि के गूदे की आहुति देता है। **इन्द्राय**=इन्द्र की शक्ति के विकास के लिए **सिंहाय**=सिंह के समान शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बनने के लिए तथा **सहसे**=अत्यन्त बलवान्, बलरूप बनने के लिए **भेषजं स्वाहा**=ऋषभक ओषधि के मेदस् की आहुति देता है। (मेदस् वह भाग है जिसमें medicinal=ओषध के गुण प्रचुर मात्रा में निहित होते हैं।) ३. **इन्द्रियं स्वाहा**=इस स्वाहा की क्रिया से, अर्थात् अग्निहोत्र से यह होता **इन्द्रियं यक्षत्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है। ४. **अग्निं न भेषजं स्वाहा**=(न=च) और इस अग्निहोत्र से उस अग्नि को अपने साथ सङ्गत करता है जो उसके लिए औषध के समान होता है। ५. **सोमम् इन्द्रियं स्वाहा**=इस यज्ञक्रिया से यह उस सोम को, वीर्य को, अपने साथ सङ्गत करता है जो सोम इसकी इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है। ६. **स्वाहा**=इस स्वार्थत्यागरूप यज्ञ की क्रिया से यह **इन्द्रम्**=उस

आत्मशक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है जो आत्मशक्ति **सुत्रामाणम्**=बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करती है और इस मानव-जीवन को रोगों व वासनाओं का शिकार नहीं होने देती। **सवितारम्**=यह अपने साथ सविता=निर्माण की देवता को सङ्गत करता है जो निर्माण की देवता **वरुणम्**=वरुण है, सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाली है और **भिषजां पतिम्**=सबसे मुख्य वैद्य है। मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में लगे हों तो जहाँ वे परस्पर द्वेष नहीं करते वहाँ नाना प्रकार के रोगों के शिकार भी नहीं होते। द्वेष व रोग आलसियों को ही अपना शिकार बनाते हैं। ७. **स्वाहा**=यज्ञक्रिया से यह होता **वनस्पतिम्**=वनस्पति को अपने साथ सङ्गत करता है जो वनस्पति **प्रियं पाथः**=बड़ा तृप्तिकारक व कमनीय अन्न होता है (पाथः=शरीररक्षक अन्न) **न**=और **भेषजम्**=औषध होता है। ८. **देवाः**=देव लोग **आज्यपाः**=घृत का पान करनेवाले होते हैं, वे घृत का सेवन करते हैं। यह घृत का विधिवत् प्रयोग उनके मलों का क्षरण करनेवाला होता है और उनके ज्ञान को दीप्त करता है। ९. **जुषाणः अग्निः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता हुआ अग्निः **भेषजम्**=औषध होता है। अग्निहोत्र सब रोगों को दूर करनेवाला होता है। १०. यह होता प्रार्थना करता है कि **पयः सोमः**=दूध व सोमरस **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ११. प्रभु इस होता से कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन करनेवाला बन। खा, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता पुरुष प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, अग्नि में घृत के कणों को डालता है और साथ ही प्राणापान के लिए अजमोद आदि ओषधियों के मध्यभाग की भी आहुतियाँ देता है, ज्ञानवृद्धि के लिए मेढ़ासिंगी तथा इन्द्र शक्ति के विकास के लिए ऋषभक ओषधि की आहुतियाँ भी देता है। देव लोग घृतादि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करते हैं, परन्तु उनकी आहुतियाँ अधिक देते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

छाग-मेष-ऋषभ

होता यक्षदश्विनौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेताᳬहविर्होतर्यज। होता यक्षत्सरस्वतीं मेषस्य वपाया मेदसो जुषताᳬहविर्होतर्यज। होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य वपाया मेदसो जुषताᳬहविर्होतर्यज ॥४१॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से प्रभु उससे कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तेरे ये प्राणापान **छागस्य**=अजमोद ओषधि के **वपाया मेदसः**=(वप=मुण्डन-छेदन) रोग का छेदन करनेवाले गूदे के भाग का **जुषेताम्**=सेवन करें, तथा तू **हविः यज**=इस अजमोद ओषधि को हविरूप में अग्नि के साथ सङ्गत कर, अर्थात् इस ओषधि की अग्नि में आहुतियाँ दे। २. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से प्रभु उससे कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **मेषस्य**=मेढासिंगी ओषधि के **वपाया मेदसः**=रोगछेदक गूदे के भाग को **जुषताम्**=सेवन कर तथा **हविः यज**=हविरूप में अग्नि के साथ इसे सङ्गत कर। इस ओषधि की अग्नि में आहुतियाँ दे। ३. **होता**=यह यज्ञशेष का भोजन करनेवाला पुरुष **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को

यक्षत्=अपने साथ सङ्गत करे। इसी उद्देश्य से वह **ऋषभस्य**=ऋषभक ओषधि के **वपाया मेदसः**=रोगछेदन करनेवाले औषध-गुणयुक्त मध्यभाग का **जुषताम्**=सेवन करे। प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **हविःयज**=हविरूप में इनका यजन करनेवाला बन।

भावार्थ—इस यज्ञमय जीवन में हम अजमोद ओषधि के प्रयोग व यज्ञ से प्राणापान शक्ति का वर्धन करें। मेढ़ासिंगी ओषधि के प्रयोग से हम मस्तिष्क की शक्ति का विकास करें तथा ऋषभक ओषधि का प्रयोग हमारी आत्मशक्ति का विकास करे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**होत्रादयः**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**[क], **विराडाकृतिः**[र]।
स्वरः—**ऋषभः**[क], **पञ्चमः**[र]॥

शष्प-तोक्म-लाजा

[क]होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रꣳसुत्रामाणमिमे सोमाः [र]सुरामाणश्छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः शष्पैर्न तोक्मभिर्लाजैर्महस्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः प्रस्थिता वो मधुश्चुतस्तानश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ताꣳसोम्यं मधु पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु होतर्यज ॥४२॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **अश्विनौ**=प्राणापान को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **सुत्रामाणम्**=अपना उत्तम रक्षण करनेवाली **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। २. इस उद्देश्य से ही **इमे**=ये **सोमाः**=सोमलता के रस **छागैः**=अजमोद ओषधि के रस के साथ **सुताः**=अभिषुत हुए-हुए प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं, **मेषैः**=मेढ़ासिंगी ओषधि के रस के साथ अभिषुत हुए-हुए इन्द्रशक्ति का विकास करते हैं और इस प्रकार ये **सुरामाणाः**=सुरमणीय हैं, जीवन में रमणीयता लानेवाले हैं। ३. ये रस क्रमशः **शष्पैः**=बालतृणों के साथ, छोटे-छोटे पालक आदि ओषधियों के पत्तों के साथ **न**=और **तोक्मभिः**=यवाङ्कुर के साथ, जौ के नवाङ्कुरों के साथ तथा **लाजैः**=अक्षतों के साथ (चावल के बने हुए) सेवन किये हुए **महस्वन्तः**=तेजस्वितावाले होते हैं, अर्थात् उन रसों के सेवन के साथ पथ्यरूप में 'शष्प-तोक्म व लाजा' का प्रयोग बड़ा गुणकारी हो जाता है। इन पथ्यों के साथ ये रस **मदाः**=(मदी हर्षे) हर्ष के जनक हो जाते हैं। ४. **मासरेण**=(मासेषु रमन्ते) और सदा सब मासों में प्रसन्न करने की मनोवृत्ति से **परिष्कृताः**=अलंकृत हुए-हुए ये रस **शुक्राः**=वीर्य को उत्पन्न करनेवाले, **पयस्वन्तः**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले तथा **अमृताः**=नीरोगता को देनेवाले होते हैं। ५. ये रस **प्रस्थिताः**=(होमाभिमुखं चलिताः—म०) अग्निकुण्ड में डालने पर, सारे वायुमण्डल में फैलते हुए जब सूर्य तक जाने लगते हैं तब **वः**=तुम सब होताओं के लिए ये **मधुश्चुतः**=मधु का स्रवण करनेवाले होते हैं। जीवन में अत्यन्त माधुर्य पैदा करते हैं। ६. **तान्**=उन रसों को **अश्विना**=प्राणापान **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रः**=वह आत्मशक्ति जो **सुत्रामा**=शरीर को रोगों से सम्यक् बचाती है तथा **वृत्रहा**=हृदय की वासनाओं का विनाश करती है, ये सब **जुषन्ताम्**=सेवन करें। ७. इन **सोम्यं मधु**=सोमकणों से उत्पन्न सारभूत (मधु) सोमशक्ति का, वीर्य का **पिबन्तु**=पान करें, अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें, **मदन्तु**=आनन्द का अनुभव करें, **व्यन्तु**=(राजन्ताम्—म०) अपने जीवन को कान्त व दीप्त बनाएँ। ८. प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू उल्लिखित रसों का प्रयोग अवश्य कर, परन्तु **यज**=यज्ञ करनेवाला बन। उन ओषधियों को हविरूप में अग्निकुण्ड में भी डाल।

भावार्थ–'छाग, मेष व ऋषभक' ओषधियों के पथ्य 'शष्प, तोक्म व लाजा' हैं। इनका यज्ञ करने पर ये अत्यन्त गुणकारी हो जाती हैं।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता–**होत्रादयः**। छन्दः–**याजुषीपङ्क्तिः**[क], **उत्कृतिः**[र]। स्वरः–**पञ्चमः**[क], **षड्जः**[र]॥

'अजमोद' का प्रयोग व यजन

[क]होता यक्षदश्विनौ छागस्य [र]हविषऽआत्तामद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳫं सुमत्क्षराणाᳫं शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करतऽएवाश्विना जुषेताᳫं हविर्होतर्यज॥४३॥

१. **होता**=यह यज्ञशील पुरुष **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। इस उद्देश्य से ये प्राणापान **छागस्य**=अजमोद ओषधि के **हविषः**=हवि का **आत्ताम्**=सेवन करें, अर्थात् इस ओषधि को मुख से भी ग्रहण करें और इसे अग्निकुण्ड में आहुत करके हविरूप में हुई-हुई इस औषध को श्वासवायु के साथ ग्रहण करें। २. **अद्य**=आज इस ओषधि के **मध्यतः**=मध्य से **मेदः**=इसका औषध-गुणसम्पन्न चिकना भाग, अर्थात् गूदा **उद्भृतम्**=बाहर निकाला है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=(द्विष अप्रीतौ) यह वायुमण्डल के प्रभाव से अप्रीतिजनक हो जाए, अर्थात् इसके रस का स्वाद कुछ विकृत हो जाए तथा **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=इसे कोई पुरुषों में होनेवाला रोग पकड़ ले, अर्थात् मक्खियों आदि के कारण इसमें किन्हीं रोगकृमियों का प्रवेश होने से पूर्व ही **घस्ताम्**=प्राणापान इसका भक्षण करें। सामान्यतः सेब को काटें तो कुछ देर रखने पर उसका वह चमकता हुआ सफेद रंग जाता रहता है, कुछ देर पड़े रहने पर उसके स्वाद में भी विकार आ जाता है, अतः सामान्य नियम यही ठीक है कि काटा और खाया। यहाँ भी 'ओषधि का गूदा निकाला और उसका प्रयोग किया' यही नियम रखना चाहिए। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे**=खाने पर **अज्राणाम्**=(अज गतिक्षेपणयोः) रोगों को दूर फेंकनेवाली अथवा (भोजने अग्रे प्राप्तव्यानाम्–द०) भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य (अज्राणां=अजराणां नवानां रुचिजनकानाम्–म०) भोजन में अधिकाधिक रुचि पैदा करनेवाली **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य **सुमत् क्षराणाम्**=(सुष्ठु मदां क्षरः सञ्चलनं येषां–द०) उत्तम आनन्दों के देनेवाली **शतरुद्रियाणाम्**=सैकड़ों रोगों को रुलानेवाली, अर्थात् रोगों का विद्रावण करनेवाली अथवा (बहुमन्त्रैः सुतानाम्–म०) मन्त्रों से स्तवन की गई **अग्निष्वात्तानाम्**=(पाककाले पूर्वमग्निना सुशृतानाम्–म०) जिनका अग्नि पर ठीक परिपाक हुआ है, **पीवोपवसनानाम्**=(पवीः उपवसनं यैः) शरीर में स्थूल उपवसन का निर्माण करनेवाली, अर्थात् त्वचा के साथ-साथ सारे शरीर पर चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, तथा **पार्श्वतः**=पार्श्वों के दृष्टिकोण से (कोख-प्रदेशों के स्वास्थ्य के विचार से) **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के स्वास्थ्य के विचार से, **शितामतः**=बाहुप्रदेश के स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अथवा आमाशय के स्वास्थ्य के विचार से, **उत्सादतः**=छेदनवाले प्रदेश के ठीक करने के उद्देश्य से, जहाँ कोई कटाव हो गया है, उसको ठीक करने के लिए, **अंगात् अंगात्**=एक-एक अङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटे हुए अजमोद ओषधि के अंशों का **करतः**=ये प्राणापान

सेवन करते हैं। ४. **एव**=इस प्रकार **अश्विना**=ये प्राणापान **हविः**=उस अजमोद ओषधि का, जिसे कि अग्नि में डाला गया है और अतएव जो हविरूप हो गई है, उसका **जुषताम्**=सेवन करें। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=इस ओषधि का यजन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्राणापान के उत्कर्ष के लिए अजमोद ओषधि के मध्य से उद्धृत गूदे का ग्रहण करें। गूदे के पड़े रहने से उसके रस को विकृत न होने दें, उसपर रोगकृमियों का आक्रमण भी न होने दें। इसके प्रयोग से हमारे सब अङ्ग स्वस्थ होंगे। हम इससे हवन करें और इसे हविरूप में लेने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्**[क], **स्वराडुत्कृतिः**[र]। स्वरः—**धैवतः**[क], **षड्जः**[र]॥

मेढ़ासिंगी का प्रयोग व यजन

[क]होता॑ यक्षत् सर॑स्वतीं मे॒षस्य॑ [र]ह॒विष॒ऽआव॑यद॒द्य मध्य॒तो मेद॒ऽ उद्भृ॑तं पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो घस॑न्नू॒नं घा॒सेऽअ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमाना॒ᳬ सु॒मत्क्ष॑राणा॒ᳬ शतरु॒द्रिया॑णामग्निष्वा॒त्ताना॒ं पीवो॑पवसनानां पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ताम॒तऽ उ॑त्साद॒तोऽ ङ्गा॑दङ्गा॒दव॑त्ताना॒ं कर॑द्दे॒वᳬसर॑स्वती जु॒षता॑ᳬ ह॒विर्हो॑त॒र्यज॑ ॥४४॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **सरस्वती**=ज्ञानाधिदवेता को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। इसी उद्देश्य से **मेषस्य**=मेढ़ासिंगी ओषधि का तथा **हविषः**=अग्निहोत्र में इसका हवन होने पर सूक्ष्मरूप में हुई-हुई इस ओषधि का यह सरस्वती **आवयत्**=भक्षण करे, सेवन करे। २. **अद्य** =आज **मध्यतः**=इसके मध्य से **मेदः**=इसका औषध गुणयुक्त चिकना मध्य का भाग, अर्थात् गूदा **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=यह विकृत होकर अप्रीतिजनक हो जाए, और **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=इसे कोई ऐसे कृमि पकड़ लें जो रोगों के कारण बन जाएँ, **घसत्**=सरस्वती इसका भक्षण करे। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे अज्राणाम्**=भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य, अथवा भोजन में रुचि को अधिकाधिक पैदा करनेवाली तथा खाने पर रोगों को दूर करनेवाली, **यवस-प्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य, **सुमत् क्षराणाम्**=उत्तम आनन्दों को देनेवाली, **शतरुद्रियाणाम्**=शतशः रोगों को दूर करनेवाली, **अग्निष्वात्तानाम्**=अग्नि पर ठीक पकाई गई, **पीवोपवसनानाम्**=त्वचा के साथ-साथ स्थूल चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, **पार्श्वतः**=पासों के दृष्टिकोण से, **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के दृष्टिकोण से, **शितामतः**=बाहु के दृष्टिकोण से या आमाशय के दृष्टिकोण से, **उत्सादतः**=कटाव के दृष्टिकोण से, कटे हुए अङ्ग के भराव के विचार से, **अङ्गात् अङ्गात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटी हुई इस मेढ़ासिंगी के मेदस् का सरस्वती **करत्**=सेवन करती है। ४. **एवम्**=इस प्रकार **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **हविः**=अग्निहोत्र में डाली गई और अतएव हविरूप बची हुई इस ओषधि को **जुषताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू भी **यज**=इसका यजन कर।

भावार्थ—मस्तिष्क के उत्कर्ष के दृष्टिकोण से मेढ़ासिंगी ओषधि के मध्य से उद्धृत गूदे का ग्रहण करें। वह गूदा विकृत रसवाला न हो जाए और न ही मक्खियाँ उसपर बैठकर उसे रोगकृमियों से परिपूर्ण कर दें। इसके प्रयोग व हवन से हमारे सब अङ्ग सुन्दर व स्वस्थ होंगे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**यजमानर्त्विजः**। छन्दः—**भुरिक्प्राजापत्योष्णिक्**[क], **भुरिगभिकृतिः**[र]। स्वरः—**ऋषभः**॥

'ऋषभक' का प्रयोग व यजन

[क]**होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हविष**ऽ [र]**आवयदद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳯ सुमत्क्षराणाᳯ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताᳯ हविर्होतर्यज ॥४५॥**

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से वह इन्द्र **ऋषभस्य**=ऋषभ का भक्षण करता है। २. **अद्य**=आज इस ऋषभक के **मध्यतः**=मध्य से **मेदः**=औषध-गुणयुक्त चिकना गूदा **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=यह विकृतरस होकर अप्रीतिजनक हो जाए और **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=मनुष्य को ग्रहण कर (पकड़) लेनेवाली कोई बीमारी के कृमि इसमें आ जाएँ, **घसत्**=इन्द्र इसका भक्षण करे। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे अज्राणाम्**=भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य, **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य **सुमत्क्षराणाम्**=उत्तम आनन्दों को देनेवाली **शतरुद्रियाणाम्**=सैकड़ों रोगों को दूर करनेवाली, **अग्निष्वात्तानाम्**=आग पर पकाई गई, **पीवोपवसनानाम्**=त्वचा के साथ-साथ स्थूल चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, **पार्श्वतः**=पार्श्वों के दृष्टिकोण से **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के दृष्टिकोण से **शितामतः**=बाहुओं के दृष्टिकोण से अथवा आमाशय के दृष्टिकोण से, **उत्सादतः**=कटे हुए अङ्ग के दृष्टिकोण से **अङ्गात् अङ्गात्** =एक-एक अङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटी हुई इस ऋषभक ओषधि के गूदे का **करत्**=यह इन्द्र सेवन करे। ४. **एवम्**=इस प्रकार **इन्द्रः**=आत्मशक्ति का विकास करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **हविः**=अग्निहोत्र में हवन की गई इस ओषधि का **जुषताम्**=सेवन करे। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! **यज**=तू इस ऋषभक ओषधि का यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—आत्मशक्ति के विकास के लिए हम ऋषभक ओषधि का यज्ञ करें। हविरूप में उसका ग्रहण करें। उसका मुख से भी प्रयोग करें। यह ध्यान रक्खें कि वह पड़ी-पड़ी विकृत-रसवाली व रोगकृमियों से आक्रान्त न हो जाए। इसके प्रयोग से हमारा शरीर सर्वांग सुन्दर बनेगा।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**उत्कृतिः**[क], **स्वराट्संकृतिः**[र]। स्वरः—**षड्जः**[क], **गान्धारः**[र]॥

वनस्पति+रशना (वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय)

[क]**होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनयाधित । यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्यऽऋषभस्य हविषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामानि** [र]**यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथाᳯसि यत्र देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यत्राग्नेर्होतुः प्रिया धामानि तत्रैतान् प्रस्तुत्येवोपस्तुत्येवोपावस्रक्षद्रभीयसऽइव कृत्वी करदेवं देवो**

वनस्पतिर्जुषताᳬहविर्होतर्यज ॥४६॥

१. **होता**=त्यागशील पुरुष **वनस्पतिम्**=वनस्पति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। यह सदा वानस्पतिक भोजन ही करता है। २. इस वानस्पतिक भोजन के साथ यह **हि**=निश्चय से **रशनया**=रशना से, मेखला से, दृढ़निश्चय की प्रतीकभूत इस तगड़ी (Gridle) से अपने को **अभ्यधित**=धारण करता है, अर्थात् दृढ़ निश्चय करता है। यह मेखला कैसी है? (क) **पिष्टतमया**=(अत्यन्त पिष्ट, सुरूपा पिष्टम्—म०) यह जीवन को अत्यन्त सुरूप बनानेवाली है तथा **रभिष्ठया**=काम-क्रोधादि पशुओं का अत्यन्त नियमन करनेवाली है (रभते पशून् नियमयति—म०) और (समर्थया) अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाली है। वस्तुतः दृढ़निश्चय कर लेने पर यह अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर व सामर्थ्यसम्पन्न बना पाता है। ३. यह वानस्पतिक भोजन तथा मेखला वह है **यत्र**=जहाँ (क) **अश्विनोः**=प्राणापान के **छागस्य हविषः**=अजमोद ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय के साथ जब इस अजमोद ओषधि का हविरूप में प्रयोग होता है तब प्राणापान की शक्ति को खूब बढ़ानेवाली होती है। (ख) **यत्र**=जहाँ **सरस्वत्याः**=ज्ञानाधिदेवता के साथ सम्बद्ध **मेषस्य हविषः**=मेढ़ासिंगी ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं (ग) **यत्र**=जहाँ **इन्द्रस्य**=आत्मशक्ति-सम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष के साथ सम्बद्ध **ऋषभस्य हविषः**=ऋषभक ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं। (घ) **यत्र**=जहाँ **अग्नेः प्रिया धामानि**=अग्नितत्त्व के प्रिय तेज हैं, अर्थात् ये वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को अग्नि के समान तेजस्वी बनाते हैं। (ङ) **यत्र**=जहाँ **सोमस्य प्रिया धामानि**=सोम के प्रिय तेज हैं, अर्थात् यह जहाँ अग्नि के समान तेजस्वी होता है वहाँ सोम के समान शान्त होता है (सोम=चन्द्रमा)। (च) **यत्र**=जहाँ **सुत्राम्णः इन्द्रस्य**=रोगों से अपने को पूर्णरूप से रक्षित करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् इनके होने पर मनुष्य नीरोग व जितेन्द्रिय बनता है। (छ) **यत्र**=जहाँ **सवितुः**=उत्पादक के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को निर्माणात्मक कामों में लगनेवाला बनाता है। (ज) **यत्र**=जहाँ **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की देवता के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को द्वेष से ऊपर उठा देते हैं। (झ) **यत्र**=जहाँ **वनस्पतेः**=वनस्पति के **प्रिया पाथांसि**=प्रिय अन्न हैं, जो अन्न शरीर के पूर्णतया रक्षक हैं। (ञ) **यत्र**=जहाँ **आज्यपानाम्**=घृत का पान करनेवाले **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वनस्पति भोजन करनेवाला दृढ़निश्चयी पुरुष आज्य का पान करनेवाले देवों के समान बनता है। (त) **यत्र**=जहाँ **होतुः अग्नेः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले प्रगतिशील पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं। ४. **तत्र**=वहाँ अर्थात् उस वनस्पति व मेखला में, अर्थात् इनके होने पर **एतान्**=इन 'छाग-मेष व ऋषभ' को **प्रस्तुत्य इव**=अग्निकुण्ड में प्रस्तुत-सा करके, अर्थात् प्राप्त कराके **उपस्तुत्य इव**=अग्नि द्वारा सूक्ष्म कणों के रूप में अपने समीप प्राप्त कराके **रभीयसः इव कृत्वी**=बड़ा शक्तिशाली बनाकर **उपावस्त्रक्षत्**=अपने समीप, अपने शरीर में स्थापित करे (स्थापयतु—म०)। ५. यह **देवः वनस्पतिः**=दिव्य गुणोंवाला वनस्पति **एवं करत्**=ऐसा ही करे, अर्थात् हमारे जीवन को उल्लिखित तेजों से युक्त करे। ६. इसके लिए होता को चाहिए कि **हविः जुषताम्**=वह हवि का सेवन करनेवाला बने। प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—जीवन को सुन्दर व सामर्थ्यसम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक है कि वानस्पतिक भोजन का अङ्गीकार करें और दृढ़निश्चयी बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**[क], **आकृतिः**[र]। स्वरः—**पञ्चमः**॥

इष्टकामधुक् (स्विष्टकृत्) अग्नि

[क]**होता यक्षदग्निꣳस्विष्टकृतमयाडग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्ययाट् सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्यऽऋषभस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामान्ययाट् सवितुः प्रिया धामान्ययाड् वरुणस्य प्रिया धामान्ययाड् वनस्पतेः प्रिया पाथाꣳस्ययाड् देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यक्षत् स्वं महिमानमायजतामेज्याऽ इषः कृणोतु सोऽअध्वरा जातवेदा जुषताꣳहविर्होतर्यज ॥४७॥**

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **स्विष्टकृतम्**=उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाले **अग्निम्**=इस यज्ञाग्नि का **यक्षत्**=अपने साथ मेल करता है, अर्थात् यज्ञ को अपने साथ जोड़ लेता है, २. सहयज्ञ बनने पर **अग्निः**=यह यज्ञाग्नि (क) **अश्विनोः**=प्राणापान के साथ सम्बद्ध **छागस्य हविषः**=अजमोद ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है (ख) **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से सम्बद्ध **मेषस्य हविषः**=मेढ़ासिंगी ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है। (ग) **इन्द्रस्य**=आत्मशक्ति के साथ सम्बद्ध **ऋषभस्य हविषः**=ऋषभक ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (घ) **अग्नेः प्रिया धामानि अयाट्**=अग्नितत्त्व के प्रिय तेजों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (ङ) **सोमस्य प्रिया धामानि अयाट्**=सोम के प्रिय तेजों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (च) **सुत्राम्णः इन्द्रस्य प्रिया धामानि अयाट्**=अपनी पूर्णरूप से रक्षा करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (छ) **सवितुः प्रिया धामानि अयाट्**=यह निर्माण करनेवाले सविता के प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (ज) निर्माण में लगाये रखकर **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की देवता के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है (ञ) यह **वनस्पतेः**=वनस्पति के **प्रिया पाथांसि**=प्रिय अन्नों को **अयाट्** =हमारे साथ सङ्गत करता है। (त्र) **आज्यपानाम्**=घृत का पान करनेवाले **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **प्रिया धामानि अयाट्**=प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (ट) यह **होतुः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **अग्नेः**=प्रगतिशील पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **यक्षत्**=हमारे साथ सङ्गत करता है। ३. इस प्रकार यज्ञाग्नि के द्वारा उल्लिखित प्रिय तेजों को प्राप्त करके मन्त्र का ऋषि 'आत्रेय' **स्वं महिमानम्**=अपनी महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। ४. इस महिमा को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए **एज्याः**=आ इज्याः=समन्तात् यष्टुं योग्यं, अर्थात् सब प्रकार से अपने साथ मेल करने के योग्य **इषः**=इच्छाओं को **आयजताम्**=अपने साथ सङ्गत करे, अर्थात् सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो। ५. **सः जातवेदाः**=यह ज्ञानी पुरुष **अध्वरा कृणोतु**=सदा हिंसारहित यज्ञों का करनेवाला हो। अहिंसा ही मूलधर्म है। इस प्रकार यज्ञिय जीवन बिताता हुआ वह **हविः जुषताम्**=त्यागपूर्वक भोजन का सेवन करे, सदा यज्ञशेष ही खाये। ६. प्रभु कहते हैं **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तूने **यज**=यजन करनेवाला होना है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि स्विष्टकृत् है। यज्ञ को अपनाकर हम सब तेजों को अपनाएँ। अपनी वास्तविक महिमा को प्राप्त करें। अहिंसा को मूलधर्म समझें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**सरस्वत्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आँखों की तेजस्विता

देवं बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रेऽअश्विना।
तेजो न चक्षुरक्ष्योर्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४८॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **देवम्**=दिव्य गुणोंवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को धारण करती है, अर्थात् ज्ञान से मनुष्य का हृदय दिव्य व वासनारहित होता है। २. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **सुदेवम्**=उस सर्वोत्कृष्ट देव प्रभु को स्थापित करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से चित्तवृत्ति निर्मल होकर प्रभु-दर्शन के योग्य बन जाती है। ३. इस साधक की **अक्ष्योः**=आँखों में **तेजः**=तेजस्विता होती है **न**=और **चक्षुः**=दर्शनशक्ति होती है। इसकी आँखों से तेज टपकता है। ४. सरस्वती तथा अश्विनौ=ज्ञानाधिदेवता तथा प्राणापान इसके अन्दर **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। ५. **वसुवने**=(वसुवननाय) निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=(वसुधेयं यस्मिन्—द०) सब निवासक तत्त्वों के आधारभूत सोम=(वीर्य) का **व्यन्तु**=पान करें। वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करने से सब वसुओं की शरीर में स्थिति होती है। ६. प्रभु मन्त्र के ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' से कहते हैं कि इस सबको सिद्ध करने के लिए तू **यज**=यज्ञशील बन। देवपूजा के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर, विद्वानों के सङ्ग व दान की वृत्ति से तू अपने हृदय को वासनाशून्य बना।

भावार्थ—१. ज्ञान से मन दिव्य व वासनाशून्य बनता है। २. प्राणापान की साधना हृदय को एकाग्र करके प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। ३. इस साधक की आँखें तेजस्वी व दर्शनशक्ति-सम्पन्न होती हैं। ४. वासनाशून्य हृदय के साथ इसकी सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं। ५. वीर्यरक्षा से निवासक तत्त्वों का उपचय होता है। ६. इस सबके लिए हमें यज्ञशील बनना चाहिए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

घ्राणेन्द्रिय का बल

देवीर्द्वारोऽअश्विना भिषजेन्द्रे सरस्वती।
प्राणं न वीर्यं नसि द्वारो दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४९॥

१. **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **भिषजा अश्विना**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाले वैद्यभूत प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **देवीः द्वारः**=दिव्य द्वारों को **दधुः**=स्थापित करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना तथा ज्ञान की आराधना करने पर 'मुख, पायु तथा उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' आदि सब द्वार ठीक से अपना-अपना कार्य करनेवाले होते हैं। २. ये **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञान **नसि**=घ्राणेन्द्रिय में **प्राणम्**=घ्राणशक्ति को तथा **वीर्यम्**=तेजस्विता को स्थापित करते हैं। ३. नासिका में घ्राणशक्ति व वीर्य की स्थापना के साथ ये प्राणापान व ज्ञान **द्वारः**=सब द्वारों को तथा **इन्द्रियम्**=उन इन्द्रियद्वारों में उस-उस शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=(वसुवननाय) निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, इसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

५. प्रभु कहते हैं कि इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील बन, तेरी वृत्ति भोगप्रवण न हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना तथा ज्ञान की आराधना से हमारे सब इन्द्रिय-द्वार दिव्य हों। हमारी नासिका में घ्राणेन्द्रिय शक्ति व वीर्य हो। हम निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें तथा यज्ञशील बनकर भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मुख में वाक्शक्ति

दे॒वीऽउ॒षासा॑व॒श्विना॑ सु॒त्रामेन्द्रे॒ सर॑स्वती।
बल॒ं न वाच॑मा॒स्य॒ऽउ॒षाभ्या॑ दधुरि॒न्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥५०॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त व देदीप्यमान **उषासौ**=(सायं-प्रातः संधिवेले—द०) सायं व प्रातः के सन्धिकाल तथा **सुत्रामा**=उत्तमता से त्राण व रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के **आस्ये**=मुख में **बलम्**=बल को **न**=और **वाचम्**=वाणी की शक्ति को धारण करते हैं। २. ये प्राणापान तथा ज्ञान **उषाभ्याम्**=इन सन्धिवेलाओं के साथ इसमें **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों के बल को **दधुः**=धारण करते हैं। प्रातः-सायं वाणी उद्गीथ का गायन करती है और यह गायन उसे बल प्राप्त कराता है। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। ४. इसी दृष्टिकोण से प्रभु कहते हैं कि **यज**=हे मनुष्य! तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—प्रातः-सायं उद्गीथ का गायन करनेवाली वाणी प्राणापान की साधना से तथा ज्ञान की आराधना से सबल बनती है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति

दे॒वी जोष्ट्री॒ सर॑स्वत्य॒श्विनेन्द्र॑मवर्धयन्।
श्रोत्र॒ं न कर्ण॑यो॒र्यशो॒ जोष्ट्री॑भ्यां दधुरि॒न्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥५१॥

१. **देवी जोष्ट्री**=(देवी जोष्ट्री अहोरात्रे—नि० ९।४१) ये दिन और रात **सरस्वती**= ज्ञानाधिदेवता तथा **अश्विना**=प्राणापान—ये सब **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। वे दिन-रात यहाँ 'देवी जोष्ट्री' नाम से कहे गये हैं, जिनमें मनुष्य सम्पूर्ण दिन प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करता हुआ रात्रि में स्वप्न का आनन्द लेता है। वस्तुतः ऐसे दिन-रात ही मनुष्य की वृद्धि का कारण बनते हैं। २. ये **कर्णयोः**=कानों में **श्रोत्रम्**=सुनने की शक्ति को **न**=और **यशः**=यश को **दधुः**=स्थापित करते हैं। 'यशः' शब्द वेद में=सौन्दर्य व ज्योति (Beauty and Splendour) के लिए आता है। इस साधक के कानों में वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे वह इस संसार में प्रभु की ज्योति व सौन्दर्य को देखनेवाला बनता है। ३. ये प्राणापान तथा ज्ञान **जोष्ट्रीभ्याम्**=इन प्रीतिपूर्वक होनेवाले कर्मों से युक्त दिन-रात के साथ **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, इसे शरीर में व्याप्त करें। ५. इस सबके लिए प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हमारे दिन-रात 'देवी जोष्ट्री' हों। हम उनमें प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों के करने में लगे रहें। इससे हमें कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति प्राप्त हो। हमारी सब इन्द्रियाँ सबल हों। हम वीर्य की रक्षा करें और यज्ञशील हों।

ऋषि:—**स्वस्त्यात्रेय:**। देवता—**अश्व्यादय:**। छन्द:—**अतिजगती**।
स्वर:—**निषाद:**॥

स्तनों में शुक्र और ज्योति

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावत:।
शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्तऽइन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५२॥

१. **देवी ऊर्जाहुती**=(देवी ऊर्जाहुती द्यावापृथिव्यौ—नि० ९।४२) दिव्य गुणोंवाले बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्न देनेवाले ये द्युलोक व पृथिवीलोक **दुघे**=हमारे मनोरथों का पूरण करनेवाले हैं, वस्तुत: ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे पिता व माता के तुल्य हैं (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)। माता-पिता सन्तान का पूरण करते हैं, ठीक इसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा पूरण करते हैं। २. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=बहुत उत्तमता से पूरण करनेवाली होती है। ज्ञान सब दोषों को दूर करके सचमुच हमारा सुन्दर पूरण करता है। ३. **अश्विना** =ये प्राणापान **भिषजा**=सब रोगों का प्रतीकार करते हैं, नासिका में दायाँ स्वर सूर्यस्वर है, यह शरीर में प्राणशक्ति को भरता है और बायाँ स्वर चन्द्रस्वर है यह अपान को ठीक रखता है, अत: शरीर में ये प्राणापान 'सूर्य और चन्द्रमा' हैं। दोनों का समन्वय होने पर किसी प्रकार का रोग नहीं होता। केवल सूर्यस्वर होता तो उष्णता व अम्लता बढ़कर शरीर समाप्त हो जाता तथा केवल चन्द्रस्वर होने पर कोढ़ के रोग बढ़कर शरीर क्षयी हो जाता। इसी दृष्टिकोण से 'अश्विना' सदा द्विवचन में आता है। ये दोनों मिलकर ही 'भिषजा' है। ये रोगों का प्रतीकार करनेवाले प्राणापान **अवत:**=रक्षा करते हैं। मनुष्य को रोगों का शिकार नहीं होने देते। ४. जब द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा उत्तम अन्नों से पूरण करनेवाले होते हैं, तब ज्ञान हमारी कमियों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करनेवाला होता है। जब ये प्राणापान भिषक् बनकर हमारी रक्षा करते हैं उस समय ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **स्तनयो:**=माता बननेवाली युवती के स्तनों में **शुक्रम्**=वीर्यसम्पन्न **न**=तथा **ज्योति:**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त दुग्ध को **धत्त**=स्थापित करते हैं। इस माता के स्तनों का दूध सन्तान को वीर्यसम्पन्न व ज्ञानसम्पन्न बनाता है। ५. ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **इन्द्रियं धत्त**=प्रत्येक इन्द्रिय के बल का स्थापन करते हैं। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें। शरीर में व्याप्त होकर यह वीर्य ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सशक्त करता है। ७. ऐसा हो सके इसके लिए प्रभु कहते हैं कि हे पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—द्यावापृथिवी दिव्य अन्नों से हमारा पूरण करते हैं। ज्ञान दोषों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करता है। प्राणापान हमारे वैद्य हैं और रोगों से हमारा रक्षण करते हैं। ऐसा होने पर माता के स्तनों में शक्ति व ज्ञानसम्पन्न दूध होता है। ये द्यावापृथिवी हमारी सब इन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं। हम वीर्य की रक्षा करें और उसके लिए यज्ञशील बन भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

दीप्ति व मति से पूर्ण हृदय

दे॒वा दे॒वानां॑ भि॒षजा॒ होता॑रा॒विन्द्र॑म॒श्विना॑। व॒ष॒ट्का॒रैः सर॑स्वती॒ त्विषिं॒ न हृद॑ये म॒तिꣳहोतृ॑भ्यां दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥५३॥

१. **देवा होतारौ**=दिव्य गुणोंवाले भिषज वरुण=(होतारौ मित्रावरुणौ) स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तथा **देवानां भिषजा**=देवताओं के वैद्य ये **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **अवतः**=रक्षित करते हैं (अवतः क्रिया ऊपर के मन्त्र से अनुवृत्त हुई है।) २. **वषट्कारैः**=(श्रेष्ठैः कर्मभिः—द०) यज्ञादि उत्तम कर्मों के साथ **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **त्विषिम्**=दीप्ति को **न**=और **होतृभ्याम्**=मित्रावरुण के साथ अर्थात् स्नेह व द्वेषनिवारण के साथ **हृदये**=हृदय में **मतिम्**=मननशीलता को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ३. मन्त्र में 'वषट्कारैः' शब्द श्रेष्ठ कर्मों का वाचक होकर हाथों से होनेवाले कर्मकाण्ड का प्रतीक है। 'सरस्वती' ज्ञानाधिदेवता मस्तिष्क के ज्ञानकाण्ड का संकेत करती है और 'होतारौ' व 'होतृभ्यां' शब्द मित्रावरुण के वाचक होकर हृदय में स्नेह व द्वेषाभाव का प्रतिपादन करते हुए हार्दिक पवित्रता की सूचना दे रहे हैं। यही हृदय प्रभु की सच्ची उपासना कर पाता है। एवं, ये सब कर्म, ज्ञान व उपासना द्वारा **इन्द्रियं दधुः**=इस 'आत्रेय' में अङ्ग-प्रत्यङ्ग के बल को धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि हे 'आत्रेय' तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—स्नेह व द्वेषाभाव की दिव्य वृत्तियाँ (मित्रावरुण देव), प्राणापानरूप दिव्य वैद्य (अश्विना देवानां भिषजा) यज्ञादि उत्तम कर्म तथा ज्ञान हमारे जीवन में दीप्ति को, मति को तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को धारण करें। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

केन्द्र-शक्ति

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीर॒श्विनेडा॒ सर॑स्वती।
शूषं॒ न मध्ये॒ नाभ्या॒मिन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥५४॥

१. **देवीः तिस्रः**=तीन देवियाँ जो **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=सचमुच दिव्य गुणोंवाली हैं। उनमें प्रथम **अश्विना**=(श्रोत्रे अश्विनौ—श० १२।९।१।१३) श्रोत्र हैं, अर्थात् श्रोत्रों से सुनी जानेवाली 'भारती' है। वाणी जिसको श्रोत्रों से सुना जाता है उसे यहाँ 'अश्विनौ'=श्रोत्रशब्द से इसलिए स्मरण किया कि हम वाणी से सुनने के महत्त्व को समझें, बोलने का उतना महत्त्व नहीं है। वस्तुतः सुनी जाती हुई वाणी हमारा भरण करनेवाली सचमुच 'भारती' होती है। दूसरी '**इडा**'=श्रद्धा है, इसका स्थान हृदय में है। तीसरी **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता है, जिसका निवास मस्तिष्क में है। २. ये तीनों देवियाँ **मध्ये नाभ्याम्**=शरीर के केन्द्रभूत नाभि में **शूषम्**=सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के शोषक बल को **दधुः**=धारण करती हैं **न**=तथा **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के लिए **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को धारण करती हैं। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य** =वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ४. इस सबके लिए प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—'अश्विनौ'=श्रोत्रों से सुनी जानेवाली वाणी (भारती), श्रद्धा (इडा) तथा ज्ञान (सरस्वती) हमारी नाभि में उस केन्द्रशक्ति को धारण करते हैं, जिससे सब अवाञ्छनीय तत्त्वों का शोषण होता है। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य का शरीर में व्यापन करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृतं जनित्रम्

देवऽइन्द्रो नराशꣳसस्त्रिवरूथः सरस्वत्याश्विभ्यामीयते रथः। रेतो न रूपममृतं जनित्रमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५५॥

१. **देवः**=सारे संसार के व्यवहार को सिद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **त्रिवरूथः**=हमारे शरीर (इन्द्रियाँ), मन व बुद्धि तीनों का रक्षण करनेवाला (वरूथ=Cover=आवरण) अथवा शरीर, मन व बुद्धि की तीनों सम्पत्तियों को देनेवाला (वरूथ=Wealth) **नराशंसः**=मनुष्यों से समन्तात् शंसन किया जाता हुआ प्रभु (क) **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति से **रथः ईयते**=यह शरीर-रथ गतिमय किया जाता है, अर्थात् उस प्रभु ने यह शरीररूप रथ हमें दिया है और इससे हमें परमात्मा की ओर ही पहुँचना है, अतः यह रथ परमात्मा का है (जैसे यह गाड़ी हरिद्वार की है, अर्थात् हरिद्वार जानेवाली है) उसका यह रथ ज्ञान व प्राणापान से चलता है। प्राणापान इस गाड़ी के इञ्जन के जल हैं तो ज्ञान 'अग्नि' है। इनसे यह रथ चलता है। ३. एवं, जब हम ज्ञान व प्राणापान की शक्ति से शरीररूप रथ को प्रभु की ओर ले-चलते हैं तब **त्वष्टः**=सब दिव्य गुणों का निर्माता वह प्रभु **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **रेतः**=शक्ति को **न**=और **रूपम्**=स्वास्थ्य के सौन्दर्य को, **जनित्रम्**=सब शक्तियों के विकास को, **अमृतम्**=नीरोगता को तथा **इन्द्रियाणि**= अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। ४. **वसुवने** =निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील हो।

भावार्थ—वे प्रभु 'देव-इन्द्र-नरांशस व त्रिवरूथ' हैं। प्रभु का यह रथ ज्ञान व प्राणापान से चलता है। वे निर्माता प्रभु 'रेतस्, रूप, अमृत, जनित्र व इन्द्रियशक्तियों' का धारण करते हैं। निवासक तत्त्वों के विजय के लिए हम शरीर में वीर्य का व्यापन करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हिरण्यपर्ण वनस्पति

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णोऽअश्विभ्याꣳसरस्वत्या सुपिप्पलऽइन्द्राय पच्यते मधु। ओजो न जूतिर्ऋषभो न भामं वनस्पतिर्नो दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५६॥

१. यहाँ संसार को एक वृक्ष के रूप में कहा गया है। यह **वनस्पतिः**=संसारवृक्ष **देवः**=दिव्य गुणोंवाला है और हमारे सारे व्यवहार को सिद्ध करनेवाला है (दिव् व्यवहारे)। २. यह संसार-वृक्ष **देवैः**=सूर्यादि सब दिव्य पदार्थों से **हिरण्यपर्णः**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान पत्तोंवाला है। (हिरण्य=हितरमणीय, पर्ण=पृ पालनपूरणयोः) अथवा बड़े हित व रमणीय प्रकार से हमारा पालन व पूरण करनेवाला है। ३. यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की साधना के साथ तथा **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सुपिप्पलः**=उत्तम फलोंवाला है, अर्थात् इस संसार-वृक्ष के फलों का प्रयोग ज्ञानपूर्वक तथा प्राणापान की साधना के साथ किया जाए तो ये फल बड़े उत्तम प्रमाणित होते हैं अथवा ज्ञान व प्राणापान इस संसार-वृक्ष

के उत्तम फल हैं। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए यह **मधु**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त फलों को **पच्यते**=परिपक्व करता है। ५. यह **ऋषभः वनस्पतिः**=अत्यन्त श्रेष्ठ वनस्पति **नः**=हममें **ओजः**=ओजस्विता को **जूतिः**=स्फूर्ति को **न**=और **भामम्**=तेजस्विता को **न**=तथा **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य व्यन्तु**=वीर्य का शरीर में व्यापन करे। ३. प्रभु कहते हैं कि हे आत्रेय! इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील हो।

भावार्थ—यह संसार-वृक्ष सूर्यादि देवों के साथ सचमुच दिव्य गुणोंवाला है। यह प्राणापान व ज्ञानरूप उत्तम फलोंवाला है। जितेन्द्रिय पुरुष के लिए यह मधुर-ही-मधुर है। यह ओजस्विता, स्फूर्ति व तेजस्विता को देनेवाला है। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में व्याप्त करें, यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्योनं सदः

देवं बर्हिर्वारितीनामध्वरे स्तीर्णमश्विभ्यामूर्णम्रदाः सरस्वत्या स्योनमिन्द्र ते सदः।
ईशायै मन्युꣳराजानं बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५७॥

१. 'वार' शब्द वृ वरणे धातु से बनकर यहाँ वरणीय परमात्मा का वाचक है (वारितात्मन् वरणीये परमात्मनि इतिर्गतिर्येषां) **वारितीनाम्**=परमात्मा में विचरनेवाली 'वरतराणां' अतएव श्रेष्ठ जीवनवाले प्रजाओं को **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **देवम्**=प्रकाशमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **स्तीर्णम्**=आच्छादित हुआ है। २. यह परमेश्वर में विचरनेवाला व्यक्ति **अश्विभ्याम्**=प्राणापान से, प्राणसाधना के द्वारा **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण आच्छादने) ज्ञान को ढकनेवाले वृत्र का मर्दन करनेवाला बना है। ३. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=वृत्र का संहार करनेवाले 'आत्रेय' **ते**=तेरा **सदः**=निवासस्थान **सरस्वत्या** =ज्ञानाधिदेवता से **स्योनम्**=बड़ा सुखकर हुआ है। मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवनवाला हो तो संसार में वह अज्ञानजनित क्लेशों से बचकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। ४. **ईशायै** =ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **मन्युम्** =ज्ञान को **राजानम्**=दीप्ति को अथवा आत्मनियन्त्रण व व्यवस्था को, **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=प्राणापान व सरस्वती इसमें धारण करते हैं। इनको धारण करके वह ईश का ही छोटा रूप बन जाता है। ५. **वसुवने**=वस्तुओं की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करे। ६. प्रभु कहते हैं कि इसी उद्देश्य से तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—ईश का छोटा रूप बनने के लिए हम ज्ञानी बनें, नियमित व नियन्त्रित जीवनवाले हों, हृदय को वासनाशून्य बनाएँ और सब इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर रक्खें, क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अत्यष्टि**[क] , **निचृत्त्रिष्टुप्**[र]।
स्वरः—**गान्धारः**[क], **धैवत**[र]ः॥

स्विष्टकृद् अग्निः

[क]देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवान्यक्षद्यथायथꣳहोताराविन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳसरस्वती-मग्निꣳसोमꣳस्विष्टकृत् स्विष्टऽइन्द्रः सुत्रामा सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवाऽआज्यपाः [र]स्विष्टोऽअग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳस्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५८॥

१. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **अग्निः**=यह यज्ञ का अग्नि **स्विष्टकृत्**=उत्तम इष्टों को पूर्ण करनेवाला है। वस्तुतः यज्ञाग्नि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है **'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'।** २. इस यज्ञाग्नि को अपनानेवाला व्यक्ति **यथायथम्**=ठीकरूप से **देवान् यक्षत्**=देवों का यजन=अपने साथ मेल करता है। ३. **होतारौ**=मित्र और वरुण का अपने साथ मेल करता है, **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा का अपने साथ मेल करता है। वस्तुतः मित्र और वरुण के साथ मेल परमात्मा से मेल का साधन होता है। सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के अभाववाला व्यक्ति ही परमात्म-प्राप्ति का अधिकारी बनता है। ४. यह यज्ञशील पुरुष **अश्विना**=प्राणापान का अपने साथ मेल करता है। यज्ञ से प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। ५. **वाचा** (मन्त्रेण—म०) ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वाचम्**=वाणी की शक्ति को बढ़ाता है तथा **सरस्वती**=इस मन्त्रों की वाणी से ज्ञानाधिदेवता का भी आराधन करता है। ६. इस यज्ञ से **अग्निं सोमम्**=अग्नितत्त्व तथा सोमतत्त्व का भी अपने साथ मेल करता है। अग्नितत्त्व तेजस्विता का प्रतीक है तो सोम शान्ति का। एवं, इस यज्ञशील पुरुष में 'शक्ति व शान्ति' दोनों का समन्वय होता है। ७. इस प्रकार इन देवताओं से अपना मेल करता हुआ यह यज्ञशील पुरुष **स्विष्टकृत्**=अपने उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है। इसके द्वारा **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किया जाता है। **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता जो **भिषक्**=सब रोगों की चिकित्सक है, वह **इष्टः**=अपने साथ सङ्गत की जाती है। वस्तुतः प्रभु-स्मरणपूर्वक मनुष्य निर्माण के कामों में लगा रहे और किसी से द्वेष न करे तो वह रोगों का शिकार नहीं हो सकता। बीमार वही पड़ा करते हैं जो (क) प्रभु को भूल जाते हैं। (ख) आलसी बने रहकर उत्तम कार्यों में अपने को व्यापृत नहीं रखते तथा (ग) औरों से द्वेष करते रहते हैं, औरों की उन्नति से ईर्ष्या के कारण जलते रहते हैं। ८. इस यज्ञशील पुरुष के द्वारा **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **वनस्पतिः**=यह वानस्पतिक भोजन ही **स्विष्टः**=अपने साथ सङ्गत किया जाता है। ९. साथ ही **आज्यपाः देवाः**=घृत आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले विद्वान् पुरुष **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किये जाते हैं, अर्थात् यह यज्ञशील पुरुष उत्तम सात्त्विक भोजन करता है तथा विद्वानों के साथ अपना मेल बढ़ाता है। १०. इसी यज्ञशील पुरुष से **अग्निना** =इस यज्ञिय अग्नि के द्वारा **अग्निः**=वह परमात्मा **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किया जाता है और यह **होता**=सब पदार्थों को देनेवाला या संसारयज्ञ को चलानेवाला प्रभु **होत्रे**=इस दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिए **स्विष्टकृत्**=सब उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है। यह सृष्टियज्ञ का होता प्रभु **यशः**=यश का **न**=और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **अपचितिम्**=पूजा को तथा **स्वधाम्**=शरीर के धारण करनेवाले अन्न को **दधत्**=धारण करता है। ११. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=तुम शरीर में व्यापन करो और इस सबके लिए **यज**=यज्ञशील बनो।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष सब अच्छाइयों को अपने साथ सङ्गत करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-वरण

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन्पक्तीः पचन्पुरोडाशान् बध्नन्नश्विभ्यां छागꣳसरस्वत्यै मेषमिन्द्रायऽऋषभꣳसुन्वन्नश्विभ्याꣳसरस्वत्याऽइन्द्राय सुत्राम्णे

सुरासोमान् ॥५९॥

१. पिछले ११ मन्त्रों में अन्तिम आदेश है 'यज'=तू यज्ञ करनेवाला बन। १० इन्द्रियाँ तथा ११वें मन को तू यज्ञ में लगानेवाला बन। इस आदेश का पालन करनेवाला **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला यज्ञशील पुरुष **अद्य**=आज **होतारं अग्निम्**=सब सुखों को देनेवाले, वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार के द्वारा सुखी व नीरोग करनेवाले अग्नि को **अवृणीत**=वरता है, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करने का व्रत लेता है। २. उसी के लिए **पचन् पक्तीः**=नाना पाकों को पकाता है और **पुरोडाशान् पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः—कौ० १३।५) अपनी आत्मा का भी ठीक परिपाक करता है। शुद्ध आत्मभाव से सामग्री को तैयार करके अग्निहोत्र करता है। ३. यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **छागम्**=अजमोद ओषधि का **बध्नन्**=प्रबन्ध करता है, **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषम्**=मेढ़ासिंगी ओषधि का प्रबन्ध करता है और **इन्द्राय**=इन्द्रियों की शक्ति के विकास के लिए **ऋषभम्**=ऋषभक ओषधि का प्रबन्ध करता है। ४. इन ओषधियों के यज्ञों की व्यवस्था के साथ-साथ यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए तथा **सुत्राम्णे इन्द्राय**=उत्तमता से अपना त्राण करनेवाले इन्द्र के लिए **सुरासोमान्**=(सुर to govern) आत्मशासन व आत्मनियन्त्रण से युक्त वीर्यकणों का **सुन्वन्**=अभिषेक व उत्पादन करता है। वस्तुतः नियन्त्रित वीर्यशक्ति के बिना 'प्राणापान-ज्ञान व आत्मशक्ति' की प्राप्ति सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञ के लिए आत्मभाव को पुष्ट करें। प्राणापान-ज्ञान व आत्मशक्ति के विकास के लिए जहाँ विविध औषध-द्रव्यों की आहुति दी जाए वहाँ वीर्यकणों का संयम के द्वारा शरीर में ही व्यापन किया जाए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

देवो वनस्पतिः

सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्रायऽ ऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचताग्रृभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् ॥६०॥

१. गतमन्त्र के अग्नि का वरण करनेवाले यजमान के लिए **अद्य**=आज **देवः**=दिव्य गुणों से युक्त, उत्तम व्यवहार को सिद्ध करनेवाला यह **वनस्पतिः**=संसार वृक्ष **सूपस्थाः**=उत्तम उपस्थानवाला होता है (सुष्ठु उपतिष्ठते=सुष्ठु सेवते), अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए यह संसार कल्याण-ही-कल्याण करता है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **छागेन**=अजमोद ओषधि से यह संसार-वृक्ष उसका उत्तम सेवन करनेवाला **अभवत्**=होता है। इसी प्रकार **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषेण**=मेढ़ासिंगी ओषधि से यह उत्तम सेवन करनेवाला होता है और **इन्द्राय** =आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऋषभेण**=ऋषभक ओषधि से यह उत्तम सेवन करनेवाला होता है। ३. **तान्**=उन औषध-द्रव्यों को **मेदस्तः**=गूदे से **अक्षन्**=खाते हैं, उनके उस मध्यभाग का ग्रहण करते हैं जो मध्यभाग औषध-गुणों से युक्त होता है। **प्रतिपचता**=प्रत्येक अवयवों का **अगृभीषत**=ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनके पक्व अवयवों के ग्रहण से **पुरोडाशैः**=आत्मभावों से **अवीवृधन्त**=बढ़ते हैं। इस प्रकार इन ओषधियों के समुचित प्रयोग से आत्मशक्ति का विकास होता है। ४. **अश्विना**=प्राणापान,

सरस्वती=ज्ञानाधिदेवता तथा **सुत्रामा इन्द्रः**=उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र ये **सुरासोमान्**=आत्मनियन्त्रण से युक्त अथवा ऐश्वर्य से युक्त सोमकणों का **अपुः** =पान करते हैं, अर्थात् ये वीर्य की रक्षा में सहायक होते हैं और वीर्यरक्षा द्वारा स्वयं वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष के लिए यह संसार-वृक्ष उत्तम औषध-द्रव्यों से उपस्थान (सेवन) करनेवाला होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिग्विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

भद्रा वाणी

त्वाम॒द्यऽऋ॑षऽआर्षेयऽऋषीणां नपादवृणीता॒यं यज॑मानो ब॒हुभ्य॒ऽआ सङ्ग॑तेभ्यऽए॒ष मे॑ दे॒वेषु॒ वसु॒ वार्यायक्ष्यत॒ऽइति॒ ता या दे॒वा दे॑व॒ दाना॒न्यदु॒स्तान्य॑स्मा॒ऽआ च॒ शास्स्वा च॑ गुरस्वेषि॒तश्च॑ होत॒रसि॑ भद्र॒वाच्या॑य॒ प्रेषि॑तो॒ मानु॑षः सूक्तवा॒काय॑ सूक्ता ब्रू॑हि ॥६१॥

१. संसार में मनुष्य को 'शतायु पुत्र-पौत्रों का, भूमि के महान् आयतन=विस्तृत क्षेत्र का, अन्य दुर्लभ काम्य पदार्थों का, पशु-हस्ति-हिरण्य व अश्वों का व दीर्घ जीवन' का प्रभोलन भी कभी-कभी प्राप्त हो जाता है, परन्तु यज्ञशील पुरुष इनके प्रलोभन में न पड़कर आत्मा का ही वरण करता है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अद्य**=आज **अयं यजमानः**=यह यज्ञशील पुरुष **बहुभ्यः**=बहुत-सी **आसङ्गतेभ्यः**=चारों ओर से एकत्र हुई-हुई इन प्रेयमार्ग की वस्तुओं से ऊपर उठकर हे **ऋषे**=सर्वज्ञ, **आर्षेय**=ऋषियों को लिए हितकर, **ऋषीणां नपात्**=ऋषियों के न गिरने देनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **अवृणीत**=वरता है, क्योंकि वह समझता है कि **एषः**=यह आप ही **मे**=मुझे **देवेषु**=सब देवों में होनेवाले **वारि**=वरणीय **वसु**=निवास के लिए आवश्यक वस्तु का **आयक्ष्यते**=सर्वथा दान करेंगे। २. **इति**=अतः हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **या** =जिन **दानानि**=दानों को **देवाः अदुः**=देवलोग देते हैं **तानि**=उन दानों को **अस्मै**=इस आपका वरण करनेवाले के लिए आप **आशास्स्व**=इच्छा कीजिए **च**=और **आगुरस्व**=देने के लिए उद्योग कीजिए, हाथ ऊपर उठाइए। ३. इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **इषितः असि**=प्रेरणा दिया गया है कि **मानुषः**=मनुष्य इस संसार में **भद्रवाच्याय**=कल्याणकर, सुखात्मक वाणी के लिए **प्रेषितः**=भेजा गया है, **सूक्तवाकाय**=सुन्दर कथनवाले वाक्यों के लिए भेजा गया है, अतः तू **सूक्ता ब्रूहि**=उत्तम वचनों को ही बोलनेवाला हो। वास्तव में यह भद्रवाणी ही उसे देवों से प्राप्य उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराएगी।

भावार्थ—हम प्रेय व श्रेय में से श्रेय का वरण करते हुए परमात्मा का ही वरण करें। इस वरण से सब देवों से प्राप्य दान तो हमें प्राप्त होंगे ही और भद्रवाणी को बोलते हुए हम इस संसार को स्वर्ग बना पाएँगे।

नोट : इस अध्याय का मुख्य विषय यज्ञिय जीवनवाला बनना है। भोगप्रवण जीवन से ऊपर उठकर यह अपनी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण नहीं होने देता और तेजस्वी बनकर अपने व्यवहार में भी बड़ा मधुर होता है, परिणामतः इसका तेज बढ़ता है, यह तेजस्वी बनता है। इसी शब्द से अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इत्येकविंशोऽध्यायः॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु की धरोहर

तेजोऽसि शुक्रममृतमायुष्पाऽआयुर्मे पाहि।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे ॥१॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **तेजः असि**=अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर तू तेजस्वी बना है। **शुक्रम्**=वीर्यवान् हुआ है और अतएव **अमृतम्**=तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं हुआ है। २. **आयुष्पाः**=इस प्रकार आधि-व्याधियों से अनाक्रान्त होकर तू अपने आयुष्य से धर्मरक्षा करनेवाला बना है। तू **आयुः मे पाहि** =मेरे द्वारा दिये हुए जीवन की रक्षा करना। इस जीवन को मेरी धरोहर समझना और इसे क्षीण व नष्ट न होने देना। ३. अब जीव प्रभु को उत्तर देता हुआ कहता है कि 'मैं आपके निर्देश को न भूलता हुआ इस आयुष्य के रक्षण के लिए (क) **त्वा सवितुः देवस्य प्रसवे**=तुझ प्रेरक देव की अनुज्ञा में ही प्रत्येक वस्तु का **आददे**=ग्रहण करता हूँ। **'आज्यं तौलस्य प्राशान'**=घृत को तोलकर खाओ' इस आपके निर्देश के अनुसार मैं प्रत्येक पदार्थ को मात्रा में ही स्वीकार करता हूँ। (ख) **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से **आददे**=प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। बिना प्रयत्न के मैं किसी भी वस्तु को लेना नहीं चाहता। मुफ़्त की वस्तु मुझे भोगमार्ग की ओर ले-जाती है। (ग) **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को उतना ही ग्रहण करता हूँ जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त होता है। वस्तुओं के उपभोग में मेरा मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' तभी मैं अपने प्रकृष्ट विकास का रक्षक बनकर मन्त्र का ऋषि 'प्रजापतिः' बनता हूँ।

भावार्थ—हमें 'तेजस्वी, वीर्यवान् व दीर्घजीवी' बनना है। आयु को प्रभु की धरोहर समझना है। आयु के रक्षण के लिए (क) प्रभु के आदेश के अनुसार प्रत्येक वस्तु का माप-तोलकर प्रयोग करना है। (ख) प्रयत्न से अर्थों का उपार्जन करना है और (ग) प्रयोग में मापक 'पोषण' को रखना है न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' को।

ऋषिः—**यज्ञपुरुषः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ऋत की रशना

इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्वऽआयुषि विदथेषु कव्या।
सा नोऽअस्मिन्त्सुतऽआ बभूवऽऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'तेजस्वी, वीर्यवान् व दीर्घजीवी' बनने के लिए **कव्या**=(कवयः) समझदार लोग, वस्तुओं के तत्त्व को समझनेवाले लोग, **पूर्वे आयुषि**=पहले ही जीवन में **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों के प्रसंगों में **इमाम्**=इस **ऋतस्य रशनाम्**=ऋत की रशना को, व्यवस्थित जीवन के दृढ़निश्चय को, **अगृभ्णन्**=स्वीकार करते हैं। प्रत्येक बात का ठीक समय व

ठीक स्थान पर होना 'ऋत' कहलाता है। 'रशना' शब्द मेखला का वाचक होता हुआ दृढ़निश्चय का प्रतीक है। आचार्य लोग विद्यार्थी को मेखला देते थे, उसे ज्ञानी बनने के लिए कमर कस लेने व दृढ़निश्चयी बनने का उपदेश देते थे। यह सब 'पूर्व आयुषि' पहले जीवन में, जीवन के पहले प्रयाण में ही कर लेना ठीक है। ऐसा कर लेने पर ही यात्रा ठीक आरम्भ हो जाती है। आचार्य लोग विद्यार्थी को ज्ञान देते थे और उसे ऋत के मार्ग पर चलने की दृढ़ प्रेरणा प्राप्त करा देते थे। २. **सा**=वह 'ऋत की रशना' **नः**=हमें **अस्मिन् सुते**=इस जीवन-यज्ञ में या इस उत्पन्न हुए-हुए जगत् में **आबभूव**=सदा व्याप्त किये रक्खे, अर्थात् हम अपने इस जीवन में इस 'ऋत की रशना' को कभी उतार न दें, हमारा ऋत के मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय सदा बना रहे। ३. हमारे लिए यह मेखला **ऋतस्य सामन्**=ऋत की उपासना में (सामवेद=उपासनावेद) **सरम्**=कर्तव्यमार्ग का **आरपन्ती**=उपदेश देती है। हम सदा इस ऋत के उपासक बने रहें। 'सब कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले बनना' ही ऋत का उपासन है। ऋत का उपासक अपने कर्त्तव्यमार्ग को स्पष्ट देखता है और उसका आचरण करता है, इसका सारा जीवन ही यज्ञमय-सा हो जाता है अतः इसका नाम ही 'यज्ञपुरुष' हो जाता है। ऋत ही यज्ञ है। ऋत की रशना का ग्रहण करनेवाला यह 'यज्ञपुरुष' है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रारम्भ में ही ऋत की रशना का धारण करें। इसे इस जीवनयज्ञ में धारण किये रक्खें। यह मेखला हमें सदा कर्त्तव्यमार्ग का उपदेश देनेवाली हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

रशना-(मेखला)-बन्धन

अभिधाऽअसि भुवनमसि यन्तासि धर्त्ता।
स त्वमग्निं वैश्वानरꣳसप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः ॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि यह ऋत की रशना हमें इस उत्पन्न जगत् में सदा व्याप्त किये रक्खे, अर्थात् हम इस ऋत की रशना को कभी उतार न दें। यह ऋत की रशना को सदा धारण करनेवाला 'अभिदधाति इति अभिधाः' है। तू **अभिधाः**=(to lay or put on, fasten, bind) मेखला को बाँधने के कारण 'अभिधाः' नामवाला **असि**=है। २. **भुवनम् असि**=ऋत की रशना को धारण करने के कारण तू भुवन है, सबका आश्रय है। 'भवन्ति भूतानि यस्मिन्' जिसमें सब प्राणी रहते हैं। अथवा 'भुवन' का अर्थ जल भी है, अतः तू जल की भाँति शान्त होता है। ३. **यन्ता असि**=तू अपना नियमन करनेवाला है, इस शरीररूप रथ के इन्द्रिय-अश्वों को काबू में रखनेवाला है। ४. इन्द्रियाश्वों को काबू में रखने से **धर्त्ता**=तू सबका धारण करनेवाला है। ५. **सः त्वम्** =वह तू **स्वाहाकृतः**=स्वार्थत्याग से परिष्कृत जीवनवाला हुआ-हुआ **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **सप्रथसम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार से युक्त, अत्यन्त विशाल, सर्वव्यापक **अग्निम्**=सबकी अग्रगति के साधक प्रभु को **गच्छ**=प्रातः-सायं ध्यान द्वारा प्राप्त हो, अर्थात् प्रभु का स्मरण करनेवाला बन।

भावार्थ—हम ऋत की रशना को बाँधकर अपने जीवन को नियन्त्रित करते हुए सभी का धारण करनेवाले बनें और स्वार्थत्याग से जीवन को सुन्दर बनाते हुए प्रातः-सायं उस सर्वव्यापक, सर्वहितकारी प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अश्व-बन्धन

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्। तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि॥४॥

१. हे **ब्रह्मन्**=(बृहि वृद्धौ) अत्यन्त बढ़े हुए (वर्धमानं स्वे दमे) **अश्वम्**=(अश्नुते) सर्वव्यापक **त्वा**=आपको **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजाओं का पति बनने के लिए **भन्त्स्यामि**=बाँधूँगा, अर्थात् ध्यान के द्वारा अपने हृदय में आपका धारण करूँगा। २. **तेन**=उस अश्व-बन्धन के द्वारा मैं **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजाओं की रक्षा के लिए **राध्यासम्**=सिद्धि को प्राप्त करूँ, समर्थ होऊँ, अर्थात् मैं प्रतिदिन हृदयदेश में प्रभु का बन्धन करता हुआ दिव्य गुणों को व प्रजापतित्व को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. **तं बधान**=सर्वव्यापक प्रभु को तू बाँधनेवाला बन और **तेन**=उससे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजा का पति बनने के लिए **राध्नुहि**=सिद्ध हो, तू दिव्य गुणों को प्राप्त कर तथा प्रजा का रक्षक बन।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करता है और प्रजा का रक्षक बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**अतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

अश्व-प्रोक्षण

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि। योऽअर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः। परो मर्त्तः परः श्वा॥५॥

१. **प्रजापतये**=प्रजा का पति (रक्षक) बनने के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे गतमन्त्र के अश्व, अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा को **प्रोक्षामि**=मैं अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। २. **इन्द्राग्निभ्याम्**=अपने अन्दर इन्द्र व अग्नितत्त्व के विकास के लिए, अर्थात् बल व प्रकाश की वृद्धि के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं अपने अन्दर सिक्त करता हूँ। ३. **वायवे**=वायुतत्त्व के विकास के लिए, अर्थात् (वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों के हिंसन के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझको **प्रोक्षामि**=मैं अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। ४. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः** =शरीर में अंशरूपेण प्रविष्ट सब देवों के लिए, अर्थात् चक्षु आदि में प्रतिष्ठित सूर्यादि देवों से स्वास्थ्य के लिए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्) **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। ५. **सर्वेभ्यः देवेभ्यः**=इस बाह्य जगत् में स्थित सूर्यादि देवों की अनुकूलता के लिए तथा दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों की कृपादृष्टि के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझको **प्रोक्षामि**=अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ, अर्थात् हृदय में प्रभु का स्मरण होने पर सब देवों की अनुकूलता होती है। ६. इसके विपरीत **यः**=जो **अर्वन्तम्**=उस हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले इस प्रभु को (अर्वः ईरणवान्-प्रेरकः नि० २०।३१) **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, अर्थात् उसे भुलाकर संसार में आसक्त हो जाता है **तम्**=उसको **वरुणः**=वह श्रेष्ठ बनानेवाला प्रभु **अभ्यमीति**=(to pain, to attack) इस वृत्ति के लिए पीड़ित करता है। यह

मर्त्तः=(अश्वं जिघांसुः) परमेश्वर को भूलकर विषयों के पीछे मरनेवाला मनुष्य **परः**=पराभूत होता है, अधस्पद को प्राप्त कराया जाता है। यह **श्वा**=विषयास्थियों को चाटनेवाला कुत्ते-जैसा मनुष्य **परः**=पराकृत होता है, दूर किया जाता है, समाज में आदर नहीं पाता।

भावार्थ—हृदयदेश में प्रभु के स्मरण से मनुष्य प्रजापति बनता है, बल व प्रकाश को प्राप्त करता है, गतिशीलता से बुराइयों को दूर करता है, चक्षु आदि इन्द्रियों को स्वस्थ रख पाता है, सूर्यादि देव व विद्वान् इसके अनुकूल होते हैं। प्रभु को भूलनेवाला पीड़ित होता है, अन्ततः निरादृत होता है और अधोगति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

दशकं धर्मलक्षणम् (धर्मलक्षण दशक)

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहापां मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा ॥६॥

१. **अग्नये स्वाहा**=मैं अग्नि के समान तेजस्वी होने के लिए स्वार्थत्याग करता हूँ अथवा **स्व**=उस आत्मा (परमात्मा) के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमाय स्वाहा**=सोमतत्त्व के लिए, अर्थात् शान्त व सौम्य जीवन के लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। स्वार्थ-त्याग से जहाँ मैं तेजस्वी बनता हूँ वहाँ शान्ति को धारण करनेवाला होता हूँ। ३. **अपां मोदाय**=कर्मों के अन्दर आनन्द प्राप्ति के लिए **स्वाहा** =मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति सदा क्रियाशील होता है। प्रभु की भाँति उसकी क्रिया स्वाभाविक होती है। ४. **सवित्रे स्वाहा**=सविता व निर्माणात्मक कर्मों में लगे रहने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ में ग्रस्त होने पर हम ध्वंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। ५. **वायवे**=इस निर्माणात्मक कर्मों में लगे रहने के लिए, गतिशील बने रहने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ६. **विष्णवे स्वाहा**=(विष्लृ व्याप्तौ) अपनी मनोवृत्ति को व्यापक व उदार बनाने के लिए मैं स्वार्थ-त्याग करता हूँ। ७. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय बनने के लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ८. **बृहस्पतये**=देवताओं के भी गुरु—ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। ९. इस ज्ञान को प्राप्त करके **मित्राय स्वाहा**=सबके साथ स्नेह करने के लिए स्वार्थत्याग करता हूँ। १०. **वरुणाय स्वाहा**=द्वेष-निवारण के लिए, अर्थात् द्वेष से दूर होने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ।

भावार्थ—जब मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठता है और प्रभु के प्रति अर्पण की वृत्तिवाला बनता है तब वह अपने अन्दर 'अग्नि, सोम, अपां मोद, सविता, वायु, विष्णु, इन्द्र, बृहस्पति, मित्र और वरुण' इन दस तत्त्वों को धारण करनेवाला बनता है। यही दशक उसका धर्म हो जाता है। वह इस दशलक्षण धर्म को धारण करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**[क], **स्वराडत्यष्टिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

उनन्चास मरुत

[क]हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहाऽवक्रन्दाय स्वाहा प्रोथते स्वाहा प्रप्रोथाय स्वाहा गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा सन्दिताय स्वाहा वल्गते [र]स्वाहासीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा जाग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृताय स्वाहा सꣳहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहाऽयनाय स्वाहा प्रायणाय स्वाहा ॥७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रयत्नवन्तो जीवादयः**। छन्दः—**भुरिग्धृतिः**[क], **भुरिगतिधृतिः**[र]। स्वरः—**ऋषभः**[क], **षड्जः**[र]॥

[क]यते स्वाहा धावते स्वाहोद्द्रावाय स्वाहोद्द्रुताय स्वाहा शूकाराय स्वाहा शूकृताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहोत्थिताय स्वाहा जवाय स्वाहा बलाय स्वाहा विवर्त्तमानाय स्वाहा विवृत्ताय स्वाहा विधून्वानाय स्वाहा [र]विधूताय स्वाहा शुश्रूषमाणाय स्वाहा शृण्वते स्वाहेक्षमाणाय स्वाहेक्षिताय स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा निमेषाय स्वाहा यदत्ति तस्मै स्वाहा यत्पिबति तस्मै स्वाहा यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा कुर्वते स्वाहा कृताय स्वाहा ॥८॥

१. छठे मन्त्र के अनुसार स्वार्थत्याग करने पर व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने पर अग्नि आदि तत्त्वों के शरीर में विकसित होने का उल्लेख था। अब सातवें व आठवें मन्त्र में उसी प्रकार स्वार्थत्याग से व प्रभु के प्रति अर्पण से शरीर में उननचास मरुतों व प्राणभेदों के ठीक से कार्य चलने का उल्लेख करते हैं। शरीर में ये प्राणवायु भिन्न-भिन्न रूप में होकर सारे शरीर की विविध क्रियाओं को सिद्ध करती है। ये भेद उननचास हैं—अतः ये प्राण=मरुत उननचास कहलाते हैं। इन उननचास मरुतों की क्रियाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १. **हिङ्काराय स्वाहा**=(शुक्लमेव हिङ्कारः। जै०उ० १।३४।१) अपने जीवन को शुक्ल बनाने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ ही मलिनता है। इसके त्याग से मेरा जीवन शुद्ध होता है। उठने पर सबसे पूर्व शोधन ही आवश्यक होता है, अतः इस शोध से ही मन्त्र को प्रारम्भ किया गया है। 'प्राणो वै हिङ्कारः' (श० ४।२।२।११)। प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए मैं स्वार्थभाव से ऊपर उठता हूँ। स्वार्थभाव में भोगप्रवणता बढ़ती है और प्राणशक्ति का ह्रास होता है। 'वज्रो हिङ्कारः' (कौ० ३।२)। प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा मैं अपने इस शरीर को वज्रतुल्य बनाता हूँ। २. **हिङ्कृताय स्वाहा**=जिसने अपना शोधन कर लिया है, प्राणशक्ति की वृद्धि की है तथा शरीर को वज्रतुल्य बनाया है, उसके लिए हम (सु+आह) शुभ शब्द बोलते हैं, प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. **क्रन्दते**=(क्रदि आह्वाणे) प्रभु को पुकारनेवाले का **स्वाहा**=हम आदर करते हैं। ४. **अवक्रन्दाय**=प्रभु को नीचे—अपने अन्दर बुलाने के लिए हम **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करते हैं। प्रातः उठकर शोधन की प्रक्रिया के बाद प्रभु का स्मरण व स्तवन ही चलना चाहिए। इस प्रभु के आह्वान से हमें शुद्ध बनने में सहायता मिलती है। ५. **प्रोथते**=(प्रोथृ पर्यापणे subdue, overcome) प्रभु-स्मरण के द्वारा कामादि शत्रुओं का विजय करनेवाले के लिए हम **स्वाहा**=आदर के शब्द बोलते हैं। ६. **प्रप्रोथाय स्वाहा**=वासना-विजय के प्रकृष्ट कार्य के लिए, इन शत्रुओं को जीतने की क्षमता प्राप्त करने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। ७. अब प्रभु-स्मरण के पश्चात् स्वाध्याय का क्रम आता है। उस स्वाध्याय में मैं विज्ञान के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता हूँ अथवा विज्ञान के द्वारा प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ता हूँ। इस **गन्धाय स्वाहा**=ज्ञान की गन्ध के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ से ऊपर उठकर ही मैं अपनी बुद्धि को शुद्ध करता हूँ और अपने में ज्ञान का सम्बन्ध कर पाता हूँ। ८. **घ्राताय स्वाहा**=इस ज्ञान-गन्ध का ग्रहण करनेवाले के लिए मैं आदरभाव धारण करता हूँ। ९. स्वाध्यायानन्तर **निविष्टाय**=अपने कार्यों में लग जानेवाले पुरुष के लिए मैं **स्वाहा**=शुभ शब्द बोलता हूँ। १०. इन कार्यों को करते समय **उपविष्टाय स्वाहा**=सदा प्रभु के समीप स्थित के लिए मैं

आदर के शब्द कहता हूँ। ११. इन कार्यों को करते हुए **सन्दिताय स्वाहा**=(सम्यक् दितं खण्डनं यस्य सः) वासनाओं व आलस्य की भावना का सम्यक् खण्डन करनेवाले के लिए हम आदर करते हैं। १२. **वल्गते स्वाहा**=आलस्य को छोड़कर मधुरता से गति करते हुए का हम आदर करते हैं। १३. **आसीनाय स्वाहा**=कर्म करने के बाद अब आराम के लिए बैठे हुए के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १४. **शयानाय स्वाहा**=लेटनेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १५. **स्वपते स्वाहा**=सोनेवाले के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। १६. अब सोने के बाद **जाग्रते स्वाहा**=जागनेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १७. **कूजते स्वाहा**=जागने के बाद अव्यक्त रूप में, मानस जप के रूप में प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले का हम आदर करते हैं १८. **प्रबुद्धाय स्वाहा**=अब खूब अच्छी प्रकार जागरित हो गये के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। १९. **विजृम्भमाणाय स्वाहा**=अब गात्रों का विविध नयन करनेवाले के लिए, अर्थात् सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को फैलानेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। २०. **विचृताय**=(चृती दीप्तौ) गात्रविनाम के द्वारा दीप्त होनेवाले का हम आदर करते हैं। २१. **संहानाय**=**'अत्रा जहाम अशिवा ये असन्'** इस मन्त्रभाग की भावना के अनुसार अशिव को छोड़नेवाले का हम आदर करते हैं। २२. **उपस्थिताय स्वाहा**=अशुभ को छोड़कर प्रभु के समीप पहुँचे हुए का हम आदर करते हैं। २३. **अयनाय स्वाहा**=(अयते) प्रभु की ओर जानेवाले का हम आदर करते हैं। २४. **प्रायणाय स्वाहा**=(प्रकृष्टमयते) सदा प्रकृष्ट मार्ग से जानेवाले का हम आदर करते हैं।

२५. **यते स्वाहा**=गतिशील का हम आदर करते हैं। २६. **धावते स्वाहा**=गतिशीलता के द्वारा अपना शोधन करनेवाले का हम आदर करते हैं। २७. **उद्द्रावाय स्वाहा**=उत्कृष्ट गतिवाले का हम आदर करते हैं। २८. **उद्द्रुताय**=जो विषयों से **उत्**=ऊपर (out) उठ गया है, उसका हम आदर करते हैं। २९. **शूकाराय स्वाहा**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। ३०. **शूकृताय स्वाहा**=शीघ्रता से शिक्षित हुए का हम आदर करते हैं। ३१. **निषण्णाय**=अपने कार्यों में निश्चित रूप से स्थित का हम आदर करते हैं। ३२. **उत्थिताय स्वाहा**=उठ खड़े हुए के लिए, अर्थात् सदा कार्यों में उद्युक्त का हम आदर करते हैं। ३३. **जवाय**=वेगवान् के लिए, क्रियाओं में गतिवाले का हम आदर करते हैं। ३४. **बलाय स्वाहा**=क्रियाओं में सतत वेग के द्वारा उत्पन्न बल के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। आलस्य=आराम को छोड़कर प्रबलता से कर्मों को करनेवाला ही सबल बनता है। **३५. विवर्त्तमानाय**=विशिष्ट रूप से क्रियाओं में चेष्टा करनेवाले का हम आदर करते हैं। ३६. **विवृत्ताय**=विशिष्ट वर्तन के कारण जो उत्कृष्ट चरित्रवाला बना है (विशिष्टं वृतं यस्य) उसके लिए हम आदर करते हैं। ३७. **विधूवानाय स्वाहा**=जो विशिष्ट वृत्तवाला बनकर बुराइयों को अपने से कम्पित करके दूर कर रहा है, उसके लिए शुभ शब्द कहते हैं। ३८. **विधूताय स्वाहा**=बुराइयों को कम्पित करते हुए जो 'विधूतपाप्मा' बन गया है, उसका हम आदर करते हैं। ३९. **शुश्रूषमाणाय स्वाहा**=विधूतपाप्मा बनने के लिए गुरुओं का उपदेश सुनने की इच्छावालों का तथा गुरुओं का उपासन करनेवाले का हम आदर करते हैं। ४०. **शृण्वते स्वाहा**=गुरुओं के उपदेश को सुननेवाले का लिए हम आदर करते हैं। ४१. **ईक्षमाणाय स्वाहा**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रकृति का सूक्ष्मता से निरीक्षण करनेवाले का हम आदर करते हैं। ४२. **ईक्षिताय स्वाहा**=प्रकृति के तत्त्वों के द्रष्टा का हम आदर करते हैं। ४३. **वीक्षिताय स्वाहा**=वीक्षित का—ठीक conecption बनानेवाले का हम आदर करते हैं। ४४. इस प्रकृति-निरीक्षण के बाद **निमिषाय स्वाहा** =आँख आदि के व्यापार को रोककर

अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखनेवाले का हम आदर करते हैं। ४५. **यत् अत्ति तस्मै स्वाहा**=आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से जो खाता है, सात्त्विक भोजन करता है, अन्न का सेवन करता है उसका हम आदर करते हैं। ४६. **यत् पिबति तस्मै स्वाहा**=इसी उद्देश्य से जो सात्त्विक दूध आदि का पान करता है, उसका हम आदर करते हैं। ४७. **यत् मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा**=शरीर में से मूत्र आदि के क्षार मलांश को दूर करनेवाले प्राण का हम आदर करते हैं। ४८. **कुर्वते स्वाहा**=शोधनकार्य को करते हुए का हम आदर करते हैं और ४९. **कृताय स्वाहा** =मलादि के शोधनकार्य को कर चुके प्राण के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। इस प्रकार की प्रशंसा करते हुए उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीरों में प्राण के ४९ भेद भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। उन्हीं से अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सब कार्य चलते हैं। प्राणों की क्रिया से ही स्वास्थ्य व सुबुद्धि प्राप्त होती है, अतः विविध रूपों में उल्लिखित इन सब कार्यों को करते हुए प्राणों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

भर्ग का वरण

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥९॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित हमारे सब प्राण ठीक कार्य करेंगे तो हम इस प्रार्थना के योग्य होंगे कि **सवितुः** =सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **तत् वरेण्यम्**=उस वरण करने योग्य **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=ध्यान करें व धारण करें। शरीर में प्राणशक्ति के ठीक से कार्य न करने पर तेजस्विता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। वस्तुतः संसार में जीव जब 'प्रभु की तेजस्विता' व 'प्रकृति के सौन्दर्य' में ग़लती से प्रकृति के सौन्दर्य का चुनाव कर बैठता है तब प्रेयमार्ग पर चलते हुए अधिकाधिक भोगों को जुटाता है और उनका आनन्द लेता हुआ अपनी शक्तियों को क्षीण कर बैठता है २. परन्तु प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनाना ऐसा है **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट प्रेरणा देता है। प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनानेवाला व्यक्ति कभी भोगमार्ग की ओर नहीं जाता और भोगमार्ग की ओर न जाने से क्षीणशक्ति नहीं होता। ३. संसार में भोगमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही स्वार्थप्रधान होकर द्वेष में फँसता है। यह प्रभु के तेज का वरण करनेवाला सभी का मित्र होता है, प्रभु के वरेण्य भर्ग का वरण करनेवाला 'विश्वामित्र' होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज का वरण करें। यह लक्ष्य हमारी बुद्धियों को शुद्ध बनाए रक्खेगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'चेत्ता-देवता-पदम्'

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ ह्वये। स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम् ॥१०॥

१. गतमन्त्र का 'विश्वामित्र' बड़ी समझदारी से ठीक मार्ग पर चलने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला कहलाता है। यह कहता है कि मैं **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए उस प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ जो

हिरण्यपाणिम्='हिरण्यं पाणौ यस्य' हाथ में हिरण्य=सोना लिये हुए हैं। उस हिरण्यपाणि के प्राप्त हो जाने पर मुझे धन की आवश्कता ही क्या रहेगी? **सवितारम्**=वे तो सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक हैं अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले हैं। उस प्रभु को पा लेने पर ऐश्वर्य की क्या कमी रहेगी? हम प्रभु के अतिथि बनेंगे तो उस सर्वव्यापक विष्णु की पत्नी 'लक्ष्मी' ही हमारा आतिथ्य करेंगी। लक्ष्मी की हमें कमी क्यों होगी? 'हिरण्यपाणि' की भावना यह भी है कि वे प्रभु 'हितरमणीय पाणि' वाले हैं। उन प्रभु का हाथ हमारे सिरों पर होगा तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण होगा। २. **सः**=वे प्रभु **चेत्ता**=सर्वज्ञ हैं, सभी संज्ञानोंवाले हैं। इस प्रभु की उपासना मेरे ज्ञान को भी बढ़ानेवाली होगी। ३. **देवता**=वे देवता हैं। **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं, सभी को दीप्ति देकर चमकानेवाले हैं। ४. **पदम्**=**'पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः'** वे प्रभु जानने योग्य हैं, अन्तिम लक्ष्य वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के ही समीप हमें पहुँचना है। वहाँ न पहुँचने तक मनुष्य भटकता ही रहता है। **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=वे प्रभु ही यात्रा का चरम लक्ष्य हैं। वहीं शान्ति हैं, प्रभु को न पानेवालों को शान्ति कहाँ। **'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'** प्रभुनिष्ठ को ही शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

भावार्थ—प्रभु 'हिरण्यपाणि, सविता-चेत्ता-देवता व पद' हैं। उस प्रभु को ही प्राप्त करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

मही सुमति

देवस्य चेततो महीं प्र सवितुर्हवामहे। सुमतिःसत्यराधसम्॥११॥

१. **देवस्य**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज, देनेवाले, चमकनेवाले व चमकानेवाले **चेततः**=सर्वज्ञ **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की **महीम्**=महनीय महिमा को प्राप्त करानेवाली **सत्यराधसम्**=सत्य को सिद्ध करनेवाली (सत्यं राधयति) अथवा सत्य, अविनष्ट धनवाली (सत्यं राधो धनं यस्याः ताम्) **सुमतिम्**=शोभनबुद्धि को **प्रहवामहे**=प्रकर्षेण प्रार्थना करते हैं। २. प्रभु की यह कल्याणी मति वेद में प्रकाशित हुई है, उसे प्राप्त करके हम सचमुच अपने जीवनों को महिमावाला व सत्यधनवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु देव हैं, चेत्ता हैं। उनकी कल्याणी मति को प्राप्त करके हम महिमाशाली व सत्यरूप धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुमति संवर्धन

सुष्टुतिःसुमतीवृधो रातिःसवितुरीमहे। प्र देवाय मतीविदे॥१२॥

१. **सुमतीवृधः**=शोभन बुद्धि का वर्धन करनेवाले, **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को तथा **रातिम्**=दान को **ईमहे**=चाहते हैं—याचना करते हैं। वे सुमति का वर्धन करनेवाले प्रभु हमारी बुद्धियों को ऐसा बनाएँ कि हम प्राकृतिक भोगों में आसक्त होकर उसे भूल न जाएँ। सुमति को प्राप्त करके इन प्रत्येक वस्तु में सब प्राकृतिक भोग्य वस्तुओं को शरीरपोषण के दृष्टिकोण से मात्रा में उपयुक्त करते हुए प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा को देखें और उसका स्तवन करें। वे प्रभु सविता हैं, सभी वस्तुओं को जन्म देनेवाले हैं, सारा ऐश्वर्य उन्हीं का है। उनकी शरण में आकर

उस प्रभु की राति से, दान से, हम वञ्चित थोड़े ही रहेंगे। २. यह प्रभु का स्तवन **प्रदेवाय**=हमें प्रकृष्ट देव बनाने के लिए हो। उन-उन गुणों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करें और उस महान् देव के मार्ग पर चलते हुए देव बन जाएँ। ३. **मतीविदे**=यह प्रभु-स्तवन बुद्धि की प्राप्ति के लिए हो। यह स्तवन हमें भोगमार्ग से बचाकर उत्कृष्ट बुद्धिवाला बनाए। भोगासक्ति शरीर व बुद्धि दोनों ही को दुर्बल करती है।

भावार्थ—उस सविता का स्तवन करते हुए हम उत्कृष्ट दिव्य गुणों को प्राप्त करें और बुद्धि का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

देव-वीति

रा॒ति॑ꣳसत्प॑तिं म॒हे स॑वि॒तार॒मुप॑ ह्वये। आ॒स॒वं दे॒ववी॑तये॥१३॥

१. **रातिम्**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले दाता को **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्ययुक्त प्रभु को **महे**=(पूजनीय-उ०) पूजता हूँ और **उपह्वये**=पुकारता हूँ, प्रार्थना करता हूँ। प्रभु की पूजा से मैं भी प्रभु का छोटा रूप बन पाऊँगा। प्रभु 'राति' हैं, दाता हैं, मैं भी दाता बनूँगा, सारा स्वयं खा जानेवाला न होऊँगा। प्रभु 'सत्पति' हैं, मैं भी उत्तम कार्यों का रक्षक बनूँगा, सदा उत्तम कार्य करनेवाला होऊँगा। प्रभु 'सविता' हैं, मैं भी सदा निर्माण के कार्यों में लगूँगा। २. **आसवम्**=उस समन्तात् ऐश्वर्ययुक्त प्रभु को मैं पुकारता हूँ कि **देववीतये**=मेरे अन्दर दिव्य गुणों का प्रकाश हो, मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु 'राति-सत्पति, सविता व आसव' हैं। हम इस प्रभु की ही पूजा करें, प्रार्थना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव हो। इन दिव्य गुणों से हम भी समन्तात् ऐश्वर्ययुक्त हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

मति-आसव-भग

दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्म॒तिमा॑स॒वं वि॒श्वदे॑व्यम्। धि॒या भगं॑ मनामहे॥१४॥

१. **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्ययुक्त **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **मतिम्**=बुद्धि को **मनामहे**=(याचामहे) हम माँगते हैं। उस प्रभु की कल्याणी बुद्धि प्राप्त होने पर हम भी **सविता**=निर्माण के कार्यों के करनेवाले बनने का प्रयत्न करेंगे और उस कल्याणी मति के प्राप्त होने पर सदा उत्कृष्ट मार्ग से चलते हुए हम देव बनने के लिए यत्नशील होंगे। २. हम प्रभु के **आसवम्**=उस व्यापक ऐश्वर्य को चाहते हैं, जो ऐश्वर्य **विश्वदेव्यम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति में सहायक होता है। इस ऐश्वर्य के होने पर मनुष्य का बहुमूल्य जीवन जीविका-प्राप्ति में व्यर्थ व्यतीत न होकर अध्यात्म उन्नति में लगता है। 'आसवं' शब्द का अर्थ प्रेरणा भी है, हम उस प्रेरणा की याचना करते हैं जो हमें सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराती है। ३. **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **भगम्**=ऐश्वर्य को **मनामहे**=माँगते हैं। कर्मों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य ही हमारे जीवन में सद्गुणों को जन्म देनेवाला होता है। बिना श्रम के प्राप्त ऐश्वर्य मनुष्य के पतन का कारण होता है।

भावार्थ—हम सवितादेव की 'सुमति-प्रेरणा व ऐश्वर्य' को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**सुतम्भरः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्तोम द्वारा बोधन

अग्निꣳस्तोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम्। हव्या देवेषु नो दधत्॥१५॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से **बोधय**=जागरित कर। जब हम स्तवन के द्वारा उस प्रभु की भावना को हृदय में उद्बुद्ध करते हैं तब वह प्रभु हमारी अग्रगति का कारण बनते हैं। २. वे प्रभु **अमर्त्यम्**=विषयों के पीछे न मरनेवाले इस स्तोता को **समिधानः**=दीप्त करते हैं। जब व्यक्ति प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है तब उसकी चित्तवृत्ति वैषेयिक नहीं होती। वह विषयों को विष समझता हुआ उनसे दूर ही रहता है। इसकी चित्तवृत्ति को शुद्ध करके वे प्रभु इसे ज्ञान से समिद्ध कर देते हैं तथा ३. **नः**=हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **हव्या दधत्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। उन सात्त्विक पदार्थों का सेवन करते हुए हम मन की शुद्धि से दिव्य गुणोंवाले होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य स्तवन के द्वारा अपने हृदय में प्रभु की भावना को जागारित करे। यह प्रभु-स्मरण विषयों के पीछे मरने से बचाता है और हृदयों को प्रकाश से दीप्त करता है। प्रभु हव्य=यज्ञिय पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराके दिव्य गुणों से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से प्रभु-प्राप्ति

स हव्यवाडमर्त्यऽउशिग्दूतश्चनोहितः। अग्निर्धिया समृण्वति॥१६॥

१. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रेणी=सब उन्नतियों का साधक **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से **समृण्वति** =प्राप्त होता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए एकमात्र उपाय 'बुद्धिपूर्वक कर्म करना' है। अकर्मण्य को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, अतः मनुष्य को कर्मशील तो बनना ही है। वे कर्म उसे बुद्धिपूर्वक करने हैं। 'मनुष्य' का अर्थ **'मत्वा कर्माणि सीव्यति'** है—विचारकर कर्मों को करता है। २. वे प्रभु **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हमें उत्तम यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराके इन पदार्थों के सेवन से वे हमें शुद्ध बुद्धिवाला बनाते हैं। ३. **अमर्त्य**=वे प्रभु अमर्त्य हैं, उनके उपासन से हम भी अमर्त्य बनते हैं, ४. **उशिक्**=मेधावी हैं अथवा जीव का हित चाहनेवाले हैं। ५. **दूतः**=उसका हित करने के लिए वे उसे तपस्या की अग्नि में सन्तप्त करते हैं। तप की अग्नि में सन्तप्त होकर ही तो हम शुद्ध जीवनवाले बनेंगे। इन तपों को सामान्य लोग कष्ट समझते हैं और वे धर्मात्माओं को दुःखपतित समझ विचित्र-सी धारणाएँ बना लेते हैं। ६. वे प्रभु **चनोहितः**=(धनसा हितः) अन्न द्वारा हममें निहित होते हैं। अन्न की शुद्धि होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण के शुद्ध होने पर वहाँ प्रभु का निवास होता है।

भावार्थ—हम उस प्रभु को प्रज्ञापूर्वक कर्मों द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें जो प्रभु हमें हव्य पदार्थ प्राप्त कराते हैं, अमर्त्य बनाते हैं, हमारे भले की ही कामना करते हैं, तप की अग्नि में हमें तपाते हैं तथा सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे हृदयों में निहित होते हैं।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि का पुरःस्थापन

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ२॥ऽआ सादयादिह॥१७॥

१. इस संसार-यात्रा में कार्य करते हुए हम **दूतम्**=तपोऽग्नि में सन्तप्त करनेवाले

अग्निम्=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **पुरः दधे**=सामने रखते हैं, अर्थात् प्रभु के अविस्मरणपूर्वक ही हमारे सब कार्य होते हैं। इसी कारण उन कार्यों में अपवित्रता नहीं होती। २. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति करानेवाले परमात्मा की मैं **उपब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ। प्रातः-सायं उसके समीप उपस्थित होकर यही याचना करता हूँ कि 'हे सब अन्नों के पति प्रभो! हमें रोगरहित व बलकारक अन्न दीजिए'। उन सात्त्विक पदार्थों को प्राप्त कराइए जिनके सेवन से हमारे अन्तःकरण शुद्ध हों। ३. उनको शुद्ध करके हे प्रभो! आप **इह**=इस मानव-जीवन में, शुद्ध हृदय में, **देवान्**=दिव्य गुणों को **आसादयात्**=प्राप्त कराएँ। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए शुद्ध-हृदयता आवश्यक है।

भावार्थ—हम कर्मों को करते हुए प्रभु को न भूलें। प्रभु से हव्य (सात्त्विक) पदार्थों की याचना करें। प्रभु हमारे शुद्ध हृदयों में दिव्य गुणों की स्थापना करें। इस प्रकार प्रभु का सदा स्मरण करने से हम प्रभु के ही छोटे रूप 'विश्वरूप' बनते हैं।

ऋषिः—**अरुणत्रसदस्यू।** देवता—**पवमानः।** छन्दः—**पिपीलिकामध्याविराडनुष्टुप्।**
स्वरः—**गान्धारः॥**

अरुण-त्रसदस्यु

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः।
गोजीरया रꣳहमाणः पुरन्ध्या ॥१८॥

१. हे **पवमान**=मेरे हृदय को पवित्र करनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आप **सूर्यं अजीजनः**=मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं। २. मैं आपके आदेश के अनुसार **शक्मना**=शक्ति के हेतु से **पयः**=दूध को **विधारे**=धारण करता हूँ, अर्थात् दूध आदि पवित्र पदार्थों के सेवन से शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। ३. **गोजीरया**=(इमे लोका गौः—शतपथ० ६।५।२।१७) समस्त लोकों को जीवन देनेवाली **पुरन्ध्या**=(पुरं बहु दधाति) बहुतों को धारण करनेवाली शक्ति से **रंहमाणः**=इस जीवन-यात्रा में मैं आगे-और-आगे बढ़ता हूँ। मेरे सब कार्य इन पृथिवीस्थ (गो) प्राणियों के मिलाने के हेतु से तथा बहुत के धारण के दृष्टिकोण से ही हों। **'यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'**= जो अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित है वही तो सत्य है। मेरे सब कार्य भी पृथिवीस्थ प्राणियों के जिलानेवाले व बहुत का धारण करनेवाले हों। ४. इस प्रकार मेरा सारा जीवन गतिशील व्यक्ति का जीवन हो (ऋ गतौ) मैं 'अरुण' बनूँ। मेरी इस 'गतिशीलता' से दास्यववृत्तियाँ मुझसे भयभीत होकर दूर ही रहें और मैं मन्त्र का ऋषि 'त्रसदस्यु' बनूँ।

भावार्थ—पवित्रता से ज्ञान दीप्त होता है। शक्ति के लिए हमें सात्त्विक दुग्ध आदि पदार्थों का प्रयोग करना है। हम सदा पृथिवी आदि लोकों के प्राणियों के जीवन के उद्देश्य से तथा बहुत के धारण के उद्देश्य से क्रियाओं को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः।** देवता—**अग्निः।** छन्दः—**भूरिग्विकृतिः।** स्वरः—**मध्यमः॥**

विभूः-प्रभूः

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणाऽअसि। ययुर्नामाऽसि शिशुर्नामास्यादित्यानां पत्वान्विहि देवाऽआशापालाऽएतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳरक्षतेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥१९॥

१. **मात्रा**=तू माता से **विभूः**=व्यापक वृत्तिवाला=उदारवृत्तिवाला बना है। माता से तूने व्यापक हृदयता के संस्कार प्राप्त किये हैं। २. **पित्रा प्रभूः**=पिता से तूने शक्ति (प्रभाव) को प्राप्त किया है। ३. इस प्रकार माता-पिता से विशाल हृदय व शक्ति को प्राप्त करके **अश्वः असि**=तू कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, अर्थात् तू सदा कर्मशील जीवन बिताता है। **हयः असि**=(हय गतौ) तू गतिशील है। गतिशील ही क्या, **अत्यः असि**=(अत सातत्यगमने) तू निरन्तर गतिशील है। गति तो तेरा स्वभाव ही बन गया है। ४. इस गतिशीलता के कारण **मयः**=तू सुखरूप है। गतिशीलता के कारण तेरा जीवन सुखी है। ५. **अर्वा असि**=(अर्वति हिनस्ति च) सब बुराइयों का तू संहार करनेवाला है और बुराइयों के संहार के द्वारा ही **सप्तिः असि**=(सप सम्बन्धे) प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाला है। प्रभु के साथ सम्बद्ध होकर **वाजी असि**=तू शक्तिशाली बनता है। प्रभु की शक्ति का तुझमें प्रवाह होता है। ६. शक्तिसम्पन्न बनकर **वृषा असि**=तू लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाला बनता है। **नृमणा असि**=(नृषु मनो यस्य) तेरा मन सदा लोगों में रहता है, अर्थात् तू सदा उनकी उन्नति व सुख के वर्धन का विचार करता है। ७. इसके लिए तू **ययुः नाम असि**=खूब ही गतिशील बना है। लोगों की उन्नति व सुख के लिए अतिशयित प्रयत्नवाला होता है। **शिशुः नाम असि**=(श्यति कृशं करोति) अपने प्रयत्नों से तू लोगों के कष्टों को अत्यन्त क्षीण करनेवाला बनता है। अथवा (श्यति तनूकरोति) तू अपनी बुद्धि को भी अत्यन्त सूक्ष्म बनाता है, जिससे ठीक विचार से तू ठीक कार्य कर सके। ८. प्रभु कहते हैं कि तू **आदित्यानां पत्वा अन्विहि**=आदित्यों के मार्ग से चलनेवाला बन। आदित्यों का मार्ग यह है कि ये सर्वत्र विचरते हुए अच्छाई को ग्रहण करते हैं और बुराई को वहीं रहने देते हैं, बुराई का ध्यान नहीं करते। इस मार्ग पर चलने से प्रजा में कल्याण-ही-कल्याण होगा, सब लड़ाई-झगड़े समाप्त हो जाएँगे। ९. हे **आशापालाः**=इस **'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः'** की सब दिशाओं से रक्षा करनेवाले (आशा=दिशा) **देवाः**=देवो! **एतम्**=इस **अश्वम्**=शक्तिशाली तथा कर्मों में व्याप्त होनेवाले **प्रोक्षितम्**=जिसके शरीर में वीर्य का सिञ्चन हुआ है, वस्तुतः शरीर में वीर्य का सिञ्चन करके ही यह शक्तिशाली बना है, **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **मेधाय**=यज्ञरूप उत्तम कर्म के लिए **रक्षत**=सुरक्षित करो। 'मुख, पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' ये चार मुख्य द्वार हैं। इनके अधिष्ठातृदेव ही आशापाल देव हैं। इनके कार्य के ठीक होने पर मनुष्य का जीवन सुरक्षित रहता है, वह बीमारियों से पीड़ित नहीं होता। वह वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करके कर्मों में प्रवृत्त होता है। १०. **इह** =इस उल्लिखित जीवन में **रन्तिः**=आनन्द है। **इह रमताम्**=मनुष्य को चाहिए कि वह इसमें ही रमण करे, आनन्द का अनुभव ले। **इह**=इस जीवन में **धृतिः**=दृढ़ता व कष्टों से न घबराना होता है। **इह स्वधृतिः**=इस जीवन में हम आत्मतत्त्व का धारण-दर्शन करते हैं। **स्वाहा**=अतः इस जीवन के लिए हम प्रशंसा के शब्द कहते हैं। इसी जीवन को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इसके लिए अपने को दे डालते हैं। यही हमारा ध्येय हो जाता है।

भावार्थ—हम उदार हृदय व शक्तिशाली बनकर सदा क्रियाशील बनें। अपने को पवित्र कर प्रभु से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। इस सम्बन्ध से शक्तिशाली बनकर लोकसेवा के कार्य में लग जाएँ। सर्वत्र अच्छाई को ग्रहण करके आगे बढ़ते चलें। इसी जीवन में आनन्द-प्राप्ति, कष्ट-सहनशक्ति व आत्मधारण है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजापत्यादयः**। छन्दः—**भुरिग्धृतिः**[क], **निचृदतिधृतिः**[र]।
स्वरः—**षड्जः**॥

समर्पण व स्वार्थत्याग

[क]काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहादित्यै मह्यै स्वाहादित्यै सुमृडीकायै स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा [र]सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा त्वष्ट्रे स्वाहा त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा विष्णवे स्वाहा विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ॥२०॥

१. **काय**='को हि प्रजापतिः' (श० ६।२।२।५) प्रजापति के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। **कस्मै स्वाहा**=आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। **कतमस्मै स्वाहा**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। २. **आधिम्**=(Reflection=धर्मचिन्ता=अध्यात्म-विचार) अपने सारे विचार को **आधीताय**=स्वरूपचिन्तन के लिए अथवा इस संसार के तत्त्वचिन्तन के लिए **स्वाहा**=अर्पित कर, अर्थात् तू सदा पुरुष व प्रकृति का स्वरूपचिन्तन करनेवाला बन। **मनः**=अपने मन को **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापति के लिए अर्पित कर। **चित्तम्** =अपने चित्त को **विज्ञाताय**=विज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=अर्पित कर। ३. **अदित्यै**=अखण्डन के लिए तू **स्वाहा**=स्वार्थ को त्यागनेवाला बन। स्वार्थत्याग से ही तुझे पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा। इस **अदित्यै** =अदीना देवमाता (नि० ५।२२) के लिए जोकि **मह्यै**=महनीय है, तेरे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाएगी, उसके लिए **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन। स्वार्थ मनुष्य को दीन बनाता है, स्वार्थ से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। इस **अदित्यै**= वेदवाणी के लिए (नि०१।४) तू **स्वाहा**=अपने को अर्पित कर जो **सुमृडीकायै**=तेरे जीवन को बड़ा सुखी बनाएगी। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता की आराधना के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित कर। **सरस्वत्यै**=उस ज्ञानाधिदेवता के लिए तू अपने को **स्वाहा**=अर्पित कर जो **पावकायै**=पवित्र करनेवाली है। उस **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए तू **स्वाहा** =स्वार्थत्याग कर जो **बृहत्यै**=तेरे वर्धन का कारण होगी। ५. **पूष्णे**=पोषण की देवता के लिए तू **स्वाहा** =स्वार्थ का त्याग कर। स्वार्थत्याग शरीर के उत्तम पोषण का कारण बनता है। **पूष्णे स्वाहा**=उस पोषण के लिए तू निःस्वार्थ हो जो **प्रपथ्याय**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलने के लिए सहायक होता है। **पूष्णे स्वाहा**=उस पोषण के लिए तू स्वार्थ से ऊपर उठ जो **नरन्धिषाय**= (नरान् दधाति धारयति—उ०) मनुष्यों का धारण करता है। स्वार्थ से ऊपर उठकर ही मनुष्य लोकहित कर सकता है और यह लोकहित ही (नरान् दिधेष्टि शब्दयति उदयेन—म०) मनुष्य के चतुर्दिक् प्रवाही यश का कारण बनता है। ६. अब ज्ञान व पुष्ट शरीर को प्राप्त करके **त्वष्ट्रे स्वाहा**=निर्माण की देवता के लिए तू अपने को अर्पित कर, अर्थात् निर्माण के कार्यों में लग जा। उस **त्वष्ट्रे स्वाहा**=निर्माण की देवता के लिए तू अपने को अर्पित कर जो **तुरीपाय**=(तूर्णं धारया पाति—उ०) शीघ्रता से रक्षा करनेवाला है। **त्वष्ट्रे**=उस निर्माण की देवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित कर जो **पुरुरूपाय**=(पुरुणि रूपाणि यस्य) बड़े उत्तम रूपों को प्राप्त करानेवाली है। यदि राष्ट्र में सब व्यक्ति निर्माण के कार्यों

में लग जाएँ तो जहाँ राष्ट्र का शीघ्र ही कल्याण हो जाएगा वहाँ राष्ट्र को बड़ा सुन्दर रूप प्राप्त होगा। देश की आकृति ही बदल जाएगी। सब जगह 'सुख, सौन्दर्य व शान्ति' का राज्य हो सकेगा। ७. **विष्णवे स्वाहा**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति के लिए तू स्वार्थत्याग कर। व्यापकता को तभी प्राप्त होंगे जब स्वार्थ को समाप्त करेंगे। उस **विष्णवे**=व्यापक, उदार मनोवृत्ति के लिए **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग कर जो **निभूयपाय**=(नीचैर्भूत्वा यः पाति—उ०) नम्र बनकर सबका रक्षण करती है। उदार वृत्तिवाला पुरुष रक्षणादि कार्यों में प्रवृत्त होता है, परन्तु इन कार्यों को करते हुए सदा नम्र बना रहता है। उस **विष्णवे स्वाहा**=उदार मनोवृत्ति के लिए निःस्वार्थ बन जो **शिपिविष्टाय**=(शिपिषु अक्रोशत्सु प्राणिषु प्रविष्टाय—द०) उन-उन क्लेशों से पीड़ित व क्रन्दन करते हुए प्राणियों में प्रवेश करता है तथा अज्ञानवश उनसे किये गये आक्रोशों का ध्यान न करते हुए उनके हित में लगा रहता है। ये 'विष्णु' वृत्तिवाले लोग 'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्' लोगों से दी गई गालियों को सदा सहते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु के लिए अपना अर्पण करें जो आनन्दस्वरूप है। स्वरूप के स्मरण के लिए हमारा चिन्तन हो, मन प्रजापति में लगा हो, ज्ञान की रुचि हो, अदीना देवमाता, सरस्वती, पूषा, त्वष्टा व विष्णु के हम आराधक बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देव-सख्य मित्रता

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।

विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' है। कल्याण को प्राप्त उत्तम स्थितिवाला, काम-क्रोध-लोभ से दूर। इसका मन्तव्य है कि **विश्वः**=इस संसार में प्रविष्ट **मर्तः**=मनुष्य **नेतुः**=सबका प्रणयन करनेवाले **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम् वुरीत**=मित्रता का वरण करे। संसार में प्रकृति की मित्रता का वरण करके ही मनुष्य उसके पाँवों तले रौंदा जाता है। २. परन्तु संसार के इस स्वरूप को देखता हुआ भी **विश्वः**=सब मनुष्य **रायः**=धनों को ही **इषुध्यति**=चाहता है। धन का दास बनकर मनुष्य सचमुच अपना दासत्व=क्षय (दसु उपक्षये) सिद्ध कर लेता है। यह लक्ष्मी का वाहन उल्लू बन जाता है 'उत्=उत्कर्ष लुनाति'=यह अपने सब उत्कर्ष को खो बैठता है। इसका धन का दास बनना इसके निधन (मृत्यु) का कारण हो जाता है। ३. यह भी ठीक है कि इस संसार में धन के बिना कोई कार्य नहीं चलता, अतः वेद कहता है कि **द्युम्नम्**=इस यज्ञ के कारणभूत धन का भी **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतना ही जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वरण किया गया धन हमारे पतन का कारण नहीं बनता, उसी प्रकार जैसे भोजन शरीर का रक्षण ही करता है। यह अतिभोजन ही है जो शरीर को हानि पहुँचाता है। ४. अतः हम धन के दास न बन जाएँ, इसके लिए हम **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की वृत्तिवाले बनें।

भावार्थ—इस संसार में हमारी उत्तम स्थिति व कल्याण तभी होगा जब हम प्रभु की मित्रता का वरण करेंगे और धन के दास न बन जाएँगे। धन को हम उतना ही चाहें जितना कि शरीर-पोषण के लिए आवश्यक हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराडुत्कृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

आदर्श राष्ट्र

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥२२॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार धन का दास न बनकर प्रभु का मित्र बनने पर राष्ट्र कैसा बनेगा' इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=हमारी सब वृद्धियों के कारणभूत परमात्मन्! आपकी कृपा से **राष्ट्रे**=हमारे राष्ट्र में **ब्राह्मणः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **ब्रह्मवर्चसी**=यज्ञाध्ययनशील **आजायताम्**=पूर्ण रूप से हो, अर्थात् हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण सदा यज्ञों में व अध्ययन में प्रवृत्त रहें, उनकी रुचि यज्ञाध्ययन की ही हो। २. **राजन्यः**=क्षत्रिय **शूरः**=शूर हो, 'शूर विक्रान्तौ', वीरता के कर्म करनेवाला हो। **इषव्यः**=(इषुषु साधुः) अस्त्रविद्या में कुशल हो। **अतिव्याधी**=शत्रुओं को अतिशयेन विद्ध करनेवाला हो। **महारथः**=यह महारथ **जायताम्**=हो, अकेला ही हज़ारों के साथ युद्ध करने की क्षमता रखता हो। ३. वैश्यों के ठीक कार्य करने के कारण इस राष्ट्र में **धेनुः दोग्ध्री**=गौवें बड़ी दुधार हों, **अनड्वान् वोढा**=बैल भारवहन-क्षम हो, **सप्तिः आशुः**=घोड़े शीघ्रता से अपने मार्ग का व्यापन करनेवाले हों। ४. घरों में **योषा**=पत्नी **पुरन्धिः**=रूपादिगुण समन्वित शरीर को धारण करनेवाली हो अथवा (पुरुम् दधाति—द०) बहुत का, घर के सब सभ्यों का धारण करनेवाली हो। ५. **अस्य यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष का **वीरः**=पुत्र—सन्तान **जिष्णुः**=सदा जयशील, विजेता बने, **रथेष्ठाः**=रथे स्थितः=सदा रथ पर आरुढ़ होनेवाला हो, **सभेयः**=(सभायां साधुः) सभ्य व्यवहारवाला हो। संक्षेप में सन्तान वीर, विजेता, रथेष्ठ व सभ्य बने। इस शरीररूप रथ को पूर्णरूप से वश में करनेवाले हो। ६. **नः निकामे-निकामे**=(नितरां कामनायां सत्याम्—म०) हमारी निश्चित कामना होने पर **पर्जन्यः वर्षतु**=बादल वर्षा करनेवाले हों। जब-जब हमें अन्नादि के दृष्टिकोण से वर्षा की आवश्यकता हो तब-तब हमारे राष्ट्र में पर्जन्यदेव वृष्टि करनेवाले हों। वस्तुतः जब राष्ट्र में ब्राह्मणादि वर्ग अपना कार्य ठीक से नहीं करता तब अनावृष्टि आदि आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं। बादलों के ठीक बरसने से **नः ओषधयः**=हमारी सब ओषधियाँ **फलवत्यः**=फलवाली होकर **पच्यन्ताम्**=परिपक्व हों और इस प्रकार **नः**=हमारा **योगक्षेमः**=योगक्षेम **कल्पताम्**=क्लृप्त हो, सिद्ध हो। अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' है, प्राप्त का रक्षण 'क्षेम' है। आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि व उनका रक्षण 'योगक्षेम' कहलाता है। 'राष्ट्र में सबका 'योगक्षेम' ठीक से चले, यही राष्ट्र की उत्तमता है। आदर्श राष्ट्र यही है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य' सब अपना कार्य ठीक से करें। श्रमिक लोग अपने कृषि आदि कार्यों को ठीक से करनेवाले हों। हमारे सन्तान उत्तम हों। राष्ट्र में सबका योगक्षेम ठीक से चले।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्राण-चक्षु-मन

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा॥२३॥

१. गतमन्त्र के आदर्श राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह **प्राणाय स्वाहा**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। २. **अपानाय स्वाहा**=अपानशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। ३. **व्यानाय स्वाहा**=व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। शरीर में प्राणशक्ति बल देती है, अपानशक्ति दोषों को दूर करती है तथा व्यान सारे शरीर में नाड़ी-संस्थान का शासन करती हुई उसे ठीक रखती है। यज्ञशील पुरुष के 'प्राणापानव्यान' सब ठीक रहते हैं। ४. **चक्षुषे स्वाहा**=दृष्टिशक्ति के ठीक रखने के लिए तू यज्ञशील हो और स्वार्थ की भावना से ऊपर उठ। **श्रोत्राय स्वाहा**=इसी प्रकार श्रोत्रशक्ति को ठीक रखने के लिए भी तू यज्ञशील हो और स्वार्थ को छोड़नेवाला बन। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक रहती हैं और उसकी ज्ञानसाधना में उचित रूप से सहायक बनती हैं। स्वार्थ की भावना इनको अपवित्र व क्षीणशक्ति कर देती है और मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है। ५. **मनसे स्वाहा**=मन की मननशक्ति की वृद्धि के लिए तू यज्ञशील बन और स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला हो। स्वार्थ मन को भी मलिन कर देता है और मलिन मन में विचारशक्ति नहीं रहती।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञियवृत्तिवाले बनें, जिससे हमारे 'प्राणापानव्यान' ठीक रहें, चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान-ग्रहण-क्षम हों तथा हमारा मन मननशील हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**दिशः**। छन्दः—**विराडतिधृतिः**[क]। स्वरः—**षड्जः**॥

विश्व का सौन्दर्य

प्राच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा दक्षिणायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा प्रतीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोदीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोर्ध्वायै दिशे स्वहार्वाच्यै दिशे स्वाहावाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा ॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से इस अध्याय की समाप्ति तक कहेंगे। जब मनुष्य की वृत्ति यज्ञिय व स्वार्थ से ऊपर उठी हुई होती है तब उसके लिए सारा संसार सुन्दर हो जाता है। अपनी वृत्ति खराब होने पर संसार भी उसके लिए खराब हो जाता है, अतः कहते हैं कि **प्राच्यै दिशे स्वाहा**=पूर्व दिशा के लिए यज्ञशील बन। 'यह दिशा तेरे लिए सुन्दर हो' इसके लिए तू स्वार्थ से ऊपर उठ। **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=पूर्व दिशा की उपदिशा के लिए भी तू यज्ञशील बन। २. इसी प्रकार **दक्षिणायै दिशे स्वाहा**=दक्षिण दिशा के सौन्दर्य के लिए तू यज्ञ करनेवाला बन। **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=इस दक्षिण की उपदिशा के लिए भी यज्ञशील बन। ३. **प्रतीच्यै दिशे स्वाहा**=पश्चिम दिशा के लिए तू यज्ञिय हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=पश्चिम की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ४. **उदीच्यै दिशे स्वाहा**=उत्तर दिशा के सौन्दर्य के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=उत्तर की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ५. **ऊर्ध्वायै दिशे स्वाहा**=ऊर्ध्व दिशा के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=ऊर्ध्व की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ६. **दिशे स्वाहा**=नीचे की दिशा के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=नीचे की उपदिशा के लिए तू यज्ञशील हो।

भावार्थ—यज्ञिय व निःस्वार्थ वृत्ति के द्वारा हमारा यह संसार आगे-पीछे, दायें-बायें व ऊपर-नीचे सब ओर से सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है। आसुरवृत्ति ने ही संसार को मलिन किया हुआ है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जलादयः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

जलों का नैर्मल्य

अद्भ्यः स्वाहा॑ वा॒र्भ्यः स्वाहो॑द॒काय॒ स्वाहा॒ तिष्ठ॑न्तीभ्य॒: स्वाहा॒ स्रव॑न्तीभ्य॒: स्वाहा॒ स्यन्द॑मानाभ्य॒: स्वाहा॒ कूप्या॑भ्य॒: स्वाहा॒ सूद्या॑भ्य॒: स्वाहा॒ धार्या॑भ्य॒: स्वाहा॑र्ण॒वाय॒ स्वाहा॑ समु॒द्राय॒ स्वाहा॑ सरि॒राय॒ स्वाहा॑ ॥२५॥

१. **अद्भ्यः स्वाहा**=सर्वत्र व्याप्त जलों के लिए हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर यज्ञियवृत्तिवाले बनें। जब हम स्वार्थ व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं तब ये जल भी हमारे लिए अधिक गुणकारी हो जाते हैं। यह वृत्ति इन जल व ओषधियों को हमारे लिए 'सुमित्रिय' बनाती है। द्वेषार्ह व ईर्ष्यालु के लिए ये दुर्मित्रिय हो जाती है। ईर्ष्या-द्वेष के साथ पिया हुआ पानी व खाया हुआ अन्न हमारे अन्दर विषों को जन्म देता है, अतः यज्ञिय वृत्तिवाले बन इन जलों को हम अपने लिए अमृत बनानेवाले हों। २. **वार्भ्यः स्वाहा**=रोगों का निवारण करनेवाले उत्तम जलों के लिए हम यज्ञशील हों। ३. **उदकाय स्वाहा**=वाष्परूप से ऊपर उठते जलों के लिए हम यज्ञशील हों। वाष्पीभूत होकर जो जल फिर द्रवीभूत किया जाता है उसे उदक कहते हैं। 'वह हमारे लिए उत्तम हो', इसके लिए हम यज्ञ करते हैं। ४. **तिष्ठन्तीभ्यः**=स्थिर जलों के लिए **स्वाहा**=हम यज्ञ करते हैं और ५. **स्रवन्तीभ्यः स्वाहा**=स्रोतोंरूप जलों के लिए यज्ञ हो। ६. **स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा**=प्रवाहित होते हुए जलों के लिए यज्ञ हो। ७. **कूप्याभ्यः**=कूप के जलों के लिए यज्ञ हो। ८. **सूद्याभ्यः**=(सूद=spring) झरने के जलों के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। ९. **धार्याभ्यः स्वाहा**=बाँध आदि बनाकर धारण किये गये जलों के लिए यज्ञ हो। १०. **अर्णवाय स्वाहा**=बड़ी झीलवाले (Lake) जलों के लिए यज्ञ हो। ११. **समुद्राय स्वाहा**=समुद्र के जल की शुद्धि के लिए यज्ञ हो तथा १२. **सरिराय स्वाहा**=वृष्टिजल के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञ के द्वारा ये सब जल बड़े शुद्धरूप में हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—मनुष्य की वृत्ति जब निःस्वार्थ व यज्ञशील होती है तब उसके लिए सब जल सुमित्रिय=कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वातादयः**। छन्दः—**विराडभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

वात-विमलता (वायुशुद्धि) व वृष्टि

वाता॑य॒ स्वाहा॑ धू॒माय॒ स्वाहा॒भ्राय॒ स्वाहा॑ मे॒घाय॒ स्वाहा॑ वि॒द्योत॑मानाय॒ स्वाहा॑ स्त॒नय॑ते॒ स्वाहा॑व॒स्फूर्ज॑ते॒ स्वाहा॒ वर्ष॑ते॒ स्वाहा॑व॒वर्ष॑ते॒ स्वाहो॒ग्रं वर्ष॑ते॒ स्वाहा॑ शी॒घ्रं वर्ष॑ते॒ स्वाहो॑द्गृह्ण॒ते स्वाहोद्गृ॑हीताय॒ स्वाहा॑ प्रुष्ण॒ते स्वाहा॑ शीका॒य॒ते स्वाहा॒ प्रुष्वा॑भ्य॒: स्वाहा॑ ह्रा॒दुनी॑भ्य॒: स्वाहा॑ नीहा॒राय॒ स्वाहा॑ ॥२६॥

१. **वाताय स्वाहा**=सदा बहनेवाली वायु के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञों से शुद्ध हुई-हुई वायु हमारे जीवन के लिए बहे। २. **धूमाय स्वाहा**=धूम के लिए यज्ञ हो। अग्नि में आहुत द्रव्य सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर जब जलवाष्प के साथ इधर-उधर उड़ते हैं तब वह धूम कहलाता है। आकाश में पहुँचकर यही अभ्र व मेघ के रूप में हो जाता है। ३. **अभ्राय स्वाहा**=इस 'अभ्र' के लिए—सूक्ष्म मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **मेघाय स्वाहा**=मेघों के लिए यज्ञक्रिया हो। ५. **विद्योतमानाय स्वाहा**=चमकते हुए मेघ के लिए अथवा विद्युत् से

युक्त मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **स्तनयते स्वाहा**=गर्जना करते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ७. **अवस्फूर्जते स्वाहा**=(अधो वज्रवदघातं कुर्वते—द०) बिजली को नीचे गिराते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **वर्षते स्वाहा**=वर्षा करते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ९. **अववर्षते स्वाहा**=नीचे झुककर बरसनेवाले मेघों के लिए यज्ञक्रिया हो। १०. **उग्रं वर्षते स्वाहा**=बड़े ज़ोर से बौछार के रूप में बरसते हुए मेघ के लिए यज्ञ हो। ११. **शीघ्रं वर्षते स्वाहा**=तेज़ी से बरसते हुए मेघ के लिए यज्ञ हो। १२. **उद्गृह्णते स्वाहा**=जलों को ऊपर ग्रहण करनेवाले मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। १३. **उद्गृहीताय स्वाहा**=जो जलों को ऊपर ग्रहण कर चुका है उस मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। जब बादल अधिक-से-अधिक पानी को अपने अन्दर ले-चुकता है और बरसने लगता है तब वह उद्गृहीत कहलाता है, उस बादल के लिए यज्ञ की क्रिया हो। १४. **प्रुष्णते स्वाहा**=स्थूल बिन्दुओं में बरसनेवाले मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। १५. **शीकायते स्वाहा**=संयम करनेवाले बादल के लिए यज्ञक्रिया हो। १६. **प्रुष्वाभ्यः**=परिपूर्ण घनघोर वर्षा करनेवाले बादलों के लिए यज्ञक्रिया हो। १७. **ह्रादुनीभ्यः स्वाहा**=अधिक गड़गड़ाहट करते हुए बादलों के लिए यज्ञक्रिया हो। १८. **नीहाराय स्वाहा**=कुहरे के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—हम यज्ञादि उत्तम क्रियाओं को करनेवाले बनें, जिससे वायुमण्डल की शुद्धि हो, वृष्टि आदि यथासम्भव ठीक प्रकार से हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अग्नीषोमात्मक जगत् का माधुर्य

अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॑ पृथि॒व्यै स्वाहा॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ दि॒वे स्वाहा॑ दि॒ग्भ्यः स्वाहाशा॑भ्यः॒ स्वाहो॒र्व्यै दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॑ ॥२७॥

१. अग्नितत्त्व को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। स्वार्थ से ऊपर उठकर हमारा आहार-विहार चलेगा तो हममें अग्नितत्त्व की वृद्धि होगी। यह अग्नितत्त्व प्रकाश व प्रचण्डता का प्रतीक है। यज्ञशील होने पर हमारे भोजन के सात्त्विक होने से जाठराग्नि भी ठीक होगी। २. **सोमाय स्वाहा**=सोमतत्त्व की वृद्धि के लिए हम यज्ञशील हों। यह सोमतत्त्व शान्ति व शक्ति का प्रतीक है। इन अग्नि व सोमतत्त्व के मेल होने पर ही सारा माधुर्य उत्पन्न होता है। ३. **इन्द्राय स्वाहा**=इन्द्रियशक्ति के विकास के लिए हम यज्ञशील हों। यज्ञ व स्वार्थत्याग से विपरीत स्वार्थपरता भोगवाद को बढ़ाती है और इन्द्रशक्ति को क्षीण करती है। ४. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस शरीररूप पृथिवी को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। ५. **अन्तरिक्षाय स्वाहा**=हृदयान्तरिक्ष को ठीक रखने के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **दिवे स्वाहा**=मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखने के लिए यज्ञ हो। ७. **दिग्भ्यः स्वाहा**=सब दिशाओं को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। ८. **आशाभ्यः स्वाहा**=सब उपदिशाओं को ठीक रखने के लिए यज्ञ की क्रिया हो। ९. **उर्व्यै दिशे स्वाहा**=इस अत्यधिक दूरी तक फैली हुई दिशा के लिए यज्ञक्रिया हो, तथा १०. **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=समीप वर्त्तमान दिशा के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—हममें यज्ञिय वृत्ति होने पर जहाँ हमारा जीवन अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों के ठीक मेल से बड़ा मधुर बनेगा वहाँ दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्त्तमान सब दिशाएँ हमारे लिए सुन्दर होंगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**नक्षत्रादयः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

यज्ञ से ईति निवारण व सुकाल

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा नक्षत्रियेभ्यः स्वाहाहोरात्रेभ्यः स्वाहार्धमासेभ्यः स्वाहा मासेभ्यः स्वाहऽऋतुभ्यः स्वाहार्त्तवेभ्यः स्वाहा संवत्सराय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा चन्द्राय स्वाहा सूर्याय स्वाहा रश्मिभ्यः स्वाहा वसुभ्यः स्वाहा रुद्रेभ्यः स्वाहादित्येभ्यः स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा॥२८॥

१. **नक्षत्रेभ्य स्वाहा**=नक्षत्रों के लिए यज्ञक्रिया हो। इन नक्षत्रों से किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति की हमारे लिए आशंका न रहे, इसके लिए हम यज्ञ करनेवाले बनें। **नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा**=इन नक्षत्रों में रहनेवाले प्राणियों से हमारा अविरोध हो, इसके लिए हम यज्ञ की वृत्तिवाले बनें। जैसे समीप के देशों से हम मित्रभाव चाहते हैं, उसी प्रकार इन नक्षत्रों में रहनेवाले प्राणियों से भी हमारा विरोध न हो। इस सबके लिए चाहिए यही कि हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठें। ३. **अहोरात्रेभ्यः स्वाहा**=दिन व रात की उत्तमता के लिए हम यज्ञशील हों। ४. **अर्धमासेभ्यः स्वाहा**=अर्धमासों के लिए—शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष के उत्तम होने के लिए हम यज्ञशील बनें। ५. **मासेभ्यः स्वाहा**=मासों के सौन्दर्य के लिए हम यज्ञशील बनें। ६. **ऋतुभ्यः स्वाहा**=ऋतुओं की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। ७. **अर्तवेभ्यः स्वाहा**=ऋतुजन्य पदार्थों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। ८. **संवत्सराय स्वाहा** =वर्ष के लिए हम यज्ञशील हों। यज्ञ के द्वारा हमारा सारा वर्ष सुन्दर-ही-सुन्दर व्यतीत हो। यज्ञों के होने पर सम्पूर्णकाल हमारे लिए अनुकूल-ही-अनुकूल हो। काल ही क्या, ९. **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील बनें। १०. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्र की अनुकूलता के लिए हम यज्ञों को अपनाएँ। ११. **सूर्याय स्वाहा**=सूर्य की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील बनें। १२. **रश्मिभ्यः स्वाहा**=सूर्य व चन्द्र की किरणों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञ करनेवाले बनें। १३. **वसुभ्यः स्वाहा, रुद्रेभ्यः स्वाहा, आदित्येभ्यः स्वाहा**=वसुओं, रुद्रों व आदित्यों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञियवृत्तिवाले बनें। १४. **मरुद्भ्यः**=४९ प्रकार के मरुतों—वायुओं की शुद्धता के लिए **स्वाहा**=हम यज्ञ करें। १५. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा**=सब देवताओं की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। १६. **मूलेभ्यः स्वाहा**=वृक्षों के मूलों के लिए यज्ञ हो। १७. **शाखाभ्यः स्वाहा**=शाखाओं के लिए यज्ञ हो। १८. **वनस्पतिभ्यः स्वाहा**=वनस्पतियों के लिए यज्ञ हो। १९. **पुष्पेभ्यः स्वाहा**=फूलों के लिए यज्ञ हो। २०. **फलेभ्यः स्वाहा**=फलों के लिए यज्ञ हो। २१. **ओषधीभ्यः स्वाहा**=ओषधियों के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञों के द्वारा वृष्टि होकर सिंची हुई ये वनस्पतियाँ व ओषधियाँ तथा फल और फूल सब हमारे लिए अनुकूल व गुणकारी हों।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा सब लोकों की हमारे साथ अनुकूलता होकर हमें सब ऋतुओं का सौन्दर्य प्राप्त होता है। सूर्य-चन्द्रादि देव तथा वसु, रुद्र, आदित्य व मरुत् आदि देवगण हमारे अनुकूल होते हैं। सब देवताओं की अनुकूलता के साथ सब ओषधि-वनस्पतियाँ हमारे लिए हितकर होती हैं और हम कभी आधिदैविक आपत्तियों के शिकार नहीं होते।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

लोकत्रयी की अनुकूलता

पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥२९॥

१. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवीलोक के सौन्दर्य के लिए यज्ञक्रिया हो। २. **अन्तरिक्षाय स्वाहा**=अन्तरिक्षलोक की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ३. **दिवे स्वाहा**=द्युलोक की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **सूर्याय स्वाहा, चन्द्राय स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**=सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ५. **अद्भ्यः स्वाहा, ओषधीभ्यः स्वाहा, वनस्पतिभ्यः स्वाहा**=जलों, ओषधियों व वनस्पतियों की उत्तमता के लिए यज्ञ हों। ६. **परिप्लवेभ्यः**=जलों में चतुर्दिक् तैरनेवाले प्राणियों की अनुकूलता के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। **चराचरेभ्यः स्वाहा**=निरन्तर चरणशील प्राणियों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। **सरीसृपेभ्यः स्वाहा**=रेंगनेवाले छिपकली, सर्प आदि प्राणियों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—यज्ञों से सब लोक, सब देव, सब वनस्पति, ओषधि व सब प्राणी हमारे अनुकूल होंगे। हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी तो सारा संसार हमारे अनुकूल होगा।

नोट—प्रस्तुत मन्त्र में ये त्रिक द्रष्टव्य हैं—

पृथिवी	सूर्य	जल	परिप्लव
अन्तरिक्ष	चन्द्र	ओषधि	चराचर
द्युलोक	नक्षत्र	वनस्पति	सरीसृप

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वस्वादयः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

शरीर की उत्तमता

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाभिभुवे स्वाहाधिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सꣳसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवा पतयते स्वाहा ॥३०॥

१. **असवे स्वाहा**=प्राणों के लिए यज्ञक्रिया हो। २. **वसवे स्वाहा**=शरीर में वास करनेवाले वासकतत्त्वों के लिए यज्ञ हो। ३. **विभुवे स्वाहा**=व्यापक वायुतत्त्व के लिए यज्ञ हो। ४. **विवस्वते स्वाहा**=किरणों के द्वारा पालन करनेवाले सूर्य के लिए यज्ञ हो। ५. **गणश्रिये स्वाहा**=शरीर में जो 'ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण' आदि के गण हैं अथवा 'वसु, रुद्र, आदित्य व मरुत्' आदि देवों के गण हैं, उनकी शोभा के लिए यज्ञ हो। ६. **गणपतये**=शरीर में होनेवाले इन सब गणों के पति के लिए यज्ञ हो। ७. **अभिभुवे स्वाहा**=सब शत्रुओं के पराजय करनेवाले के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **अधिपतये**=सब इन्द्रियादि का स्वामी बननेवाले के लिए यज्ञ हो। ९. **शूषाय**=शत्रुओं के शोषक बल के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। १०. **संसर्पाय स्वाहा**=संसर्पण के लिए, जीवन के अन्त तक ठीक गति चलती रहे, इसके लिए यज्ञ हो। ११. **चन्द्राय**=अह्लादमयता के लिए यज्ञ हो। १२. **ज्योतिषे**=अन्तःप्रकाश के लिए यज्ञ हो। १३. **मलिम्लुचाय स्वाहा**=चोर के लिए यज्ञ हो, स्वार्थ को छोड़ने की क्रिया हो। उदाहरणार्थ एक चोर चोरी का दण्ड भोगकर घर लौटता

है। उसे यदि समाज कुछ स्वार्थत्याग करके जीवन में स्थापित करने का प्रयत्न करती है तो वह फिर चोर नहीं रह जाता। १४. **दिवा पतयते स्वाहा**=दिन के पति के लिए यज्ञक्रिया हो। 'हम दिन के अधिपति बने रहें। दिन हमारा अधिपति न बन जाए', इसके लिए हम सदा यज्ञादि उत्तम क्रियाओं में लगे रहें।

भावार्थ—यज्ञों से हम अपने जीवन को अत्युत्तम बना पाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मासाः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मास त्रयोदशी व संवत्सर की अनुकूलता

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहांऽहसस्पतये स्वाहा ॥३१॥

१. **मधवे**=पुष्परसों के कारण अत्यन्त मधुर चैत्रमास के लिए, इस मास में वायुमण्डल में ojone का अंश अधिक होता है, अतः यह चैत्रमास स्वास्थ्य के लिए भी अत्यन्त मधुर है, उस चैत्रमास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। यज्ञों के द्वारा यह मास हमारे स्वास्थ्य के अनुकूल हो। २. **माधवाय स्वाहा**=चारों ओर पुष्पों की शोभा के कारण **मा**=लक्ष्मी के **धव**=पतिरूप इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। ३. **शुक्राय स्वाहा**=(शुच्) पसीने आदि के द्वारा मल को निकालकर पवित्र करनेवाले इस ज्येष्ठमास के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **शुचये**=पसीने आदि से मलों को दूर करके शरीर को दीप्त करनेवाले इस आषाढ़ मास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। ५. **नभसे स्वाहा**=(नभ हिंसायाम्) सब रोगों व रोगकृमियों को समाप्त करनेवाले अथवा सन्ताप को दूर करनेवाले इस श्रावण मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **नभस्याय स्वाहा**=बुराई को समाप्त करने में उत्तम इस भाद्रपद मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ७. **इषाय स्वाहा**=सब अन्नों के परिपाकवाले अथवा वर्षभर निरन्तर गति के कारणभूत इस अश्विन मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **ऊर्जाय स्वाहा**=बल और प्राणशक्ति का उपचय करनेवाले इस कार्तिक मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ९. **सहसे स्वाहा** =सहनशक्ति व बल की वृद्धि के कारणभूत मार्गशीर्ष मास के लिए स्वार्थत्याग हो। १०. **सहस्याय स्वाहा**=बलोपचय में उत्तम पौष मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ११. **तपसे स्वाहा**=जिसमें सन्त लोग तप को महत्त्व देते हैं, उस माघ मास के लिए यज्ञ हो। १२. **तपस्याय स्वाहा**=तप करने के लिए सर्वोत्तम इस फल्गुन मास के लिए यज्ञक्रिया हो और इन बारह मासों के अतिरिक्त चन्द्र गणना के अनुसार तेरहवें मास **अंहसस्पतये स्वाहा**=अहंसस्पति के लिए भी यज्ञ हो। यह सामान्य भाषा में 'मलमास' कहलाता है, क्योंकि यह तीसरे-चौथे वर्ष के बीच में यूँही आ जाता है। इस मास को भी हम दैनिक यज्ञ के द्वारा सुखदायी बना पाएँ।

भावार्थ—याज्ञिक वृत्ति के द्वारा हमारे वर्ष के सारे ही मास बड़े सुन्दर बीतें। हमारा सारा वर्ष शुभ-ही-शुभ हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वाजादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सात्त्विक अन्न व सात्त्विक बुद्धि

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा स्वः स्वाहा मूर्ध्ने स्वाहा व्यश्नुविने स्वाहान्त्याय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥३२॥

१. **वाजाय स्वाहा**=(अन्नं=वाजः—श० ५।१।१।१६) अन्न के लिए यज्ञक्रिया हो। (**यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः**' गीता) यज्ञ से बादल होकर अन्न होता है, अतः इस अन्न की प्राप्ति के लिए हमारी यज्ञक्रिया ठीक से होती रहे। २. **प्रसवाय स्वाहा**='प्रसव' का शब्दार्थ अन्न व अन्न का होना ही है। उस प्रसव के लिए यज्ञक्रिया हो। ३. **अपिजाय स्वाहा**=दुबारा उत्पन्न होनेवाले (Born again) अन्नों के लिए यज्ञक्रिया हो अथवा (अप्सु जायते) जलों में होनेवाले अन्नों के लिए यज्ञ हो। ४. **क्रतवे स्वाहा**=शक्ति के लिए यज्ञ हो। उत्तम अन्नों से ही शक्ति प्राप्त होगी। ५. **स्वः स्वाहा**=सुख-प्राप्ति के लिए व प्रकाश के लिए यज्ञ हो। सात्त्विक अन्नों के सेवन से बुद्धि शुद्ध होगी और प्रकाश की प्राप्ति होगी। ६. **मूर्ध्ने स्वाहा**=मस्तिष्क के लिए यज्ञ हो। सात्त्विक अन्न बुद्धि को भी निर्मल करेगा। ७. **व्यश्नुविने स्वाहा**=शरीर में व्याप्त होनेवाले वीर्य के लिए यज्ञ हो। ८. **आन्त्याय भौवनाय स्वाहा**=सबसे अन्त में होनेवाले, सब प्राणियों के लिए हितकर ओज के लिए यज्ञ हो। शरीर में रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य उत्पन्न होता है। उसका भी सार यह ओज है। यह सबसे अन्त में होनेवाला है। प्राणिमात्र के लिए यह हितकर है। ९. **भुवनस्य पतये स्वाहा**=भुवन के पति के लिए यज्ञ हो, अर्थात् सब प्राणियों की रक्षा करनेवाले के लिए यज्ञ हो। यज्ञ होने की भावना होने पर ही कोई व्यक्ति सब प्राणियों का रक्षक बन सकता है। १०. **अधिपतये स्वाहा**=(मनो वै प्राणानामधिपतिः—श० १४।३।२।३) मन के लिए यज्ञ हो। वस्तुतः यज्ञिय भावना ही मन को स्वस्थ बनाती है। ११. **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापति के लिए यज्ञ हो। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह यज्ञ की भावना आवश्यक है। यज्ञिय भावना से हम भी प्रजापति का छोटारूप बन जाते हैं।

भावार्थ—यज्ञ से ही हमें वह सात्त्विक अन्न प्राप्त होता है जो हमारी शक्ति के वर्धन के साथ हमारी बुद्धि का भी वर्धक होता है। यह अन्न हमें सौम्य वीर्य को प्राप्त कराकर जितेन्द्रिय व लोकहित के कर्मों में लगनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आयुरादयः**। छन्दः—**भुरिक्कृतिः**[क], **भुरिगतिधृतिः**[र]। स्वरः—**निषादः, षड्जः**॥

उत्तम जीवन

[क]आयुर्यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहापानो यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा व्यानो यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहोदानो यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा समानो यज्ञेन कल्पताᳪ स्वाहा चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳪ स्वाहा श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा [र]वाग्यज्ञेन कल्पताᳪ स्वाहा मनो यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहात्मा यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳪ स्वाहा ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा स्वर्यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳪ स्वाहा यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳪस्वाहा ॥३३॥

१. **आयुः**=सारा जीवन **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पताम्**=अलंकृत हो और शक्तिसम्पन्न बने। इसके लिए **स्वाहा**=मैं स्वार्थ की भावना का त्याग करूँ। २. **प्राणो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञरूप उत्तम कर्मों से सशक्त बने, **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्व का त्याग करूँ। ३. **अपानो यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से मेरी अपानशक्ति समर्थ बने। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ से ऊपर उठूँ। ४. **व्यानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरी व्यानवायु यज्ञ के द्वारा सशक्त बने, इसके लिए मैं स्वार्थ को छोड़नेवाला होऊँ। ५. **उदानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=कण्ठदेशस्थ

उदानवायु यज्ञ से सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ को छोड़ूँ। ६. **समानो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=शरीर में समता को स्थापित करनेवाली मेरी समानवायु यज्ञ से सशक्त बनें, अतः मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। ७. **चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मैं इसलिए स्व का त्याग करूँ कि मेरी आँख यज्ञ से शक्तिशाली बने। ८. **श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरा श्रोत्र यज्ञ के द्वारा शक्तिशाली बने, अतः मैं स्वार्थ को छोड़नेवाला बनूँ। ९. **वाग्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरी वाणी भी यज्ञ के द्वारा शक्तिशाली बने, इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। १०. **मनो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरा मन यज्ञ से सुभूषित हो व सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। ११. **आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मैं यज्ञ से सुभूषित व सशक्त बनूँ, अतः मैं स्व का त्याग करता हूँ। १२. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=चतुर्वेदवेत्ता पुरुष भी यज्ञ से सुभूषित हो, अतः वह स्वार्थ से ऊपर उठे। १३. **ज्योतिः**=आत्मप्रकाश **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पताम्**=सिद्ध हो, **स्वाहा**=इसके लिए हम स्वार्थत्याग करें। १४. **स्वः यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=सुख यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो, अतः हम स्वार्थ को छोड़ें। १५. **पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**='तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीवैं पृष्ठानि'–ए० ६।५ हमारा तेज, ब्रह्मवर्चस व श्री यज्ञ के द्वारा सुभूषित व सशक्त हो, अतः हम स्वार्थ से ऊपर उठें। १६. **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**='यज्ञो वै विष्णुः'=वह यज्ञरूप प्रभु यज्ञ से सिद्ध हो, हमें प्राप्त हो, अतः हम स्वार्थ को छोड़कर जीवन को यज्ञिय बनाते हैं। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**=देवता यज्ञ परमात्मा की उपासना यज्ञ से ही करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के द्वारा हमारा सारा जीवन, सब इन्द्रियशक्तियाँ, मन व बुद्धि सशक्त होते हैं। इसी से हम प्रभु की पूजा भी कर पाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

निर्दोष सुखमय दीर्घ जीवन

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳬंस्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥३४॥

१. **एकस्मै स्वाहा**=जीवन के प्रथम वर्ष की उत्तमता के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। वस्तुतः 'किस प्रकार माता का स्वार्थत्याग व तप बालक के प्रथम वर्ष को पूर्ण नीरोग बना सकता है' यह स्पष्ट है। माता का पूर्ण सात्त्विक भोजन व सात्त्विक क्रियाएँ बालक की नीरोगता के लिए आवश्यक हैं। २. **द्वाभ्यां स्वाहा** =जीवन के द्वितीय वर्ष की उत्तमता के लिए भी हम स्वार्थत्याग करते हैं। ३. इसी प्रकार तीन-चार-पाँच इस क्रम से **शताय स्वाहा**=पूरे सौवें वर्ष के लिए भी हम स्वार्थत्याग करते हैं और सौवें से भी ऊपर उठकर ४. **एक शताय स्वाहा**=एक सौ एकवें वर्ष के लिए भी हम स्वार्थ से ऊपर उठते हैं। ५. **व्युष्ट्यै स्वाहा**=(वि+उष दाहे) विशेषरूप से सब रोगों व दोषों को जलाने के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। ६. और इस प्रकार **स्वर्गाय** =(सुअर्ग) उत्तम कर्मों के अर्जन के लिए तथा इस लोक को सुखमय बनाने के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग से ही दीर्घजीवन भी प्राप्त होगा, दोषदहन होकर स्वर्ग का निर्माण होगा।

भावार्थ—हम यज्ञियवृत्तिवाले बनें, जिससे हमारा एक-एक वर्ष उत्तम बीते। हमारा जीवन निर्दोष तथा सुखमय हो।

सूचना—१. इस अन्तिम मन्त्र में 'एकशताय' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहा है कि जीवन

सौ वर्ष से ऊपर भी चलना ही चाहिए। 'भूयश्च शरदः शतात्' की भी यही भावना है।

२. यहाँ २३ से ३४ तक सब मन्त्रों की मूल भावना इतनी ही है कि यज्ञमय जीवन ही सब सुखों का साधक है। यज्ञों से ही जीवन व संसार उत्तम बनता है।

'इन यज्ञों को जिस प्रभुकृपा से हम सिद्ध कर पाएँगे अथवा जिस प्रभु की कृपा से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनेगी' उस प्रभु की उपासना से अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है। वस्तुतः यह उपासना स्वयं सर्वमहान् यज्ञ है, अतः यज्ञ से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ है।

इति द्वाविंशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१॥

१. **हिरण्यगर्भः**=(हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य) सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ जिसके गर्भ में हैं वह परमात्मा **अग्रे**=सृष्टि के बनने से पूर्व ही **समवर्त्तत**=है, अर्थात् वे प्रभु कभी बने नहीं। सदा से **जातः**=आविर्भूत हुए-हुए वे प्रभु **भूतस्य**=पृथिवी आदि भूतों को तथा सब भूतमात्र, सब प्राणियों के **एकः**=अद्वितीय **पतिः**=रक्षक हैं। अपने रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य चेतनसत्ता की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे अपने कार्य में पूर्ण सशक्त होने से 'सर्वशक्तिमान्' हैं। २. **सः**=वे प्रभु **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक से **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहा है। तीनों लोकों का धारण करने के कारण ही वे त्रिलोकीनाथ हैं। ३. **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=जीव के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु सदा से हैं, वे सबके रक्षक हैं। त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। उनकी उपासना त्यागपूर्वक उपभोग से, हवि के द्वारा ही होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**निचृदाकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सूर्य में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा। यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः॥२॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह के द्वारा गृहीत होते हैं। जैसे उत्तम विवाहित पत्नी अनन्यभाव से पति का ही स्मरण करती है, उसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अनन्यभक्त बनता है, उस समय परमात्मा के साथ वह विवाहित-सा हुआ प्रतीत होता है और इस अनन्यभाव से भजन करने पर ही वह परमात्मा को ग्रहण कर पाता है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस यज्ञ को स्वीकार करता हूँ। यह यज्ञ तुझ प्रजापति के लिए प्रीतिपूर्वक सेवित होता है। प्रभु यज्ञरूप हैं, यज्ञ ही उन्हें प्रिय है, सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञसहित प्रजाओं को प्रभु ने उत्पन्न किया और कहा कि यह यज्ञ ही तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा। वस्तुतः यह यज्ञ ही प्रजापति है। ३. **एषः**=यह यज्ञ का ग्रहण करनेवाला मैं **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान होता हूँ। मेरे हृदय में तेरा प्रकाश होता है। ४. हे प्रभो! यह **सूर्यः**=सूर्य **ते**=तेरी **महिमा**=महिमा है—तेरी महिमा का प्रतिपादन करनेवाला है। ५. हे प्रभो!

यः=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **अहन्**=दिन में **संवत्सरे**=वर्ष में **सम्बभूव**=है, **यः** =जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **वायौ**=वायु में **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **सम्बभूव**=है। **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **दिवि**=द्युलोक में तथा **सूर्ये**=सूर्य में **सम्बभूव**=है। **तस्मै**=उस तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए **देवेभ्यः च**=और देवों के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग हो, अर्थात् स्वार्थ का त्याग करके दिव्य वृत्ति को अपनाकर मैं भी प्रभु के समान महिमा को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ, प्रजापति बनता हूँ और दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनता हूँ। ६. विचारशील पुरुष के लिए क्या दिन में क्या वर्ष में, वायु में व अन्तरिक्ष में, सूर्य में व द्युलोक में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनन्यभक्ति हमें प्रभु-दर्शन करानेवाली हो। हम सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हुए सूर्य के समान तेजस्वी बनें। इस तेजस्विता की प्राप्ति के लिए स्वार्थत्याग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ईश

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करनेवाले तथा **निमिषतः**=सदा आँखों को बन्द करके रहनेवाले **जगतः**=दो भागों में विभक्त जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा**=नियन्त्रण करनेवाला है। संसार स्थूलतया दो भागों में विभक्त है। (क) मनुष्यादि प्राणी जो प्राणधारण कर रहे हैं तथा (ख) वृक्षादि जो सदा आँखों को बन्द करके सुप्तावस्था में हैं। प्रभु इस सम्पूर्ण संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उन्हें अपने इस शासनकार्य में किसी अन्य चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं ही शासन कर रहे हैं। उनकी महिमा महान् है। २. **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पैरवालों के, पक्षियों के तथा **चतुष्पदः**=चार पैरवाले पशुओं के **ईशे**=ऐश्वर्य का कारण है। शहद की मक्खियाँ जो शहद बनाती हैं, चील जो आकाश में घण्टों पंखों को फैलाये उड़ती रहती है, सिंह जो तीव्रतर धारा को सीधा पार कर जाता है, यह सब प्रभु का ही ऐश्वर्य है। मनुष्य परमेश्वर प्रदत्त वासना से न चलकर बुद्धि से चलता है। इस बुद्धि के विकास के साथ-साथ वह उन्नत होता चलता है और उन सब पशु-पक्षियों को पराजित करके आगे बढ़ जाता है। वास्तव में तो प्रभु ने मनुष्य के लिए उस-उस पशु-पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को आदर्श के रूप में रखा है कि तूने यहाँ पहुँचना है। उदाहरणार्थ **'वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः'**=जो अन्तरिक्ष में उड़ते हुए पक्षियों के उड़ने के तत्त्व को समझता है वह आकाशीय विमान और समुद्र में चलनेवाली नौकाओं को भी बना सकता है। ३. इस पशु-पक्षियों में ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले **कस्मै**=आनन्द-स्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें।

भावार्थ—प्रभु द्वारा पशु-पक्षियों में प्राप्त करायी गई उस-उस प्रवीणता को हम भी प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके लिए प्रभु का उपासन करें, प्रभु के उपासन के लिए 'हविर्भुक्' बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

चन्द्र में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा॥४॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह द्वारा गृहीत होते हैं। पत्नी जिस प्रकार पति का, उसी प्रकार अनन्यभाव से जब हम आपका भजन करते हैं तब आपका ग्रहण कर पाते हैं। अनन्यभजन ही आपकी प्राप्ति का प्रधान साधन है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टम्**=तुझ प्रजापति के लिए अत्यन्त प्रिय इस यज्ञ को **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। प्रभु हमें सदा इस 'श्रेष्ठतम कर्म'=यज्ञ की प्रेरणा देते हैं। ३. हे प्रभो! इस तेरे प्रिय यज्ञ का सेवन करनेवाला **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा स्थान बनता हूँ। मेरा हृदय आपका निवासस्थान बनता है। ४. **चन्द्रमाः**=यह चन्द्रमा **ते महिमा**=तेरी महिमा है। ५. **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **रात्रौ**=रात्रि में **संवत्सरे**=संवत्सर में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर तथा **अग्नौ**=अग्नि में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **नक्षत्रेषु**=नक्षत्रों में **चन्द्रमसि**=और चन्द्रमा में **सम्बभूव**=है, **तस्मै**=उस **ते**=तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए, **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए, यज्ञ के लिए तथा **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग के अनुपात में ही हमें महिमा प्राप्त होगी, हम प्रजापति बन सकेंगे तथा दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का ग्रहण अनन्यभाव से प्रभु का भजन करने पर होता है। चन्द्रमा में प्रभु-दर्शन करते हुए हम सचमुच अपने मनों को चन्द्रमा के समान शीतल, ज्योत्स्नावान् बनाएँ, आह्लादमय बनाएँ। इस आह्लादमयता के लिए हम स्वार्थ से ऊपर उठें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ब्रध्न-योग

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥५॥

१. गतमन्त्र के 'उपयाम' व प्रभु से विवाह, प्रभु के ही अनन्यभाव से भजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **युञ्जन्ति**=ये उपासक उस प्रभु को अपने साथ जोड़ते हैं। किस प्रभु को (क) **ब्रध्नम्**=जो महान् हैं। प्रभु महत्ता की चरम सीमा हैं, प्रभु से अधिक महान् कोई नहीं। (ख) **अरुषम्**=जो (अ+रुषम्) क्रोध नहीं करता है व आरोचमान—सर्वतो देदीप्यमान हैं। (ग) जो **परितस्थुषः**=चारों ओर स्थित पदार्थों में **चरन्तम्**=विचरण कर रहे हैं, अर्थात् जो पदार्थमात्र में विद्यमान हैं। (घ) और जिस प्रभु की शक्ति से **दिवि**=द्युलोक में **रोचना**=देदीप्यमान सूर्यादि पदार्थ **रोचन्ते**=चमक रहे हैं। इस सूर्यादि के चमकानेवाले प्रभु को अपने साथ जोड़के यह उपासक भी उन्हीं की भाँति चमकने लगता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु को अपने साथ जोड़ना ही योग है। वे प्रभु महान् हैं, आरोचमान हैं, चारों ओर स्थित पदार्थों में विद्यमान हैं, उसी प्रभु की शक्ति से द्युलोक में सूर्यादि पदार्थ देदीप्यमान हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

रथ-योजन

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥६॥

१. ये उपासक लोग **रथे**=शरीररूप रथ में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। रथ में जुतकर ही ये घोड़े इसकी यात्रा को पूर्ण करवाने में सहायक होंगे। जो घोड़े सदा चरते ही रहते हैं उनकी क्या उपयोगिता? इसी प्रकार जो इन्द्रियाश्व भोगों को ही भोगने में लगे हैं वे स्पष्ट ही व्यर्थ हैं। वे दस-के-दस जब रथ में जुते होते हैं तो हम 'दश-रथ' बनते हैं। जब ये भोगने में लगते हैं और मुख बन जाते हैं तब हम 'दश-मुख' (रावण) हो जाते हैं। २. ये घोड़े कैसे हैं? (क) **अस्य काम्या**=इस रथस्वामी के काम (इच्छा) का सम्पादन करनेवाले हैं। इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं। (ख) **विपक्षसा**=(पक्ष परिग्रहे) ये घोड़े विशिष्ट परिग्रहवाले हैं। एक ने उत्कृष्ट ज्ञान का ग्रहण किया है तो दूसरे ने विशिष्ट कर्म का परिग्रह किया है। (ग) **शोणा**=तेजस्विता के कारण रक्तवर्णवाले हैं। (घ) **धृष्णू**=तेजस्विता के कारण ही शत्रु का धर्षण करनेवाले हैं। (ङ) **नृवाहसा**=मनुष्यों को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। वस्तुतः इन्द्रियाश्वों को मलिन न होने देना, इनको ठीक-ठाक रखना ही जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का प्रमुख साधन है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतें और जीवन-यात्रा को पूर्णकर प्रभु के पास पहुँचें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अभ्यावर्तन

यद्वातोऽअपोऽअगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्।
एतꣳस्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः॥७॥

१. इन्द्रियरूप घोड़े विषयों में जा भटकते हैं, उनको न भटकने देने के लिए आवश्यक है—**यत्**=कि **वातः**=(वा गतौ=अत् गतौ) आत्मा **अपः**=कर्मों को **अगनीगन्**=प्राप्त हो। 'अत सातत्यागमने' धातु से आत्मा शब्द बनता है और 'वा गतौ' से 'वातः'। एवं, वातः व आत्मा पर्याय हैं। **'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्'** में शरीर के प्रतिकूल 'वायुः' आत्मा का ही वाचक है। २. इस कर्मशीलता के द्वारा **यत्**=जब यह **इन्द्रस्य**=इन्द्र के, परमैश्वर्यशाली प्रभु के **प्रियां तन्वम्**=प्रिय शरीर को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मशीलता के द्वारा शरीर को इस प्रकार स्वस्थ व तेजस्वी बनाता है कि यह शरीर प्रभु का प्रिय होता है। ३. हे **स्तोतः**=प्रभु के उपासक **नः एतं अश्वम्**=हमारे इस इन्द्रियरूप घोड़े को **अनेन पथा**=इस कर्मशीलता के मार्गों से **पुनः**=फिर **नः आवर्त्तयासि**=विषयों से व्यावृत्त करके हमारी ओर लानेवाला बन, इन्द्रियाश्व प्रभु की ओर चलनेवाले तभी होते हैं जब विषयों के बन्धनों से बद्ध नहीं होते। इनको विषयों से प्रत्यावृत्त व प्रत्याहृत करके ही हम आत्मतत्त्व का दर्शन किया करते हैं। उपनिषद् के शब्दों में—**'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्'**=कोई एक-आध ही ऐसा धीर पुरुष होता है जो आवृत्त चक्षु होकर अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखता है।

भावार्थ—जीवात्मा वात=वायु क्रियाशील है। क्रियाशीलता से यह अपने इस शरीर को प्रभु का प्रिय बनाये रखता है। इस क्रियाशीलता के मार्ग से हमें इन्द्रियाश्वों को विषयों से व्यावृत्त करके आत्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वाय्वादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

अञ्जन (Decoration)

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। भूर्भुवः स्वर्लाजी३॥ञ्छाची३॥न्यव्ये गव्यऽएतदन्नमत्त देवाऽ एतदन्नमद्धि प्रजापते॥८॥

१. **वसवः**=वसुनामक आठ देव अथवा शरीर में उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्व **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसाः**=(गयाः प्राणाः तन् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। साधक की सर्वप्रथम कामना यही होनी चाहिए कि उसकी प्राणशक्ति ठीक रहे। २. **रुद्राः**=रुद्र अथवा 'रोरूयमानो द्रवति' जो प्रभु के नाम का निरन्तर उच्चारण करता हुआ गतिशील होता है, वही तो रुद्र है। ये प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्य को करने की भावनाएँ **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=(त्रि+स्तुप्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की प्रबल कामना से **अञ्जन्तु** =अलंकृत करें। मनुष्य प्रभुस्मरण करता है, कार्य में लगा रहता है। बस, यह बात उसे कामादि से दूर रखती है। यह व्यक्ति काम, क्रोध व लोभ का शिकार नहीं होता। ३. **आदित्याः**=बारह आदित्य अथवा सब जगह से अच्छाई के ग्रहण करने की वृत्ति **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित करने की प्रबल भावना से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। लोकहित वही कर सकता है जो सब जगह से अच्छाई को ग्रहण की वृत्तिवाला बने। ४. 'गायत्र छन्द से' तू **भूः**=पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाला होगा, 'त्रैष्टुभ् छन्द से' तू **भुवः**=आकलन, चिन्तन व ज्ञानवाला बनेगा। कामादि ही तो ज्ञान का आवरण बने रहते हैं। 'जागत छन्द से' तू **स्वः**=पूर्ण सुख को प्राप्त करनेवाला होगा। ५. **लाजीन्**=(योऽयं लाजानां समूहो लाजीनित्युक्तः—उ०) लाजाओं को **शाचीन्**=(योऽयं सक्तूनां समूहः शाचीनित्युक्तः—उ०) सत्तुओं को **यव्ये**=(यवमयः समूहः—उ०) यवसमूह में अथवा **गव्ये**=(गव्येर्विकारे दध्यादि—उ०) दही आदि में **एतद् अन्नं अत्त**=इस अन्न को खाओ। **देवाः**=देव इसी अन्न को खाते हैं। वस्तुतः यही 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थ ही मनुष्य को सात्त्विक वृत्तिवाला व देव बनाते हैं। हे **प्रजापते**=प्रजा के रक्षक! तू भी **एतत् अन्नं अद्धि**=इसी अन्न को खा। इस अन्न का सेवन तुझे सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर प्रजा का रक्षक बनाएगा, मांसाहारी राजा तो प्रजा का भक्षक ही बन जाएगा।

भावार्थ—हममें 'प्रजारक्षण, काम-कोध-लोभ-निवारण व लोकहित' की प्रबल कामना हो। इससे हम स्वस्थ, सज्ञान व सुखी बनेंगे। हम 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थों का प्रयोग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार प्रश्न व उत्तर

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥९॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥१०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में साहित्य में प्रश्नोत्तर के प्रकार से प्रतिपादन की शैली का सुन्दरतम उदाहरण मिलता है। वनपर्व की समाप्ति पर यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यही शैली प्रयुक्त हुई है। २. प्रथम प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन, **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **सूर्यः**=सूर्य **एकाकी**=अकेला **चरति**=चलता है। (क) सब ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला परमात्मा सूर्य है। वह अपने कार्यों में दूसरे की सहायता पर निर्भर न करता हुआ अकेला विचरता है। (ख) समाज में संन्यासी भी सूर्य है। वह भी अकेला विचरता है। 'अरुचिर्जनसंसदि'=उसे जनसंघ रुचिकर नहीं होता। (ग) शरीर में सूर्य 'चक्षु' है। यह चक्षु भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करती हुई स्वयं प्रमाण होती है और इस प्रकार अकेली विचरती है। यही भावना 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणाम्' इन शब्दों से कही गई है। (घ) मनुष्य को सामान्यतः यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वयं कर सके तभी वह सूर्य के समान चमकेगा। सूर्य के आश्रित अन्य पिण्ड हैं, सूर्य उनका आश्रित नहीं, इसीलिए सूर्य 'सूर्य' है। ३. अब दूसरा प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन निश्चय से **पुनः**=फिर **जायते**=प्रादुर्भूत व विकसित होता है। उत्तर देते हुए कहते हैं कि **चन्द्रमाः**=चाँद **पुनः**=फिर **जायते**=विकसित होता है। (क) आधिदैविक जगत् में चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर प्रादुर्भूत होता दिखता है। (ख) शरीर में यह मन के रूप से है 'चन्द्रमा मनो भूत्वा' चन्द्रमा ही तो मन (moon) बनकर हृदय में प्रविष्ट होता है। किसी भी मनुष्य का विकास इस मन के विकास के अनुपात में ही होता है। मन की आह्लादमयता ही मनुष्य के स्वास्थ्य के विकास का भी कारण बनती है। (ग) एक गृहस्थ में नव उत्पन्न सन्तान 'चन्द्र' तुल्य है। यह दिन-ब-दिन विकास को प्राप्त होती चलती है। ४. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **हिमस्य**=शीत का **किं भेषजम्**=क्या औषध है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=आग **हिमस्य**=शीत का **भेषजम्**=औषध है। (क) आधिदैविक जगत् का अग्निदेव तो शीत से त्राण करता ही है। (ख) आधिभौतिक जगत् में जब आन्दोलन ठण्डा पड़ जाता है और लोगों का उत्साह मन्द हो जाता है तब एक नेता अग्नि की प्रतिनिधिभूत वाणी से (अग्निर्वाग् भूत्वा) लोगों में फिर से उत्साह का सञ्चार कर देता है, आन्दोलन में फिर से गर्मी आ जाती है। (ग) शरीर में जब तक यह अग्नितत्त्व विद्यमान रहता है तब तक मनुष्य ठण्डा नहीं पड़ता, मरता नहीं। ५. चौथा प्रश्न है **किम् उ**=और कौन-सा **महत् आवपनम्**=महनीय, महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **भूमिः**=यह पृथिवी ही **महत् आवपनम्**=महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। (क) वस्तुतः सभी बीज इसी भूमि में बोये जाते हैं। यह भूमि ही सब साधनों का क्षेत्र है। (ख) अध्यात्म में 'पृथिवी शरीरम्'=यह शरीर पृथिवी है। इसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसी में दिव्य गुणों व विकास के बीज बोये जाते हैं। इसी में बीज=सोम=वीर्य का आवपन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सोम को इस शरीर में सुरक्षित रखने पर ही सब प्रकार की उत्पत्ति (विकास) निर्भर है।

भावार्थ—हमें सूर्य की भाँति अपराश्रित रूप में विचरना है, अपने कार्य स्वयं करने हैं। मन के विकास से अपने विकास को सिद्ध करना है। अपनी वाणी को अग्नि के समान ओजस्वी बनाकर सर्वत्र उत्साह का सञ्चार करना है और इस शरीररूप पृथिवी में सोम का वपन करते हुए इसे महत्त्वपूर्ण आवपन बनाना है।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**जिज्ञासु:**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

पिलिप्पिला-पिशंगिला

का स्वि॑दासीत्पूर्वचि॑त्ति॒: कि॑ꣳस्वि॑दासीद् बृ॒हद्वय॑:।
का स्वि॑दासीत्पिलिप्पि॒ला का स्वि॑दासीत्पिशङ्गि॒ला॥११॥

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**विद्युदादय:**। छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

द्यौरा॑सीत्पूर्वचि॑त्ति॒रश्व॑ऽआसीद् बृ॒हद्वय॑:।
अवि॑रासीत्पिलिप्पि॒ला रात्रि॑रासीत्पिशङ्गि॒ला॥१२॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार ही इन मन्त्रों में भी चार प्रश्न व उत्तर दिये गये हैं। प्रथम प्रश्न है **स्वित्**=भला **पूर्वचित्ति:**=सबसे प्रथम (प्रथमा स्मृतिविषया—द०) स्मरण व ध्यान की वस्तु **का**=क्या है? अर्थात् सबसे अधिक ध्यान किसपर देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **द्यौ:**=मस्तिष्क **पूर्वचित्ति:**=सबसे प्रथम ध्यान देने का विषय **आसीत्**=है। शरीर में मस्तिष्क उसी प्रकार सर्वोपरि स्थित है जैसे विराट् शरीर में द्युलोक। **'मूर्ध्नो द्यौ:'** विराट् शरीर के मस्तिष्क से ही द्युलोक बनता है और यही द्युलोक मस्तिष्करूप से हमारे शरीर में निवास करता है। हमें इस मस्तिष्क का सर्वाधिक ध्यान करना है। २. दूसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **बृहद् वय:**=वर्धनशील पक्षी **किम्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्व:**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला जीव ही **बृहद् वय:**=वर्धनशील पक्षी **आसीत्**=है। वैदिक साहित्य में आत्मा तथा परमात्मा दोनों को **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इन शब्दों में सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षियों के रूप में चित्रित किया है। इनमें परमात्मा सदावृद्ध व निरतिशय वृद्धिवाले हैं, जीवात्मा अल्प है और यह साधना के मार्ग पर चलकर वृद्धि को प्राप्त करनेवाला है। यह बढ़ता हुआ पक्षी है। जितना-जितना बढ़ता जाता है उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है अथवा जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है उतना-उतना बढ़ता जाता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **पिलिप्पिला**=(आर्द्रीभूता-चिक्कणा-शोभन—द०) (श्रीर्वै पिलिप्पिला—श० १३।२।६।१६) आर्द्रीभूत, चिक्कणा व शोभना श्री क्या **आसीत्**=है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अवि:**=(अव रक्षणे) रोगों व वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला जीव ही **पिलिप्पिला**=शरीर में स्वास्थ्य की स्निग्धता से चिक्कण, मन में करुणा से आर्द्रीभूत, मस्तिष्क में उत्तम विचारों से शोभन श्रीवाला **आसीत्**=है। जब हम आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हैं तभी हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क श्रीसम्पन्न होते हैं। ४. चौथा प्रश्न है **स्वित्**= भला **पिशंगिला**=(पिशं रूपं गिलति) रूप को निगल जानेवाला **का आसीत्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **रात्रि:**=रात **पिशंगिला आसीत्**=रूप को निगल जानेवाली है। रात्रि में सब वर्ण समाप्त होकर एक कृष्ण-ही-कृष्ण वर्ण की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उस परमेश्वर में रमण करनेवाले (रात्रि: रमयित्री) योगनिद्रागत योगी के इन शरीररूप रूपों का, वल्बों का विलय=मोक्ष हो जाता है। इस योगी को फिर दीर्घकाल तक शरीर नहीं लेना पड़ता।

भावार्थ—सर्वाधिक ध्यान हमें मस्तिष्क का करना है। साधना के द्वारा निरन्तर वृद्धि का यत्न करना है। अपने को आधि-व्याधियों से बचाकर श्रीसम्पन्न होना है तथा प्रभुस्मरण के द्वारा इन शरीरों के परिग्रह से ऊपर उठना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अकृष्ण ब्रह्मा

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या।
एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये ॥१३॥

१. **वायुः**=शरीर में वैश्वानर (जाठराग्नि) अग्नि के साथ मिलकर पाचनक्रिया को करनेवाला प्राणवायु **त्वा**=तुझे **पचतैः**=भोजनों के ठीक परिपाकों से **अवतु**=रोगों से बचाए। पाचनक्रिया के ठीक न होने पर ही शरीर रोगाक्रान्त हुआ करता है। २. **असितग्रीवः**=न बद्धग्रीवावाला **छागैः**=छेदन-भेदन से तेरी रक्षा करे। संसार में विषय मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं, मनुष्य उनसे बँध जाता है और फिर गर्दन में रस्सी से बँधे पशु की भाँति वह न्याय्य-अन्याय्य मार्गों में उनसे ले-जाया जाता है, परन्तु जो 'असितग्रीव'=विषयों से अ-बद्ध गर्दनवाला होता है वह इन विषय-वासनाओं का छेदन-भेदन करते हुए अपना उत्तम रक्षण कर पाता है। ३. **न्यग्रोधः**=(न्यञ्चति, रोहति) जो निरभिमानता से, नीचे होकर चलता और इस नम्रता से ही विकास व उन्नतिवाला होता है वह **चमसैः**=सत्य, यश व श्री के आचमनों से तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो व्यक्ति नम्र बनता है वही उन्नत होता है और वही सत्य, यश व श्री आदि को प्राप्त करता है। ४. **शल्मलिः**=(शल्=गति मलि=possession, enjoyment) गति को धारण करना अथवा गति में ही आनन्द लेना **वृद्धया**=वृद्धि के द्वारा तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो मनुष्य निरन्तर क्रियाशील रहता है, जिसे क्रिया में आनन्द आने लगता है वह सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। ५. **एषः**=यह असितग्रीव, न्यग्रोध व शल्मलि' नामवाला **स्यः**=वह पुरुष **राथ्यः**=इस उत्तम शरीररूप रथवाला होता है, **वृषा**=यह बलवान् व सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ६. यह **चतुर्भिः पड्भिः**=चारों पुरुषार्थों के साथ, अर्थात् 'धर्मार्थकाममोक्ष' चारों के लिए प्रयत्नशील होता हुआ **इत्**=निश्चय से **आगन्**=प्रभु के समीप प्राप्त हुआ है। ७. प्रभु के समीप प्राप्त होने से यह **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माण करनेवाला बना है, **अकृष्णः च**=इसका कोई कर्म मलिन नहीं हुआ। यह **अकृष्णः**=विषयों से अनाकृष्ट **ब्रह्मा**=महान् निर्माता **नः अवतु**=अपने ज्ञानोपदेशों व कार्यों से हमारा रक्षण करे। इस **अग्नये नमः**=अग्रेणी पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्राणों द्वारा भोजन के ठीक परिपाक से हम रोगों से बचे रहें। विषयों से अबद्ध रहकर हम उन्नति के विघ्नों का छेदन-भेदन करें। नम्रता से चलते हुए उन्नति को प्राप्त करके हम सत्य, यश व श्री को धारण करें। गतिशीलता में आनन्द हमारी वृद्धि का कारण बने। हम उत्तम शरीर-रथवाले व शक्तिशाली बनकर धर्मार्थकाममोक्ष चारों का साधन करते हुए परमात्मा को प्राप्त करें। विषयों से अनाकृष्ट व निर्माण के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति हमारी रक्षा करें। हम इन रक्षक अग्रेणी नेताओं के लिए नतमस्तक हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सोमपुरोगव

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः।
सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'राथ्यो वृषा' ने क्या किया है? उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा **रश्मिना** =ज्ञानरूपी किरणों से युक्त मनरूप लगाम से **रथः**=यह शरीररूप रथ

संशितः=शोभित किया गया है (संपूर्वः श्यतिः शोभने–उ०) अथवा चलने में तीक्ष्ण व उत्तम क्रियावाला किया गया है। २. **रश्मिना**=उसी ज्ञान-किरणयुक्त मनरूपी लगाम से **हयः**=इन्द्रियरूप घोड़े **संशितः**=शोभित व तीक्ष्ण क्रियायुक्त किये गये हैं। ३. **अप्सुजाः**=सदा कर्मों में लगा होनेवाला यह अश्व (=कर्मों में व्याप्त पुरुष) **अप्सु**=प्राणों में **संशितः**=शोभित हुआ है। कर्मों से इसकी प्राणशक्ति बढ़ी है। ४. इस प्रकार कर्मों से बढ़ी हुई प्राणशक्तिवाला यह पुरुष **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माता हुआ है, **सोमपुरोगवः**=यह सोम की रक्षा के द्वारा आगे-और-आगे चलता है (सोमेन पुरः गच्छति)। सोम की रक्षा के द्वारा यह उसकी ऊर्ध्वगति करनेवाला 'शूद्र (शु+उत्+र) होता है, शरीर में उसका प्रवेश करानेवाला 'वैश्य' बनता है, शरीर को सब क्षतों से बचाने के कारण 'क्षत्रिय' होता है और इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर 'ब्रह्म'=ज्ञान से दीप्त 'ब्राह्मण' होता है। इस प्रकार यह सोम के द्वारा अधिक-और-अधिक उन्नति करता चलता है।

भावार्थ–रथ और घोड़ों (शरीर व इन्द्रियों) को वश में करके क्रियाशीलता से अपनी शोभा को बढ़ाकर हम ब्रह्मा बनते हैं और सोम की रक्षा से आगे और आगे चलनेवाले बनते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**विद्वान्**। छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥१५॥

१. गतमन्त्र के 'सोमपुरोगव' से कहते हैं कि हे **वाजिन्**=क्रियाशील व शक्तिशालिन्! तू **स्वयम्**=अपने आप **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयस्व**=शक्तिशाली बना। तू औरों का ध्यान न करके 'और करते हैं या नहीं', इसका विचार न करके, स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न कर। २. शक्तिशाली बनकर **स्वयं यजस्व**=औरों की ओर न देखता हुआ स्वयं यज्ञशील बन। ३. यज्ञशील बनकर **स्वयं जुषस्व**=तू स्वयं प्रभु की प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाला बन। ४. इस प्रकार जीवन बिताने पर **अन्येन**=दूसरे से **ते महिमा**=तेरी महिमा **न सन्नशे**=नष्ट नहीं की जा सकती, अर्थात् तेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

भावार्थ–हम औरों की ओर न देखते हुए तथा औरों पर आश्रित न होते हुए अपने शरीर को शक्तिशाली बनाएँ, यज्ञशील बनें, प्रभु के उपासक हों। हम यह विश्वास रक्खें कि हमारे महत्त्व को कोई दूसरा नष्ट नहीं कर सकता। स्वयं हम ही ग़लती से नष्ट कर लें तो और बात है।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**सविता**। छन्दः–**जगती**। स्वरः–**निषादः**।

अमरण–अहिंसन

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥१६॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार औरों की ओर न देखते हुए जब हम स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाते हैं, यज्ञशील होते हैं, प्रीतिपूर्वक उपासन करनेवाले बनते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **एतत्**=यह तू **वै उ**=निश्चय से **न म्रियसे**=मरता नहीं है **न रिष्यसि**=तू हिंसित नहीं होता। इस मार्ग पर चलने से तेरा शरीर व्याधियों से आक्रान्त होकर असमय में चले जानेवाला नहीं होता और तेरा मन भी आधियों से अभिभूत होकर हिंसित नहीं होता। तेरा

शरीर नीरोग होता है तो मन निर्मल। २. **सुगेभिः पथिभिः**=साधुगमन मार्गों से, अर्थात् उत्तम मार्गों से चलता हुआ तू **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों को, दिव्य गुणों को प्राप्त होता है। ३. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **तत्र**=उस मार्ग में **दधातु**=स्थापित करे **यत्र**=जहाँ **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **आसते**=उपविष्ट होते हैं और **यत्र**=जहाँ **ते**=वे **ययुः**=जाते हैं व चलते हैं। तेरा मार्ग सदा पुण्यशालियों का ही मार्ग हो, उन्हीं देवों के मार्ग से तू चलनेवाला हो, अर्थात् तेरा मार्ग 'देवयान-मार्ग' हो।

भावार्थ—देवयान-मार्ग से चलते हुए हम व्याधियों से मृत्यु को प्राप्त न हों और काम-क्रोध-लोभादि आधियों से हिंसित न हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि-वायु-सूर्य

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः॥१७॥

१. गतमन्त्र के देवयान-मार्ग में देव अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सबसे प्रथम इस पृथिवीलोक के ग्यारह देवताओं का मुखिया यह **अग्निः**=अग्निदेव **पशुः आसीत्**=(दृश्यः—द०) दर्शन व ज्ञान का विषय बनता है। इस अग्निदेव का ज्ञान प्राप्त करके **तेन**=उस अग्निदेव के साथ **अयजन्त**=वे अपना मेल बढ़ाते हैं (यज्=सङ्गतिकरण)। इस अग्नि को अपने विविध यत्नों से उपयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः इस अग्नि के ज्ञान व प्रयोग से **सः**=यह अग्नितत्त्व का वेत्ता ज्ञानी पुरुष **एतं लोकम्**=इस पृथिवीलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् अग्निः**=जिस लोक में यह अग्नि मुख्य देवता है **सः लोकः**=वह लोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=हो जाएगा, **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू विजय कर लेगा। वस्तुतः बिना ज्ञान के हम इन अग्नि आदि देवों को अपना नहीं बना सकते। इनसे उपयुक्त लाभ नहीं ले-सकते। इनका विजय इनके ज्ञान से ही होता है। इसके लिए तू **एताः अपः**=शरीर में रेतस्‌रूप से रहनेवाले इन अप्कणों का (आपः रेतो भूत्वा०) **पिब**=पान कर। इनको तू शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न कर। २. अग्नि के ज्ञान के पश्चात् **वायुः पशुः आसीत्**=अन्तरिक्षलोक के देवताओं का मुखिया यह वायुदेव ज्ञान का विषय हुआ। इन देवों ने वायु का ज्ञान प्राप्त किया। **तेन अयजन्त**=उस वायुदेव से इन्होंने अपना सङ्ग बढ़ाया। इसे अपने यत्नों व व्यवहार में उपयुक्त किया और अब **सः**=इसने **एतं लोकं अजयत्**=इस वायु के आधारभूत अन्तरिक्षलोक को जीत लिया। इस विजय से **यस्मिन् वायुः**=जिसमें यह वायु मुख्यदेव है **सः लोकः**=वह अन्तरिक्षलोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=होगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। **एता अपः पिब**=तू इन सोमकणों को अपने अन्दर व्याप्त करने का प्रयत्न कर। वायु का ठीक ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य अन्तरिक्षलोक में अपने वायुयान आदि को चला पाता है और इस लोक को जीत लेता है। ३. अब अग्नि व वायु के ज्ञान के पश्चात् इन देवों का **सूर्यः**=द्युलोकस्थ देवों का मुख्यदेव सूर्य **पशुः आसीत्**=दृश्य व ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में इन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया तो यजुर्वेद में वायु इनके ज्ञान का विषय बना और अब साम में वे सूर्य को

ज्ञान का विषय बनाते हैं। **'अग्नेर्वा ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः'। तेन अयजन्त**=सूर्य के साथ ये विद्वान् अपना सङ्ग बढ़ाते हैं। इसकी किरणों से अपने यन्त्रादि को परिचालित करने का प्रयत्न करते हैं। **सः**=इस सूर्य का ज्ञान प्राप्त करके वह **एतं लोकम्**=इस सूर्य के आधारभूत द्युलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् सूर्यः**=जिस द्युलोक में यह सूर्य है **सः**=वह **ते लोकः**=तेरा लोक **भविष्यति**=हो जाएगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। उसके ज्ञान से तू द्युलोक को अपने अनुकूल कर पाएगा, इसके लिए **एता अपः पिब**=इन रेतःकणों को तू अपने अन्दर पीने का प्रयत्न कर।

भावार्थ—देववृत्तिवाले लोग 'अग्नि-वायु-सूर्य' आदि देवों (प्राकृतिक शक्तियों) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनके ज्ञान को अपने यन्त्रादि में विनियुक्त करते हैं। अपने हितसाधनों में इन्हें विनियुक्त करते हुए वे इनपर विजय प्राप्त करते हैं। ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ देवों के लिए हितकर हो जाती हैं।

नोट—मातृवत् हित करने से ही ये अगले मन्त्र में 'अम्बे, अम्बिके व अम्बालिके' इस रूप में सम्बोधित हुई हैं। ऋग्वेद अम्बा है, यजुर्वेद अम्बिका तथा साम अम्बालिका।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अम्बा-अम्बिका-अम्बालिका

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा। अम्बेऽअम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥१८॥

१. गतमन्त्र की ज्ञानवाणियों का ध्यान करते हुए कहते हैं कि **प्राणाय**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए अग्नि का वर्णन करनेवाली, ऋग्वाणी जो **अम्बा**=माता के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=(सुआह) उत्तमता से कही गई है। २. **अपानाय**=अपान—दोषों के दूरीकरण की शक्ति की वृद्धि के लिए यह वायु का वर्णन करनेवाली यजुर्वाणी जो **अम्बिका**=दादी (पितामही—द०) के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=उत्तमता से कही गई है। ३. **व्यानाय स्वाहा**=(व्यानः सर्वशरीरगः) व्यान के लिए, सारे शरीर को नियन्त्रण में रखने के लिए प्रतिपादित की गई यह सामवाणी सूर्य का वर्णन करती हुई **अम्बालिका**=प्रपितामही के समान हितकर है और इसका उत्तमता से प्रतिपादन हुआ है। ४. हे **अम्बे**=मातृवत् हितकारिणी अग्निविद्या, **अम्बिके**=पितामहीवत् हितकारिणी वायुविद्या तथा **अम्बालिके**=प्रपितामहीवत् हितकारिणी सूर्यविद्ये! ('अबि शब्दे' से ये तीनों शब्द बने हैं, अतः यहाँ शब्दप्रतिपाद्य विद्या के वाचक हैं) आपकी कृपा से **मा**=मुझे **कश्चन**=संसार का कोई भी विषय या प्रलोभन **न नयति**=धर्म के मार्ग से दूर नहीं ले-जाता Not to be led away) ५. ज्ञान प्राप्त करके सदा उत्तम क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाला (अश् व्याप्तौ) **अश्वकः**=(अश्वः एव अश्वकः स्वार्थे कन्) क्रियाशील शक्तिशाली पुरुष **सुभद्रिकाम्**=उत्तम कल्याण व सुख को सिद्ध करनेवाली **काम्पीलवासिनीम्**=(कं सुखं पीलयति गृह्णाति, तं वा संयाति तां लक्ष्मीम्—द०) सुख-संग्रहण में निवास करनेवाली लक्ष्मी को **ससस्ति**=प्राप्त करके आराम से शयन करता है। 'लक्ष्मीमधिशेते'=लक्ष्मी को प्राप्त करता है, इसी प्रकार **लक्ष्मीं ससस्ति**=कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्राण, अपान व व्यान की प्रतिपादिका ज्ञानवाणियों का ग्रहण करें। इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त करने पर हमें संसार का कोई प्रलोभन हरा नहीं सकता। ज्ञानानुसार कर्मों में व्याप्त होनेवाला पुरुष कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करके आराम से रहता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**गणपतिः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

गणपति-प्रियपति-निधिपति

गणानां त्वा गणपतिःहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिः हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिःहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥१९॥

१. गतमन्त्र की **अम्बा**=मातृवत् हितकारिणी ऋग्वाणी से **गाणानां गणपतिम्**=ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक आदि अथवा आठ वसु, ग्यारह रुद्र व बारह आदित्यों के गणों के गणपति=रक्षक **त्वा**=तुझे **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से हम चाहते हैं कि ये सब गण ठीक बने रहकर हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हों। २. गतमन्त्र की **अम्बिका**=पितामहीवत् हितकारिणी यजुर्वाणी से हम **प्रियाणां प्रियपतिम्**=प्रियों के भी प्रियपति **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रियपति आपकी आराधना से हम यज्ञादि प्रिय कर्मों को करते हुए सभी के प्रिय हों। हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष न हो। ३. गतमन्त्र की अम्बालिका=प्रपितामहीवत् हितकारिणी ज्ञानवाणी से हम **निधीनां निधिपतिम्**=निधियों के निधिपति सर्वोच्च ज्ञानकोश के रक्षक (यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदम्=अथर्व०) **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। निधिपति आपकी आराधना से हम भी ज्ञान के निधि बनने के लिए यत्नशील होते हैं और इस प्रकार मस्तिष्क के कोश को ज्ञाननिधि से भरनेवाले बनते हैं। ४. हे प्रभो! आप तो वस्तुतः **मम वसो**=मेरे बसानेवाले हो, मेरा उत्तम निवास आपपर ही निर्भर करता है। अतः ५. **गर्भधम्**=सब ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करनेवाले आपको **अहम्**=मैं **आ अजानि**=सर्वथा जाननेवाला बनूँ (अज=गति=ज्ञान) आपको जानूँ, आपकी ओर चलूँ और आपको प्राप्त करूँ। ६. **त्वम्**=तूही **गर्भधम्**=इस जगत् को गर्भ में धारण करनेवाली प्रकृति को **अजासि**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति देते हो। आप ही प्रथम गति देनेवाले Prime mover हो। आप ही सारे संसार के सञ्चालक हो।

भावार्थ—गणपति प्रभु का उपासक मैं ज्ञानेन्द्रिय आदि गणों का पति होऊँ। प्रियपति प्रभु का उपासक मैं सबका प्रिय बनूँ। निधिपति का उपासक ज्ञाननिधि का पति बनूँ। आपको मैं अपना निवासक जानूँ। सारे संसार को गर्भ में धारण करनेवाले आपकी ओर चलूँ। आप ही ब्रह्माण्डजननी प्रकृति को गति देते हो, मुझे भी उत्तम गति प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**स्वाराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार पुरुषार्थ

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥२०॥

१. गतमन्त्र के 'गणपति, प्रियपति व निधिपति' का उपासक प्रभु से कहता है कि **ता उभौ**=वे दोनों आप और मैं (राजा व प्रजा) **चतुरः पदः**=चार पगों को **संप्रसारयाव**=फैलाएँ, अर्थात् चारों प्राप्तव्य पुरुषार्थों को, धर्मार्थ, काम-मोक्ष को विस्तृत करनेवाले बनें। २. आपकी कृपा से धर्मार्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध करनेवाले बनें और **स्वर्गे लोके**=स्वर्गलोक में, सुखमयलोक में **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करें, अर्थात् सुखमयलोक में निवास करनेवाले बनें। आप तो सुखस्वरूप हैं ही, मैं भी आपकी कृपा से सुखमयलोक में रहने-वाला बनूँ। ३. आप **वृषा**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **वाजी**=शक्तिशाली व **रेतोधा**=वीर्यशक्ति का धारण करनेवाले हैं। हे प्रभो! आप कृपा करके **रेतः दधातु**=राजा व प्रजा

में शक्ति धारण कीजिए।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर मैं, प्रभुकृपा से 'धर्मार्थकाम-मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करूँ। अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करूँ। 'वृषा, वाजी, रेतोधा' प्रभु राजा व प्रजा में रेतस् का आधान करें, अर्थात् प्रभु राजा व प्रजा को शक्तिशाली बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**न्यायाधीशः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

व्यभिचार-दण्ड

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। य स्त्रीणां जीवभोजनः॥२१॥

१. गतमन्त्र में 'वृषा, वाजी व रेतोधा' का उल्लेख था। राष्ट्र में प्रजाओं में सदाचार फैलाना, सदाचार के वातावरण को उत्पन्न करना यह राजा का मुख्य कार्य होना चाहिए तभी प्रजाएँ शक्तिसम्पन्न बन पाएँगी। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे **वृषन्**= शक्तिशालिन् तथा प्रजाओं पर सुखों की वृष्टि करनेवाले राजन्! आप **यः स्त्रीणां जीवभोजनः**=जो स्त्रियों पर आजीविका चलानेवाला पुरुष है उस **गुदम्**=(गुद् क्रीडायाम्) विलासमय क्रीडावाले भोगासक्त पुरुष को **उत्सक्थ्याः**=(उद्गते सक्थिनी यस्य) ऊपर जांघोंवाला **अवधेहि**=नीचे सिरवाला करके स्थापित कर, अर्थात् इसे उलटा लटका दे। विलास व व्यभिचार को फैलानेवाले को उलटा लटका देना चाहिए। इस प्रकार का कठोर दण्ड 'व्यभिचार' आदि को रोकने के लिए आवश्यक है। २. राजा को यह भी चाहिए कि **अञ्जिं संचारय**=ज्ञान के प्रकाश को फैलाये (अंजि=Brilliance)। अपराधों को दूर करने के लिए जहाँ अपराधियों को ऐसा दण्ड देना जो प्रत्यादेश के लिए हो, अर्थात् प्रजाओं में अपराधों को रोकनेवाला हो, वहाँ ज्ञान के प्रकाश को भी फैलाना चाहिए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति ही परिवर्तित हो जाए। व्यभिचार से होनेवाली हानियों के जानने पर तथा संयमी जीवन के लाभों के स्पष्ट होने पर लोग इन बुराइयों से सम्भवतः दूर हटेंगे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में व्यभिचार को रोकने के लिए विलासी पुरुष को उलटा लटकवा दे तथा राष्ट्र में व्यभिचार की हानियों व संयम के लाभों के ज्ञान का प्रचार करवाए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन किया जा सके।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

कृषि

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥२२॥

१. **यका असकौ**=(या असौ) वह जो, पिछले मन्त्र के अनुसार व्यभिचार-विवर्जित संयमी जीवनवाली प्रजा **शकुन्तिका**=शक्तिशाली बनकर **आहलक्**=(आ हलेन आचरति) चारों ओर हल के साथ चलनेवाली होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=अकाल इत्यादि को राष्ट्र से दूर कर देती है। प्रजा में विलासिता आदि दोष न होने पर उसकी शक्ति बढ़ती है। कृषि आदि उत्तम कार्यों में लगकर प्रजा दुष्काल आदि आपत्तियों से राष्ट्र को बचाती है। २. इस **गभे**=(बड् वै गभः श० १३।२।९।६) ऐश्वर्यशालिनी (गभ=भग) प्रजा में राजा **पसो**=(पस=सम=समवाय, राष्ट्रं पसः—श० १३।२।९।६।) राष्ट्रीय भावना को—समवाय व मेल की भावना को **आहन्ति**, सब प्रकार से प्राप्त कराता है। (हन्=गति) इस राष्ट्रीय भावना व मेल की भावना को जगाकर वह प्रजा में आचरण के मापक को ऊँचा करने

का प्रयत्न करता है। राष्ट्र के उत्थान की भावना के प्रबल होने पर प्रजा कोई भी ऐसा कार्य नहीं करती जो राष्ट्र की अवनति का कारण बने। ३. राष्ट्रीय भावना के जागरण के लिए किये जानेवाले सब प्रचार को **धारका**=ऐश्वर्य का धारण करनेवाली प्रजा **निगल्गलीति** =खूब ही प्रेम से सुनती है। (गल् श्रवणे) अपने अन्दर निगल-सा लेती है, अर्थात् बड़े ध्यान से सुनकर उस ज्ञान को धारण करती है।

भावार्थ—सम्पूर्ण प्रजा कृषि में प्रवृत्त होकर राष्ट्र को दुष्काल आदि से बचाती है। जहाँ इस कार्य से (क) शक्तिशाली बनती है, (शकुन्तिका), (ख) ऐश्वर्य को बढ़ाती है (गभ=भग), (ग) वहाँ प्रसंगवश बुराइयों से बची रहती है। राजा इसी उद्देश्य से प्रजा में राष्ट्रीय भावना को जागरित करता है। प्रजा भी राजा से प्रचारित किये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

शकुन्तक (शक्तिसम्पन्न)

यको॑ऽस॒कौ श॑कुन्त॒कऽआ॒हल॒गिति॒ वञ्च॑ति।
विव॑क्षतऽइव ते॒ मुख॒मध्व॑र्यो॒ मा न॒स्त्वम॒भि भा॑षथाः ॥२३॥

१. गतमन्त्र में प्रजा के कृषिप्रधान बनने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में एक-एक व्यक्ति के कृषि को स्वीकार करने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यकः असकौ**=(यः असौ) जो वह **शकुन्तकः**=शक्तिशाली होकर **आहलक्**=(आ हलेन अञ्चति) चारों ओर हल के साथ गति करनेवाला होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=दुष्काल को राष्ट्र से दूर करता है। २. हे **अध्वर्यो**=राष्ट्रयज्ञ के सञ्चालक राजन्! **ते मुखम्**=तेरा चेहरा **विवक्षतः इव**=उस पुरुष के चेहरे के समान है जो विशिष्ट भार को उठाने की कामनावाला है। तेरे चेहरे से ही यह बात स्पष्ट है कि तू विशिष्ट राज्यभार को उठाये हुए है। ३. हमारा भी प्रयत्न ऐसा होगा कि **त्वं नः मा अभि भाषथाः**=आप हमें कुछ मत कहें। हमारा आचरण ही इतना सुन्दर हो कि आपको कुछ कहना ही न पड़े। वस्तुतः प्रजावर्ग का राजा के लिए सर्वोत्तम सहयोग यही है कि वह राजा को कुछ कहने का अवसर ही न दे।

भावार्थ—सब पुरुषों का जीवन कृषि-प्रधान हो। वे अपने आचरण को ऐसा उत्तम रक्खें कि राजा को उन्हें कुछ कहना ही न पड़े, तभी राजा राज्य के विशिष्ट कार्यभार को ठीक से उठा पाएगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

स्तेय-दण्ड (चोरी का नाश)

मा॒ता च॑ ते पि॒ता च॒ तेऽग्रं॑ वृ॒क्षस्य॑ रोहतः।
प्रति॑ला॒मीति॑ ते पि॒ता ग॒भे मु॒ष्टिम॑तꣳसयत्॥२४॥

१. राष्ट्र में प्रजा माता है जो राष्ट्र का निर्माण करती है और राजा पिता है जिसका काम राष्ट्र की रक्षा करना है। ये दोनों मिलकर ही राष्ट्र की उन्नति का साधन कर पाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे राष्ट्र! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरी रक्षा करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रम्**=राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग पर, अर्थात् राष्ट्रोन्नति के शिखर पर **रोहतः**=आरोहण करते हैं। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य अग्रम्—श० १३।२।९।७) 'श्री' ही राष्ट्रवृक्ष का शिखर है, अतः ये राष्ट्र को अत्यन्त श्रीसम्पन्न करते हैं। २. और हे

राष्ट्र! **प्रतिलाम इति**=(तिल स्नेहने) प्रकर्षेण स्नेह करता हूँ, इस भावना से ही **ते पिता**=तेरा रक्षक यह राजा **गभे**=(विड् वै गभः) ऐश्वर्यसम्पन्न प्रजाओं के अन्दर **मुष्टिम्**=(मोषणात् नि० ६।१।१) चोरी की वृत्ति को **अतंसयत्**=कम्पित कर दूर करवा (Shakes away) देता है। मनु के अनुसार राजा चोर को हस्तच्छेदादि दण्ड देता है (**तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः**—मनु) ऐसे दण्ड से प्रजा चोरी आदि पापों की ओर झुकाववाली नहीं रहती। वस्तुतः जब राजा को राष्ट्र के प्रति स्नेह होता है तब वह राष्ट्र में से चोरी आदि को दूर करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राष्ट्र की माता 'प्रजा' है तो पिता 'राजा' है। ये दोनों मिलकर राष्ट्रवृक्ष की श्री का वर्धन करते हैं। राजा राष्ट्र में से चोरी को कम्पित कर दूर भगा देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

संयत-वाणी

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु॥२५॥

१. हे राष्ट्रवृक्ष! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरा रक्षण करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रे**=इस राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग में **क्रीडतः**=एक क्रीडक की भावना से युक्त होकर सारे कर्त्तव्यों को करते हैं, अर्थात् इस राजकार्य में इनको जीत-हार की कोई वासना (complex) व्यथत नहीं करती। राजा केवल रौब के लिए कोई काम नहीं करता। २. **ब्रह्मन्**=हे राष्ट्र का वर्धन करनेवाले राजन्! **ते मुखम्**=तेरा मुख **विवक्षतः इव**=राज्य के विशिष्ट भार को उठानेवाले पुरुष के मुख की भाँति है। तेरे चेहरे से लगता है कि तूने महान् उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लिया हुआ है, परन्तु **त्वम्**=तू **बहु मा वदः**=बहुत बोल नहीं, चूँकि बहुत बोलनेवाला अपनी शक्ति को क्षीण कर लेता है और भार को उठा नहीं पाता।

भावार्थ—राजा और प्रजा राष्ट्र कार्यों को एक क्रीड़क की वृत्ति से निभाते हैं। राजा विशिष्ट राज्यभार को अपने कन्धे पर लेता है और बड़ी संयत वाणीवाला होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

राज-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्यै मध्यमेधताꣳशीते वाते पुनन्निव॥२६॥

१. गतमन्त्रों में राजा व प्रजा को राष्ट्र के माता-पिता के रूप में चित्रित किया है। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे राजन्! **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार को ले-जानेवाले की भाँति तू **एनाम्**=इस प्रजा को **ऊर्ध्वाम्**=ऊपर, उन्नत स्थिति में, **उच्छ्रापय**=उठाकर उन्नत कर। 'पर्वत पर भार ले-जानेवाले की भाँति' उच्छ्रित कर इस उपमा में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। (क) एक तो यह कि पर्वत पर चढ़ना ही कठिन है और भार लेकर ऊपर जाना तो बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करना, अर्थात् राजकर्त्तव्य को निभाना कोई सुगम कार्य नहीं है, (ख) दूसरा यह कि भार को ऊपर ले-जानेवाला स्वयं तो ऊपर पहुँचता ही है, इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करनेवाला राजा भी नैतिक दृष्टिकोण से उन्नत होता है। २. हे राजन्! इस प्रजा की उन्नति का, शिक्षित करने का परिणाम यह हो कि **अथ**=अब **अस्यै**=इस प्रजा के लिए **मध्यम्**=(श्रीर्वै राष्ट्रस्य

मध्यम्–श० ३।३।१।४) श्री=धनसम्पत्ति **एधताम्**=बढ़े। किसी भी राष्ट्र में प्रजा की स्थिति का अच्छा होना मूलरूप से उसकी श्री के विकास से ही आँका जाता है। ३. तू इस प्रजा को **शीते**=(श्येङ् वृद्धौ) बढ़ी हुई **वाते**=वायु में **पुनन् इव**=भूसे से गेहूँ को पृथक् करते हुए की भाँति हो। जैसे बढ़ी हुई वायु में कोई भी अन्न को गाहनेवाला छाज से फटकता है और भूसे को गेहूँ से पृथक् कर देता है। उसी प्रकार तू प्रजाओं से आर्य और दस्युओं को पृथक्–पृथक् करनेवाला हो। राजा ने यह दस्यु व आर्यों का अलग–अलग जानने की क्रिया 'शीते वाते'=शान्त गति के द्वारा करनी है। प्रजा में अन्याय व अनुचित दण्ड के भय की उद्विग्नता न छा जाए।

भावार्थ–राजा के तीन मौलिक कर्त्तव्य हैं (क) प्रजा की स्थिति को उन्नत करना, उसमें शिक्षा आदि का प्रसार करना, (ख) इसके श्री का विकास करना व (ग) आर्य और दस्युओं को अलग–अलग जानना।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**श्रीः**। छन्दः–**अनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

प्रजा–कर्त्तव्य–त्रयी

ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद् गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव॥२७॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजा के प्रति राजकर्त्तव्य का उल्लेख किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं शब्दों में राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य का प्रतिपादन करते हैं। **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार ले–जानेवाले पुरुष की भाँति **एनम्**=इस राजा को **ऊर्ध्वम् उच्छ्रयतात्**=तू उन्नत कर, उन्नत स्थिति में स्थापित कर। जब प्रजा राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करती है तब राजा को प्रभु का प्रतीक मानती हुई उसकी आज्ञा का पालन करती है। प्रजा राजनियमों की अवहेलना तक नहीं करती। २. प्रजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह 'कर–नियमों' का पालन करती हुई ऐसा प्रयत्न करे कि **अथ**=अब **अस्य**=इस राजा की **मध्यम्**=श्री **एजतु**=(सत्कर्मसु चेष्टताम्–द०) राष्ट्रोन्नति के उत्तम कार्यों में विनियुक्त हो। राजा ने श्री का विनियोग अपने विलास व सजधज में थोड़े ही करना है? उसने तो इस कोश को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझते हुए प्रजा के लिए ही इसे कामधेनु बनाना है। ३. प्रजा भी **शीते वाते पुनन् इव**=बढ़ी हुई वायु में तुष व अन्न को अलग करते हुए पुरुष की भाँति शान्त क्रियाशीलता में अपने जीवनों को पवित्र करनेवाली बने। शान्तिपूर्वक क्रिया में लगे हुए लोग व्यर्थ के उपद्रव की बातों को सोचते ही नहीं।

भावार्थ–प्रजा के तीन कर्त्तव्य ये हैं–१. वह राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करे। उसकी आज्ञा का पालन करे। २. कर देकर राजा की श्री का वर्धन करे, जिससे राजा उस श्री के द्वारा उत्तम कार्यों को करता हुआ राष्ट्र को सुन्दर बना पाए। ३. शान्त क्रियाशीलता के द्वारा प्रजा अपने जीवन से अशुभ भावनाओं को ऐसे दूर करे जैसे अन्न से भूसे को अलग कर देते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**प्रजापतिः**। छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

न मे स्तेनो जनपदे

यदस्याऽअꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्याऽएजतो गोशफे शकुलाविव॥२८॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार राष्ट्र व्यवस्था के उत्तम होने पर **यत्**=जो कोई भी **अंहुभेद्याः**=पाप का भेदन करनेवाली **अस्याः**=इस प्रजा का, अर्थात् पाप को अपने से दूर करनेवाली इस प्रजा का **कृधु**=(ह्रस्वः–नि० ३।२) थोड़ा-सा अथवा **स्थूलम्**=अधिक **उपातसत्**=क्षय करता है (तस्=Throw down) छोटी व बड़ी चोरी करता है, चोर के रूप में सेंध लगाकर घर का सामान चुरा ले-जाता है अथवा परिपन्थी के रूप में व्यापारी को मार्ग में ही रोककर लूट लेता है तो **अस्याः**=इस प्रजा के **इत्**=निश्चय से **मुष्कौ**=ये शोषण करनेवाले चोर राजदण्ड भय से **एजतः**=इस प्रकार काँपते हैं कि **इव**=जैसे **गोशफे**=गोखुरप्रमाण जल में **शकुलौ**=मछलियाँ काँप उठती हैं। २. राजदण्ड के जागरूक होने पर न चोरियाँ होती हैं न डाके पड़ते हैं। प्रजा तभी शान्ति से सो पाती है जब राजदण्ड जागरित रहकर पहरा देता है। ३. यहाँ प्रजा का विशेषण 'अंहुभेद्याः' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रजा में पाप की वृत्ति न हो—लोग अन्याय से धन न कमाएँ तो चोरियाँ अपने आप ही कम हो जाती हैं। जब कमाने में अन्याय आ जाता है तब चोरियाँ भी बढ़ने लगती हैं। अन्याय से कमाने की वृत्ति के बढ़ जाने पर ही चोरों की उत्पत्ति होती है। प्रजा में से ही ये चोर उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में दण्ड-व्यवस्था को इस प्रकार सुव्यवस्थित रक्खे कि चोर व डाकू दण्ड-भय से कम्पित होकर इस मार्ग को ही छोड़ दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

नारी=नरहितकारिणी सभा

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः।
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥२९॥

१. राजा के राजकार्य में सहायकरूप से जो दशावरा व त्र्यवरा परिषद् बनती हैं उनका मुख्य उद्देश्य 'प्रजा का हित करना' है, अतः नर-हितकारिणी यह सभा यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'नारी' शब्द से कही गई है। इस सभा में **यत्**=जब **ललामगुम्**=सुन्दर वाणीवाले (ललाम=सुन्दर, गो=वाणी) तथा **विष्टीमिन्**=विशेषरूप से प्रजा के लिए करुणार्द्रभाववाले (स्तीम्=आर्द्रीभावे) राजा को **देवासः**=विद्वान् लोग, व्यवहारकुशल विद्वान् **प्र अमाविषुः**=प्रकर्षेण व्याप्त कर लेते हैं तब वे **यथा**=जैसे **सत्यस्य अक्षिभुवः**=सत्य की आँखों से देखनेवाले होते हैं, उसी प्रकार अर्थात् उसी अनुपात में **नारी**=वह नरहितकारिणी सभा **सक्थ्ना**=(षच सवने सचने च, षच् समवाये) सेवन की वृत्ति से, प्रजा पर सुख का सेचन करने से तथा अपने अन्दर समवाय व मेल से **देदिश्यते**=(Point out) संकेतित होती है, अर्थात् उस सभा के ये तीन मुख्य गुण हैं, (क) वह प्रजा की सेवा करनेवाली होती है, (ख) प्रजा पर सुखों का सेचन करती है और (ग) उस सभा के सभ्यों में परस्पर मेल होता है, वहाँ पक्ष, प्रति-पक्ष की फूट प्रबल नहीं हो पाती। २. मन्त्रार्थ से स्पष्ट है—राजा सभा में कभी कटु वाणी नहीं बोलता, वह 'ललामगु' होता है। अथर्व० ७।१२।१। में राजा कहता है कि **'चारु वदानि पितरः संगतेषु'**=हे सभासदो! मैं सभा के सभ्यों के एकत्र होने पर सदा सुन्दर शब्द ही बोलूँ। ३. अथर्व ७।१२।२ में इस सभा को नरिष्टा=मनुष्यों के लिए इष्ट को सिद्ध करनेवाली' शब्द से स्मरण किया गया है। यही भाव यहाँ 'नारी' शब्द से कहा गया है **'विद्म सभे ते नाम नरिष्टा नाम वा असि'**। ४. सभा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ पार्टीबाज़ी व वैमनस्य नहीं। **'ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः'** (अ० ७।१२।२) सब सभासद् ऐकमत्यवाले हों। जितना-जितना सभासद सत्य की ओर

झुकाववाले होंगे, सत्य की ही आँख से देखनेवाले होंगे उतना-उतना वे परस्पर समीप होंगे। ५. 'प्र अमाविषु:'=व्याप्त करते हैं। यह शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा विद्वानों से ही घिरा होगा तो सभा प्रजा का कल्याण करनेवाली होगी, खुशामदियों से घिरा होगा तो वह राजा प्रजा का क्या कल्याण कर पाएगा?

भावार्थ—जब राजा को विद्वान् लोग व्याप्त करते हैं तभी राजसभा प्रजा की सेवा कर पाती है।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**राजा**। छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

हरिण का यवभक्षण

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥३०॥

१. **यत्**=जब **हरिण:**=राष्ट्र, अर्थात् राष्ट्र का अधिकारी राजा **यवम्**=प्रजा को (विड् वै यवो राष्ट्रं हरिण:—श० १३।२।९।८) **अत्ति**=खाने लगता है तब वह **पुष्टम्**=पोषणवाली को, राष्ट्र की उन्नति को **पशु**=(पशुम्=प्रजा वै पशव:—श०१।४।६।१७) प्रजा को **न मन्यते**=आदर नहीं देता। वे पुष्ट प्रजाएँ ही वस्तुत: राष्ट्र की उन्नति का भी मूल है, ऐसा वह नहीं समझता। ऐसा न समझकर वह भारी करों द्वारा व अन्य उपायों द्वारा उनकी सम्पत्ति को हड़पने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने ही मूल को समाप्त कर लेता है। ऐसा राजा अपने भोग-विलास को ही महत्त्व देता है, प्रजा के पोषण को नहीं। २. एक **शूद्रा**=दासी **यत्**=जब **अर्यजारा**=स्वामी की 'जारा' बनकर उसकी शक्तियों को जीर्ण करनेवाली होती है तब वह **पोषाय**=वंश-पोषण के लिए **न धनायति**=सन्तान-धन की इच्छा नहीं करती। वहाँ भोगवासना का प्राधान्य होता है, वंशवृद्धि की भावना का वहाँ अभाव होता है। इसी प्रकार जिस राजा में विलास की वृत्ति आ जाती है, वह प्रजोन्नतिरूप धन की कामना से शून्य हो जाता है।

भावार्थ—जैसे एक दासी अपने स्वामी का उपभोग करती हुई वंशवृद्धि की कामनावाली नहीं होती, उसी प्रकार एक विलासी वृत्तिवाला राजा प्रजा को अत्यधिक कर आदि द्वारा खाता हुआ प्रजा-पोषण को महत्त्व नहीं देता।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**राजप्रजे**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

पोषण की भावना का अभाव

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते।
शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते॥३१॥

१. **यत्**=जब **हरिण:**=जिसने प्रजा के दु:खों का हरण करना था, वह राजा ही **यवम्**=प्रजा को (अपने से दोषों को दूर करनेवाली व गुणों से अपना मेल करनेवाली प्रजा को) **अत्ति**=खाता है, वह **पुष्टम्** =प्रजा के पोषण को **न बहु मन्यते**=बहुत महत्त्व नहीं देता। विलास की वृत्ति राजा को अन्धा बना देती है और वह विलास में फँसा हुआ प्रजा का तो नाश करता ही है, अपना भी नाश कर बैठता है। २. **शूद्र:**=एक शूद्र जब **अर्यायै जार:**=किसी वैश्य स्त्री का प्रेमी बन जाता है तब **पोषम्**=वंशवर्धन की न **अनुमन्यते**=कभी स्वीकृति नहीं देता, अर्थात् उसके उस प्रेम में केवल विलासिता-ही-विलासिता होती है, वहाँ कोई उच्च भावना काम नहीं कर रही होती। इस प्रकार एक विलासवृत्ति का राजा प्रजा-पोषण का नाममात्र भी ध्यान नहीं देता।

भावार्थ—राजा विलासी हो जाए तो वह उस शूद्र व्यक्ति के समान होता है जो एक स्वामिनी का प्रेमी बनकर वंशवृद्धि के विचार को कोई महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'दधिक्रावा' का स्तवन

दधिक्राव्णोंऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र णऽआयूंᳬषि तारिषत्॥३२॥

१. 'हमारे जीवन विलासमय न हो जाएँ' इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा प्रभु का उपासन करें, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के उपासन का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैं उस प्रभु का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ (विष्णोः करोमि=विष्णु का स्तवन करता हूँ) जो (क) **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) धारणात्मक कर्म करते हुए गति करता है। उस प्रभु का प्रजाकर्म धारणात्मक है। (ख) **जिष्णोः**=जो प्रभु विजयशील हैं। वस्तुतः हम जो भी विजय प्राप्त करते हैं उस विजय को वे प्रभु ही हमें प्राप्त करा रहे होते हैं। प्रभु कभी पराजित नहीं होते। (ग) **अश्वस्य**=(अश्व व्याप्तौ) वे प्रभु व्यापक हैं। हमें भी उस प्रभु का अनुकरण करते हुए व्यापक व उदार बनना है। (घ) **वाजिनः**=उस प्रभु का जो (वज् गतौ) क्रियाशील व शक्तिशाली हैं (वाज=शक्ति)। २. इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हमें भी 'दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। ३. इस प्रकार बननेवाला पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि वे प्रभु **नः मुखा**=हमारे मुखों को **सुरभि करत्**=सुगान्धित करे। हमारे मुख से कोई कड़वा शब्द न निकले तथा **नः आयूँषि**=हमारे जीवनों को **प्रतारिषत्**=दीर्घ कर दे। जब हमारे मुखों से कोई अशुभ शब्द नहीं निकलता तब हमें अवश्य दीर्घजीवन प्राप्त होता है। कड़वे शब्द हमारे आयुष्य को भी काटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' पुरुष के मुख से कोई अपशब्द उच्चारित नहीं होता और इसे दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

छन्दों के नामों का उपदेश

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३३॥

१. **गायत्री**=छन्द 'गयः प्राणास्तान् तत्रे'='प्राणशक्ति की रक्षा करना' इस **सूचीभिः**=सूचना से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करें। गायत्री छन्द का तुझे यही उपदेश है कि तू प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाला बनना। प्राणशक्ति की रक्षा से स्वस्थ बनकर तू शान्ति को प्राप्त करनेवाला होगा। २. **त्रिष्टुप्**=छन्द 'त्रि+स्तुप्'='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की सूचना देता है। 'त्रिष्टुप्' छन्द का उपदेश यही है कि तूने काम-क्रोध-लोभ इन तीनों को रोकना है। ये ही नरक के द्वार हैं। इनको बन्द करके तू स्वर्ग की शान्ति का अनुभव कर पाएगा। ३. **जगती**=छन्द 'निरन्तर गति' का उपदेश देता हुआ तेरे जीवन को शान्त बनाए। स्वस्थ बनकर, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर तूने निरन्तर क्रिया में लगे रहना है। ४. **अनुष्टुप्** (अनुस्तौति)=छन्द यह सूचना देता है कि तू गति करता हुआ, क्रिया करता हुआ प्रभु का स्तवन अवश्य कर। प्रभुस्मरण के साथ की गई क्रियाएँ तेरे जीवन की शान्ति का कारण

बनेंगी। प्रभु को न भूलकर किये जानेवाले कर्म पवित्र होते हैं। पवित्रता सदा शान्ति देती है। ५. **पङ्क्त्या सह**=पंक्ति छन्द के साथ अनुष्टुप् तुझे प्रभुस्मरण की सूचना द्वारा शान्ति प्रदान करे। पंक्ति छन्द की सूचना यह है कि तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाला बन, पाँचों कर्मेन्द्रियों को तू सशक्त बना, तेरे पाँचों प्राण अपना-अपना कार्य ठीक से करें। इस पंक्ति छन्द की सूचना को कार्यान्वित करके तू सचमुच 'पञ्चजन'=पाँचों का विकास करनेवाला व दूसरे अर्थों में सच्चा मनुष्य बनेगा। ६. **बृहती**=छन्द की सूचना यह है कि तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी दृष्टिकोणों से सदा वर्धमान हो। 'वृद्धि' तेरे जीवन का सूत्र हो। इस सूत्र को स्मरण करने से तू उन्नति की ओर ही बढ़ेगा और वास्तविक शान्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रहा होगा। ७. **उष्णिहा**=(उत् स्निह्यति) छन्द की सूचना यह है कि तूने उत्कृष्ट स्नेह करनेवाला बनना है। प्रकृति की ओर न झुककर प्रभु की ओर उन्मुख होना है। यही तेरी उन्नति का साधन होगा। ८. **ककुप्**=छन्द 'शिखर' का वाचक है। इसकी सूचना यही है कि उन्नत होते-होते तूने शिखर तक पहुँचना है। शिखर तक पहुँचे बिना विराम नहीं लेना। ९. इस प्रकार ये छन्द 'गायत्री' से प्रारम्भ होकर 'ककुप्' पर समाप्त होते हुए यही कह रहे हैं कि (क) तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा कर। (ख) प्राणशक्ति की रक्षा के लिए ही 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकनेवाला बन। (ग) इनको रोकने के लिए क्रिया में लगा रह। (घ) क्रिया को करते हुए प्रभु को न भूल। (ङ) इस प्रकार तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को सबल बना पाएगा। (च) तू सदा अपना वर्धन करनेवाला बन। (छ) इस वर्धन के लिए तू उत्कृष्ट स्नेहवाला हो और (ज) शिखर तक पहुँचनेवाला बन। सब छन्दों की सूचनाएँ तेरे जीवन को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—छन्दों के नाम उच्च भावनाओं की सूचना देते हुए हमें शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

छन्दों के विविध स्वरूपों के उपदेश

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३४॥

१. **द्विपदाः**=जो छन्द की जातियाँ दो चरणोंवाली हैं **याः**=जो **चतुष्पदाः**=चार चरणोंवाली हैं **त्रिपदाः** =जो तीन चरणोंवाली हैं **याः च**=और जो **षट्पदाः**=छह चरणोंवाली हैं, **विच्छन्दाः**=जो छन्दोंरहित विषमाक्षर गद्यरूप हैं **याः च**=और जो **सच्छन्दाः**=छन्दोंयुक्त हैं, वे सब **सूचीभिः**=विविध उपदेशों की सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। २. द्विपद छन्दों की सूचना है कि तू 'ज्ञान व कर्म' इन दोनों को अपनानेवाला हो। ये एक पक्षी के दो पंखों की भाँति हैं। जैसे पक्षी किसी एक पंख से आकाश में उड़ नहीं सकता, इसी प्रकार तू अकेले ज्ञान वा अकेले कर्म से उड़ न सकेगा। ३. चतुष्पदा छन्द कह रहे हैं कि 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' ये चारों ही तेरी **पद**=प्राप्य वस्तु हैं। धर्म व मोक्ष को भूलकर तू अर्थ व काम में ही न फँस जाना। ४. त्रिपदा छन्द कहते हैं कि तूने तीन कदम रखने हैं तभी तू त्रिविक्रम बनेगा। तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बना। 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों पर आक्रमण करनेवाला बन। 'सत्य, यश, श्री' तीनों को धारण कर। त्रिमात्रा ओंकार का ध्यान करके त्रिलोकी का विजय करनेवाला हो। ५. षट्पदा छन्द 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य' इन छह-के-छह शत्रुओं पर आक्रमण की सूचना दे रहे हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व छठे मन को काबू करने का ये उपदेश देते हैं। ६. 'विछन्द' यदि

छन्दरहित-इच्छा रहित होने का उपदेश देते हैं तो 'सच्छन्द' कह रहे हैं कि तुममें वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग करने की इच्छा तो होनी ही चाहिए।

भावार्थ—मन्त्र के विविध छन्दों की स्वरूप-सूचनाएँ हमें शान्ति देनेवाली बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

विविध वाणियों के उपदेश

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३५॥

१. **महानाम्न्यः**=महानाम्नी नामवाली **वाचः**=ऋग्वाणियाँ **सूचीभिः**=अपने सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। ये 'महानाम्नी' ऋचाएँ महान् प्रभु के नामों का स्मरण कराने के कारण 'महानाम्नी' कहलाती हैं। प्रभु नाम-स्मरण से मनुष्य में ये शक्ति उत्पन्न करती हैं, अतः 'शक्वर्यः' नामवाली भी हो जाती हैं। इनका उपदेश यही है कि 'उस महान् प्रभु के नाम का जप करो और उसके अर्थ की भावना करो'। जीवन की सच्ची पवित्रता व शान्ति इसी से प्राप्त होती है। २. **रेवत्यः**=रेवत नामवाली **वाचः**=रेवती वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। इन वाणियों से ही हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करने का बोध लेते हैं। ३. **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **प्रभूवरीः** =शक्तिशाली बनानेवाली **वाचः**=वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से तुझे शान्त करें। इन वाणियों का उपदेश है कि तुम अपनी सब दिशाओं को शक्तिशाली बनाओ, अर्थात् सब दिशाओं में उन्नति करनेवाले बनो। तुम्हारा शरीर-मन-मस्तिष्क सभी प्रभावशाली हों। ४. **मैघीः**=मेघों के समान ज्ञानजल का वर्षण करनेवाली ये **वाचः**=वाणियाँ तुझे अपनी सूचनाओं से शान्त करें। इनकी सूचना है कि जैसे मेघ जल की वर्षा से औरों के सन्तापों को हरता है उसी प्रकार तू ज्ञानजल के वर्षण से औरों को सुखी करनेवाला हो। ५. **विद्युतः**=ये विशेष द्युतिवाली **वाचः**=वाणियाँ, विद्युत् के समान चमकती हुई सूचना दे रही हैं कि तू विशिष्ट ज्ञान से चमकनेवाला बन। यह सूचना तेरे जीवन का अङ्ग बने और तुझे शान्ति प्राप्त कराए।

भावार्थ—वेद की विविध वाणियाँ यह उपदेश दे रही हैं कि (क) तुम उस महान् प्रभु के नाम का स्मरण करो। (ख) वास्तविक ऐश्वर्य का अर्जन करो। (ग) सब दिशाओं में उन्नति करो। (घ) मेघों की भाँति सन्ताप हरनेवाले बनो और (ङ) बिजली की भाँति चमकते हुए अन्धेरे में औरों को रास्ता दिखानेवाले बनो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

सोम-विचयन

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३६॥

१. मन्त्र संख्या २९ में राजा की सभा को नारी=नरिष्टा=नरहितकारिणी कहा गया था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी पत्नीभूत, राष्ट्रयज्ञ के चलाने के लिए जिनके साथ तेरा संयोग हुआ है वे ये तेरी पत्नियाँ (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे) **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ, अर्थात् सभा के सब सभ्य **मनीषया**=(मनसः ईषा) मन पर शासन करने के दृष्टिकोण से **लोम विचिन्वन्तु**=(सामानि यस्य लोमानि) साम का, प्रभु की उपासना का

सञ्चय करें, अर्थात् प्रभु की उपासना के मन्त्रों का संग्रह करके उन मन्त्रों से प्रभु-स्तवन के द्वारा अपने मनों को विषयों में जाने से रोकनेवाली हों। २. **देवानां पत्न्यः**=इन्द्रादि देवताओं की पत्नीभूत ये **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **सूचीभिः**=सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करनेवाली हों। 'प्राची' का उपदेश=प्र अञ्च्=आगे बढ़ने का है, 'दक्षिणा'=दक्षिण व कुशल बनने को कह रही है और 'प्रतीची'=विषयव्यावृत्त होकर इन्द्रियों को प्रत्याहृत करने का उपदेश देती है 'उदीची' (उद् अञ्च्) ऊपर उठने का उपदेश दे रही है। ये सब उपदेश तेरे जीवन में शान्ति लानेवाले बनें। ३. 'छन्दांसि वै लोमानि' (श० ६।४।१।६) इस वाक्य में छन्द को, वेद मन्त्रों को 'लोम' नाम दिया गया है। ये वेदमन्त्र छन्द हैं, पापवृत्तियों से सचमुच बचानेवाले हैं। गृहपत्नियाँ खाली समय में इन्हीं का विचयन (संग्रह) अध्ययन करेंगी तो उनका मन व्यर्थ की बातों में जाएगा ही नहीं। ऐसी पत्नियाँ सचमुच 'नार्य' नरहितकारिणी होंगी। अपने पति के लिए उत्तम गृह का निर्माण करती हुई उसके जीवन को सुखी करेंगी। भाइयों में संघर्ष का कारण भी न बनेंगी।

भावार्थ—राजसभा के सभ्य मन को वशीभूत करने के दृष्टिकोण से रिक्त समय में उपासना-मन्त्रों का संग्रह करें। दिशाएँ (पत्नियाँ) 'आगे बढ़ने' आदि उपदेशों से हमारे जीवनों में शान्ति स्थापित करें।

नोट—'लोम' शब्द का अर्थ 'लूञ् छेदने' से यदि छेदन किया जाए तो पूर्वार्द्ध का अर्थ इस प्रकार होगा कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी कार्य की पूरिका ये **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ **मनीषया**=बुद्धि से पूर्ण विचार करके, **लोम**=राष्ट्र के दोषों के छेदन का तथा शत्रुओं के उपद्रव के भेदन का **विचिन्वन्तु**=विचार करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्तम गृहिणी

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥३७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में गृहिणियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **रजताः**=(अनुरक्तम्—द०) अनुरागवाली **हरिणीः**=अपने उत्तम व्यवहार व कार्यकुशलता से दुःखों का हरण करनेवाली अथवा मन को आकृष्ट करेनवाली, **सीसाः**=(षिञ् बन्धने) प्रेममय व्यवहार से घर में सबको परस्पर बाँधकर रखनेवाली, घर में लड़ाई-झगड़े न होने देनेवाली, **युजः**=सदा पति का साथ देनेवाली, उसके साथ मिलकर गृहस्थ के बोझ को उठानेवाली पत्नियाँ **कर्मभिः युज्यन्ते**=कर्मों से सदा सङ्गत रहती हैं। इनका जीवन कभी अकर्मण्यता का नहीं होता। २. **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली पति के **त्वचि**=संवरण में, रक्षा में, जैसे शरीर को त्वचा ने सुरक्षित किया हुआ है उसी प्रकार पति ने घर को सुरक्षित रखना है **सिमाः**=(सर्वाः=Whole) पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त हुई-हुई **शम्यन्तीः**=शान्ति को प्राप्त होती हुई **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। ३. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के गुणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है कि (क) **रजताः**=वे अनुरागवाली हों। प्रेम के अभाव में गृहस्थ-भवन की नींव ही नहीं पड़ सकती, (ख) **हरिणीः**=वे अपने उत्तम व्यवहार से कष्टों का हरण करनेवाली हों। पत्नी का व्यवहार ही घर को स्वर्ग व नरक बना देता है, (ग) **सीसाः**=पत्नियाँ प्रेममय व्यवहार से घर में सबको बाँधनेवाली हों। वे भाइयों को परस्पर झगड़ने न दें, (घ) **युजः**=सदा पति के कर्मों में सहयोग देनेवाली हों, (ङ) **युज्यन्ते**

कर्मभिः=कभी अकर्मण्य न हों, (च) **अश्वस्य वाजिनः त्वचि**=उन्हें कर्मशील शक्तिशाली पति का संरक्षण प्राप्त हो, (छ) **सिमाः**=वे पूर्ण स्वस्थ हों, विकलांग न हों, (ज) **शम्यन्ती**=शान्त स्वभाववाली हों। (झ) **शम्यन्तु**=औरों को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—गृहिणी उत्तम गुण-कर्म व स्वभाव से घर को स्वर्ग बनानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभासदः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आत्मदेह-विवेक

कुविदङ्ग यवमन्तो यवञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार घर के शान्त वातावरण में ही मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सकता है। घर स्वर्ग बनेगा तो वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। ये दिव्य वृत्तिवाले लोग **कुवित्**=खूब **अङ्ग**=शीघ्र ही, **यवमन्तः**=अच्छी कृषिवाले किसान **यव**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः एक ओर से **वियूय**=कुछ-कुछ अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, उसी प्रकार क्रमशः एक ओर से शुरू करके पहले अन्नमयकोश को, फिर प्राणमय, उसके बाद मनोमय, फिर विज्ञानमय व अन्त में आनन्दमय को अलग करके अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं। २. इन साधकों में कोई अभी 'अन्नमयकोश' मैं नहीं हूँ, ऐसा ही निश्चय करने का प्रयत्न कर रहा होता है, कोई इससे ऊपर 'प्राणमयकोश मैं नहीं हूँ' ऐसा निश्चय कर चुका होता है। कोई मनोमय से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहा होता है तो कोई विज्ञानमय तक पहुँच रहा होता है। कोई एक आध सौभाग्यशाली साधक आनन्दमय तक पहुँच गया होता है और आत्मानन्द ले-रहा होता है। हे प्रभो! आप **इह इह**=इस-इस स्थान में पहुँचे हुए इन सब अभियुक्त (साधना में लगे हुए) व्यक्तियों का **भोजनानि**=पालन **कृणुहि**=कीजिए। आप ही इनके योगक्षेम का ध्यान करते हैं। ३. आप उन सबके योगक्षेम को चलाते हैं **ये**=जो **बर्हिषः**=हृदय में से वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले लोग **नमउक्तिम्**=नमन के वचनों को, नम्रतापूर्ण स्तुति वचनों को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। वस्तुतः प्रभु के प्रति नमन ही उन्हें वासनाओं को उन्मूलित करने में सहायक होता है। वासनाओं के विनष्ट होने पर पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—एक-एक कोश को चिन्तनपूर्वक अलग करते हुए हम आत्मरूप को देख पाते हैं। इस आत्मरूप का दर्शन तभी होगा जब हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँगे। हृदय की पवित्रता प्रभु के प्रति नमन से होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-दर्शक के प्रति प्रभु

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति।
कऽउ ते शमिता कविः॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाले **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दस्वरूप प्रजापति **आछ्यति**=समन्तात् विषयों से छिन्न करता है, छुड़ाता है। प्रभु-स्मरण वासनाओं के विनाश का सर्वोत्तम व एकमात्र उपाय है। २. वे **कः त्वा**=आनन्दस्वरूप प्रभु ही तुझे वासनाओं से पृथक् करके **विशास्ति**=विशिष्ट अनुशासन करते हैं, विविध धर्मों का उपदेश करते हैं। और ३. इस उपदेश के द्वारा **कः**=वे आनन्दघन प्रजापति **ते**=तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **शम्यति**=शान्त

करते हैं। वासना की उष्णता नष्ट होकर हृदय में शान्ति के राज्य की स्थापना उस प्रभु के द्वारा की जाती है। ४. इस प्रकार वे **कः**=आनन्दमय व अनिर्वचनीय प्रजापति **कविः**=जो क्रान्तदर्शी हैं, वे **उ**=निश्चय से **ते**=तुझे **शमिता**=शान्ति देनेवाले हैं। प्रभुभक्त का हृदय पवित्र होता है, परिणामतः शान्त होता है। इस शान्तपुरुष को ही वास्तविक सुख का अनुभव होता है।

भावार्थ—अपने भक्त को प्रभु वासनाओं से विच्छिन्न करते हैं। उसको विशिष्ट अनुशासन करके शान्त अङ्गोंवाला करते हैं। ये क्रान्तदर्शी प्रभु ही वस्तुतः हमें शान्ति का लाभ कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ऋतुओं की अनुकूलता

ऋतवस्तऽऋतुथा पर्व शमितारो वि शासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता होने पर ब्रह्माण्ड के सभी देवों की अनुकूलता हो जाती है। उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—**ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ **ते**=तेरे **ऋतुथा**=उस-उस ऋतु के अनुसार चलने से **पर्व**=एक-एक जोड़ को **शमितारः**=शान्त करनेवाली होकर **विशासतु**=विशिष्ट उपदेश दें। ऋतुएँ सब सुन्दर हैं, परन्तु जब मनुष्य प्रभु से दूर होकर विषयों में भटक जाता है तब उसके पर्वों में विविध मलों का संग्रह होकर शरीर में विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतुचर्या ठीक होने पर शरीर व मन दोनों नीरोग होते हैं और यह नीरोग व्यक्ति वसन्त आदि के उपदेश को जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करता है। यह 'वसन्त' की भाँति उत्तम निवासवाला व उत्तम शक्तियों के विकासवाला बनने का प्रयत्न करता है। 'ग्रीष्म' की भाँति उत्साहसम्पन्न व निरालस्य बनता है। 'वर्षा' के समान लोगों पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा उनके सन्ताप को हरने का प्रयत्न करता है। 'शरद' की भाँति बुराईरूप सब पत्तों को अपने से झाड़नेवाला बनता है। बुराइयों को झाड़कर 'हेमन्त' की भाँति अपना (हि उपचये) उपचय (वृद्धि) करता है और 'शिशिर' से (शश प्लुतगतौ) तीव्र गति का उपदेश ग्रहण करता है। कार्यों में पूरे उत्साह से लगा रहता है। २. इस प्रकार ये सब ऋतुएँ मिलकर **'संवत्सर'**=(वर्ष) को बनाती हुई **संवत्सरस्य तेजसा**=सम्पूर्ण वर्ष की तेजस्विता से, अर्थात् जिस तेजस्विता में बीमार पड़ जाने के कारण कमी नहीं आ गई, उस तेजस्विता से तथा **शमीभिः**=(शमी=कर्म—नि० २।१) शान्तिपूर्वक किये जाते हुए कर्मों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए सब ऋतुएँ अनुकूल व सुन्दर होती हैं। वे उसके पर्व-पर्व को शान्त करनेवाली होती हैं। इन ऋतुओं से सूचित उपदेश को भक्त ग्रहण करता है और ये ऋतुएँ नीरोगता के कारण सम्पूर्ण वर्ष की अक्षीण तेजस्विता से तथा कर्मों से इसके जीवन को शान्त बनाती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दिन-रात, पक्षों व मासों की अनुकूलता

अर्द्धमासाः परूᳬंषि ते मासाऽआ च्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टꣳसूदयन्तु ते॥४१॥

१. **अर्धमासाः**=आधे मास, अर्थात् शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष, **मासाः**=वर्ष के बारह

महीने, **शम्यन्तः**=तेरे जीवन को शान्त बनाते हुए **ते परूँषि**=तेरे सब जोड़ों (joints) को **आच्छ्यन्तु**=दोषों से छिन्न=रहित करें। दोनों पक्ष तेरे अनुकूल हों। मास भी तेरे अनुकूल हों। उनके अनुकूल व्यवहार करने से तेरे सब पर्व दोषशून्य हों। २. **अहोरात्राणि**=दिन-रात अर्थात् सदा **मरुतः**=ये ४९ प्रकार की वायु **ते**=तेरे **विलिष्टम्** =थोड़े-से भी अल्पीभाव व न्यूनता को **सूदयन्तु**=नष्ट करें। जिस समय मनुष्य प्रत्येक मास का ध्यान करते हुए तथा पक्षों का विचार करते हुए अपना आहार-विहार ठीक रखता है तो शरीर में सब प्राणवायुएँ ठीक कार्य करती हैं और वे **मरुत्**=प्राण दिन-रात उसकी न्यूनताओं को दूर करने में लगे रहते हैं। शरीर में होनेवाली थोड़ी-थोड़ी कमी को भी (विलिष्टम्) ये दूर करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—अर्धमास, मास, दिन-रात व प्राण (मरुत्) हमारे अनुकूल हों और हमारे थोड़े-से भी दोष को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अनुकूल सङ्ग (सत्सङ्ग)

दैव्याऽअध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शासतु।

गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः॥४२॥

१. **दैव्याः**=(देवस्य इमे) उस प्रभु के भक्त पुरुष **अध्वर्यवः**=(अध्वरं कामयमानाः) यज्ञ की कामनावाले **त्वा**=तुझे **आच्छ्यन्तु**=सब प्रकार की बुराइयों से विच्छिन्न करें। **च**=और **विशासतु**=विशिष्ट रूप से अनुशासन करें। जो 'दैव्य अध्वर्यु' पुरुष हैं वे अपने जीवन के उदाहरण से हमें सुप्रेरणा प्राप्त कराते हैं और हमें बुरे मार्ग से हटाकर उत्तम मार्ग पर लाते हैं। इस प्रकार वे हमें बुराइयों से विच्छिन्न करनेवाले हैं। उन व्यक्तियों का उपदेश हमारे लिए सचमुच बड़ा प्रभावजनक होता है और २. **शम्यन्तीः**=तेरे जीवन को शान्त बनाती हुई **सिमाः**=(सर्वः=Whole) पूर्ण स्वस्थ तेरी शक्तियाँ **ते** =तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **पर्वशः**=एक-एक पर्व में **कृण्वन्तु**=संस्कृत करनेवाली हों। शान्त व स्वस्थ पत्नी पति को भी उसी प्रकार स्वस्थ व शान्त बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हमें 'दैव्य अध्वर्यु'=भक्त, यज्ञशील लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ भी शान्त व स्वस्थ हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सर्वलोकानुकूल्य

द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।

सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥४३॥

१. **ते**=तेरा **द्यौः**=द्युलोक, **पृथिवी**=पृथिवीलोक, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक तथा इस अन्तरिक्षलोक में चलनेवाली **वायुः**=वायु **ते छिद्रम्**=तेरे शरीर में होनेवाले दोषमात्र को **पृणातु**=भर दे, अर्थात् इन सबकी अनुकूलता से तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक हों। विकलाङ्गता तो हो ही नहीं। सकलाङ्गता के साथ वे सब अङ्ग अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण स्वस्थ हों। यहाँ '**ते**=तेरा' यह सम्बन्ध शब्द स्पष्ट कह रहा है कि इन सब लोकों के साथ हमारा अपनापन हो। ये सब हमारे मित्र हों न कि शत्रु। २. **सूर्यः**=यह सूर्य **नक्षत्रैः सह**=अन्य सब नक्षत्रों के साथ **ते लोकम्**=तेरे दर्शन को (लोक दर्शने) तेरी दृष्टिशक्ति को **साधुया**

कृणोतु=साधु, समीचीन, उत्तम बना दे। वस्तुतः सूर्य दृष्टिशक्ति बनकर अक्षि में निवास करता है। इस सूर्य की अनुकूलता होने पर हमारी दृष्टिशक्ति के ठीक होने पर हमारा यह संसार भी सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक, वायु, सूर्य तथा नक्षत्र ये सब हमारे अनुकूल होकर हमारे शरीरों को निर्दोष करें तथा हमारी दृष्टिशक्ति को उत्तम करके हमारे संसार को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

शमन्वित (शान्तिगुणयुक्त) शरीर

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव॥४४॥

१. बाह्य संसार की अनुकूलता होने पर यह शरीररूप छोटा पिण्ड भी बड़ा स्वस्थ बनता है, अतः कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार द्युलोक आदि की अनुकूलता होने पर तेरे **परेभ्यः गात्रेभ्यः**=उत्कृष्ट, ऊपर के सिर, हाथ आदि अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति हो। **अवरेभ्यः (गात्रेभ्यः) शम् अस्तु**=अवर (lower), निचले पाँव आदि अङ्गों के लिए शान्ति हो। २. **अस्थभ्यः मज्जभ्यः**=शरीर की सब दुर्बलताओं को दूर फेंकनेवाली (अस्यन्ति=क्षिपन्ति) इन हड्डियों के लिए तथा (मज्जन्ति शुचन्ति=शुद्धिं कुर्वन्ति) शोधन करनेवाली मज्जा के लिए **शम्**=शान्ति हो। हड्डियों के ठीक होने पर ही शरीर का ठीक होना निर्भर है। इनकी निर्बलता मनुष्य को दुःख देती है। मज्जा के ठीक होने पर शरीर शुद्ध बना रहता है। ३. इस प्रकार **तव**=तेरे **तन्वै**=सम्पूर्ण शरीर के लिए **उ**=निश्चय से **शम् अस्तु**=शान्ति हो।

भावार्थ—बाह्य द्युलोक आदि की अनुकूलता से हमारे पर, अवर सब गात्र तथा अस्थि व मज्जा तथा सम्पूर्ण शरीर रोगों के उपद्रव से रहित व शान्त हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्मोद्य=ज्ञानचर्चा

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥४५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यादयः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४६॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शरीर के स्वस्थ व शमगुणयुक्त होने पर मनुष्य उत्तम ज्ञानचर्चाएँ करते हुए परस्पर प्रश्नोत्तर के प्रकार से ज्ञान का विस्तार करते हैं और उदाहरण के लिए निम्न प्रश्न उपस्थित करते हैं—(क) **स्वित्**=भला **कः**=कौन **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? किसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती? (ख) **कः स्वित्**=कौन भला **पुनः**=फिर **जायते**=विकास को प्राप्त करता है? (ग) **किं स्वित्**=भला क्या **हिमस्य भेषजम्**=हिम का, ठण्डक का औषध है? (घ) **उ**=और **किम्**=क्या **महत्**=महान् **आवपनम्**=बोने का स्थान है? २. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क)

सूर्यः=सूर्य **एकाकी चरति**=अकेला विचरता है। पृथिवी आदि सूर्य से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर घूमें तो घूमें, सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार अपराश्रित रूप से विचरनेवाला व्यक्ति ही सूर्य की भाँति चमकता है। स्वतन्त्रता में ही चमक है, (ख) **चन्द्रमा**=चाँद **पुनः**=फिर, कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर से **जायते**=विकसित हो जाता है। शरीर में यही चन्द्रमा मन है और मन के विकास के अनुपात में ही मनुष्य का विकास होता है, (ग) **हिमस्य**=ठण्डक का **भेषजम्**=औषध **अग्निः**=अग्नि है। शरीर में वाणी ही अग्नि है। यह वाणी किसी भी ठण्डे पड़े आन्दोलन को फिर से प्रचण्ड कर देने का सामर्थ्य रखती है, (घ) **भूमिः**=यह भूमि ही **महत् आवपनम्**=सबसे महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। 'पृथिवी शरीरम्' अध्यात्म में शरीर ही पृथिवी है। मनुष्य इसी में वीर्य का वपन करता है। शरीर में वीर्य को सुरक्षित करने पर ही यह बीज ज्ञानाङ्कुर व अन्य दिव्यांकुरों को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपराश्रित होकर विचरेंगे तो सूर्य की भाँति चमकेंगे। मन को विकसित करके अपने विकास को साधेंगे। वाणी से उत्साह का सञ्चार करेंगे तो शरीर एवं पृथिवी को बीज-(वीर्य)-वपन का स्थान बनाते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों के अंकुरों को प्रादुर्भूत करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्म-द्यौः-इन्द्र-गौः

कि॒ꣳस्वि॒त्सूर्य॑सम॒ं ज्योति॒ः कि॑ꣳसमु॒द्रस॑म॒ꣳसर॑ः।
कि॒ꣳस्वि॒त्पृथि॒व्यै वर्षी॑यः कस्य॒ मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥४७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मादयः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्म॒ सूर्य॑सम॒ं ज्योति॒र्द्यौः स॑मु॒द्रस॑म॒ꣳसर॑ः।
इन्द्र॑ः पृथि॒व्यै वर्षी॑या॒न् गोस्तु मात्रा॒ न वि॑द्यते॥४८॥

१. **स्वित्**=भला **सूर्यसमम्**=सूर्य के समान **ज्योतिः**=प्रकाश **किम्**=क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **ब्रह्म**=परमात्मा ही **सूर्यसमं ज्योति** :=सूर्य के समान प्रकाश हैं। वेद में प्रभु को 'आदित्यवर्णम्' शब्द से स्मरण किया गया है। गीता में **'दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'** इन शब्दों में प्रभु की ज्योति को हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति से प्रतितुलित करने का प्रयत्न किया गया है। **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** इन वेद के शब्दों में प्रभु को सूर्य की तेजस्विता का कारण कहा है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश है और चन्द्रमा उसकी एक किरण से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रभु स्वयं प्रकाश हैं। जीव उस प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता है। (ख) यही ब्रह्म अध्यात्म में ज्ञान है। ज्ञान ही सूर्यसम ज्योति है। हमें अपने ज्ञान को सूर्य के समान दीप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। २. दूसरा प्रश्न, **समुद्रसमं सरः किम्**=समुद्र के समान तालाब कौन-सा है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **द्यौः**=द्युलोक ही **समुद्रसमं सरः**=समुद्र के समान तालाब है। वस्तुतः द्युलोकस्थ सूर्य इस पृथिवी के तालाबरूप समुद्र के पानी को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और वे वाष्प ऊपर जाकर कुछ घनीभूत होकर मेघरूप में परिणित होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र का निर्माण करते हैं और इस प्रकार द्युलोक इस समुद्र के समान एक महान् 'सर' बन जाता है। (ख)

शरीर में ये जल रेतस् रूप में रहते हैं। मूलाधारचक्र के समीप इनका स्थान है। प्राणायाम आदि की उष्णता से इनकी ऊर्ध्वगति होकर ये मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानाग्नि का उसी प्रकार ईंधन बनते हैं जिस प्रकार अन्तरिक्ष में मेघजल विद्युत् का। ३. तीसरा प्रश्न है **पृथिव्यै**=(पृथिव्याः) पृथिवी से **वर्षीयः**=अधिक बड़ा, अधिक पुराना **किं स्वित्**=क्या है? अथवा पृथिवी के लिए सर्वाधिक वृष्टि करनेवाला कौन है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इन्द्रः**=सूर्य **पृथिव्यै**=पृथिवी से **वर्षीयान्**=बड़ा व पुराना है। उसी का एक अंशभूत यह पृथिवी है। किसी समय यह पृथिवी उस देदीप्यमान विराट् पिण्ड का ही भाग थी। सूर्य इस पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा है। वह सूर्य ही इस पृथिवी पर वर्षा का भी कारण बनता है। (ख) अध्यात्म में जीव जब 'इन्द्र' बनता है। सब असुरों का संहार करनेवाला बनता है तब इस पृथिवीरूप शरीर के लिए अधिक-से-अधिक सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. चौथा प्रश्न है **कस्य मात्रा न विद्यते**=किसकी मात्रा नहीं है? कौन सीमित नहीं है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **गोः**=ज्ञान की वाणी की **तु**=तो **मात्रा**=माप **न विद्यते**=नहीं है। ज्ञान अनन्त है 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'=Art is long। ज्ञान का कहीं अन्त है? (ख) एक ही वस्तु का मनुष्य के लिए माप नहीं है और वह है 'ज्ञान की प्राप्ति'। जितना भी हम अधिक ज्ञान प्राप्त करें, वह थोड़ा है। ज्ञान की मात्रा नहीं है। जितना ज्ञान प्राप्त करेंगे उतना ही कल्याण होगा।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। हमें भी ज्योतिर्मय बनकर प्रभु-जैसा बनना है। मेघों से अन्तरिक्षीय समुद्र बना है। हमें भी वीर्यरूप जलों की ऊर्ध्वगति कर द्युलोकरूप मस्तिष्क में ज्ञानजल को भरना है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास करना है। हम असुरों के संहार करनेवाले इन्द्र बनकर इस शरीर में सुखों की वर्षा कर सकते हैं। जितना भी अधिक हो सके हम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टृसमाधातारौ**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पद-त्रयी

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेशाँ३॥५॥४९॥

१. यज्ञ की समाप्ति पर परस्पर ज्ञानचर्चा करते हुए उद्गाता ब्रह्मा से कहता है कि हे ब्रह्मन्! **देवसख**=देवों के मित्र अथवा उस देवाधिदेव प्रभु के समान ख्यानवाले (ख्यान=नाम व दर्शन)! **चितये**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **त्वा पृच्छामि**=आपसे मैं यह पूछता हूँ कि **यदि**=अगर **त्वम्**=आप **अत्र**=इस विषय में **मनसा** =मनन के द्वारा **जगन्थ**=गये हैं, अर्थात् यदि विचार करते-करते आपने इस बात को समझा है, यदि आप जानते हैं तो मुझे भी बतलाइए। मैं केवल जिज्ञासुभाव से प्रश्न कर रहा हूँ—'मुझमें कोई विजिगीषा की भावना हो' ऐसा नहीं। मैं जल्प व वितण्डा की वृत्ति को अपनाकर प्रश्न नहीं कर रहा हूँ। शुद्ध (सं) वाद के विचार से मेरा प्रश्न है। २. प्रश्न मेरा उन लोकों के विषय में है **येषु**=जिन **त्रिषु पदेषु**=तीन पदों में **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **इष्टः**=(=आ इष्टः) सर्वथा चाहा गया है, (इष् इच्छायाम्), अर्थात् वह पूजा के योग्य (यज+क्त) है। **तेषु**=उन्हीं तीन पदों में ही तो **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है।

इस प्रकार प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमा विवेश।

सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽअस्य पृष्ठम्॥५०॥

१. **तेषु त्रिषु पदेषु अपि अस्मि**=उन तीनों लोकों में भी मैं हूँ, अर्थात् उन तीनों लोकों का मुझे खूब ज्ञान है **येषु विश्वं भुवनं आविवेश**=जिनमें यह सारा ब्रह्माण्ड समा जाता है। वस्तुतः एक-एक कदम में एक-एक लोक को व्याप्त करने से ही **विष्णु** 'त्रि-विक्रम' कहलाये हैं। २. मैं **सद्यः**=शीघ्र ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान ही ब्रह्मचर्यसूक्त में ज्ञानाग्नि की प्रथम समिधा कही गई है। 'पृथिवी' शब्द वेद में अन्तरिक्ष का भी वाचक है, अतः इस पृथिवी शब्द से अन्तरिक्ष का भी यहाँ ग्रहण करना है। मैं अन्तरिक्षलोक को भी जानता हूँ। यही ज्ञानाग्नि की द्वितीय समिधा है। ३. **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को भी **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। द्युलोक का भी मैं ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। यही ज्ञान मेरी ज्ञानाग्नि की तृतीय समिधा बनता है। ४. **एकेन अङ्गेन**=और अद्वितीय (अनुपम) प्रथम कोटि के ज्ञान से (अगि गतौ) **अस्य दिवः**=इस द्युलोक के **पृष्ठम्**=आधारभूत ब्रह्मलोक को जानता हूँ। अथवा पुरुषसूक्त के इन शब्दों के अनुसार कि 'वह प्रभु पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके इससे भी ऊपर उठे हुए हैं तथा यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है। 'पृष्ठम्' शब्द का अर्थ द्युलोक से ऊपर का भाग भी किया जा सकता है। मैं द्युलोक के जो परे है उसे भी जानता हूँ। इन तीनों लोकों को जानते हुए चतुर्थ ब्रह्मलोक को भी जानता हूँ। मेरा ज्ञान त्रिपात् न होकर चतुष्पात् है। इन लोकों से प्रभु का ज्ञान होता है, अतः वे लोक 'पद' (पद्यते) कहलाये हैं, इन तीनों पदों से ऊपर प्रभु स्वयं पद (पद्यते) हैं, ज्ञानगम्य हैं। उन्हीं को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—१. हम इस पृथिवीलोक का ज्ञान प्राप्त करें। पृथिवीस्थ देवों में हमें प्रभु की महिमा दिखेगी। इन देवों की मुखिया 'अग्नि' तो उस प्रभु की 'विभूति' ही है—'वसूनां पावकोऽस्मि'। २. अन्तरिक्षस्थ देवों का ज्ञान प्राप्त करने पर उनमें प्रभु-माहात्म्य दृष्टिगोचर होगा। अन्तरिक्ष का मुख्यदेव वायु तो प्रभु की स्पष्ट विभूति है—**'पवनः पवतामस्मि'**। ३. हमें द्युलोक के देवों का ज्ञान प्राप्त कर सूर्य में प्रभु-माहात्म्य का चरम सौन्दर्य देखना है—**'ज्योतिषां रविरंशुमान्'**। इस प्रकार तीनों पदों में प्रभु-माहात्म्य को देखकर ही व्यक्ति देवसख=प्रभुरूप मित्रवाला (Friend of God) बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पुरुषेश्वरः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अन्तःपुरुष

केष्वन्तः पुरुषऽआ विवेश कान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।

एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किंस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र॥५१॥

१. पिछले प्रश्न का उत्तर पाकर उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि हे ब्रह्मन्! **पुरुषः**=पुरुष **केष्वन्तः**=किनके अन्दर **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है और **कानि**=कौन-कौन **अन्तः पुरुषे**=इस अन्तःस्थित पुरुष में **अर्पितानि**=आश्रित हैं, कौन-सी वस्तुएँ पुरुष के आश्रय पर विद्यमान हैं। हे **ब्रह्मन्ः**=ब्रह्मन् **त्वा**=आपसे **एतत्**=यह **उपवल्हामसि**=(उपसंगम्याहूयोत्क्षिप्य

बाहू पृच्छामि–उ०) समीप आकर, ललकारकर व बाहु उठाकर पूछते हैं। देखें **किंस्वित्**=भला क्या **नः**=हमें **अत्र**=इस विषय में **प्रतिवोचासि**=आप प्रत्युत्तर देते हैं।

उद्गाता के इस प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं–

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**परमेश्वरः**। छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआ विवेश तान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥५२॥

१. **पञ्चस्वन्तः**=पाँच के अन्दर **पुरुषः**=पुरुष **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है। (क) 'अन्नमयकोश' उसका सबसे बाहर का आवरण है, उसके अन्दर क्रमशः 'प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' कोश हैं। इनके अन्दर इस शरीररूप पुरी में शयन व निवास करनेवाला यह जीवात्मा प्रविष्ट हुआ है। (ख) इस रूप में भी कह सकते हैं कि 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों से बने इस शरीर में वह शरीरी पुरुष प्रविष्ट हो रहा है। (ग) इस शरीर में पाँचों प्राणों में भी उसी की शक्ति काम कर रही है। पाँचों प्राणों में भी यही प्रविष्ट है। (घ) पाँचों कर्मेन्द्रियों में स्थित होकर वही इनसे कार्य कर रहा है। (ङ) और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता वही पुरुष है। (च) इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृरूपेण यह 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध' आदि पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण करनेवाला बनता है। २. **तानि**=वे सबके सब **अन्तः पुरुषे**=अन्तःस्थित पुरुष पर ही **अर्पितानि**=आश्रित हैं। इसके इस शरीर को छोड़ने पर (क) उन सब कोशों का अन्त हो जाता है। (ख) यह पाँच भौतिक शरीर विनष्ट होकर पञ्चभूतों में विलीन हो जाता है–पृथिवी तत्त्व पृथिवी में मिल जाता है तो जलीय तत्त्व जल में, अग्नि अग्नि में मिली, वायु, वायु में गया और आकाश महाकाश के रूप में दिखने लगा। (ग) इसी प्रकार पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का भी विलय हो जाता है। उस समय इन 'शब्दादि' पञ्चतन्मात्राओं का भी यहाँ ग्रहण नहीं होता। ३. (क) जब तक इस पाँच भौतिक शरीर में यह पुरुष विद्यमान रहता है तभी तक वह एक सद्गृहस्थ से धारण के योग्य 'अन्वाहार्यपचनदक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य व आवसथ्य' इन पाँचों अग्नियों का धारण करता है। (ख) बड़ों को पञ्चाङ्ग प्रणाम करने का (बाहुभ्यां चैव जानुभ्यः शिरसा वक्षसा दृशा) ध्यान करता है। (ग) शरीर के पोषण के लिए 'दूध, शर्करा, घृत-दधि-मधु' इस पंचामृत का विधिवत् सेवन करता है। (घ) पंचावयव अनुमान वाक्य से (इदं जगत् सकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्, यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकं यथाः घटः, इदं जगत् अपि कार्यं, तस्माद् सकर्तृकम्) प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय व निगमन का ठीक प्रयोग करता हुआ ईश्वरादि परोक्ष पदार्थों का निश्चय करता है। (ङ) पंचशर (कामदेव) के 'संमोहन-उन्मादन-शोषण-तापन-स्तम्भन' पाँच बाणों का शिकार न होने के लिए यही पुरुष 'पञ्चतप' तपस्या भी किया करता है (चतुर्दिक् अग्नि व सूर्य)। (च) इस स्थूल शरीर के शोधन के लिए 'वमन-रेचन-नस्य-अनुवासन (oily enema) उनिरुह (enema not oily) इन पाँच कर्मों का भी यह कभी-कभी प्रयोग करता है। (छ) ऐसे अवसरों पर यह 'पंचगव्य' (क्षीरं दधि तथा चाज्यं मूत्रं गोमयमेव च) के प्रयोग का ध्यान करता है। (ण) पाँच मकारों से (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) बचता है। (झ) पाँच पर्वों को (चतुर्दशी-अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, रवि-संक्रान्ति) प्रभुपूजा में व्यतीत करता हुआ अपने में उत्तमताओं को भरता है। (ज) पञ्च महायज्ञों का करना (ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-

पितृयज्ञ–अतिथियज्ञ–बलिवैश्वदेवयज्ञ) इसे कभी विस्मृत नहीं होता। इन्हीं के द्वारा वह गृहस्थ के अन्दर वर्त्तमान पाँच सूनाओं (slaughter houses) का प्रायश्चित्त करता है। (पञ्च सूनाः गृहस्थस्य चुल्ली–पेषण्युपस्करः कंडनी–उदकुम्भश्च)। (ट) इस प्रकार यह पञ्चार्पित पुरुष संसार की अभिनय–स्थली में पञ्चाङ्ग अभिनय करता हुआ जीवनयापन करता है 'चित्ता–क्षिभ्रूहस्तपादैरंगैश्चेष्टादिताम्यतः पात्राद्यवस्थाकरणं पंचांगोऽभिनयो मतः'। ४. इस प्रकार ब्रह्मा उत्तर देकर कहते हैं कि **एतत्**=यह **अत्र**=इस विषय में **त्वा प्रति मन्वानः**=तेरे प्रति मननपूर्वक विचार को उपस्थित करता हुआ **अस्मि**=मैं हूँ। **मायया**=बुद्धि से तू **मत् उत्तरः**=मुझसे अधिक उत्कृष्ट **न भवसि**=नहीं होता है। तू मुझे बुद्धि से जीत नहीं सकता।

भावार्थ—हम पाँचों के अन्दर प्रविष्ट व अन्तः प्रविष्ट होकर पाँचों का धारण करनेवाले आत्मस्वरूप का मनन करनेवाले बनें।

सूचना—यहाँ प्रश्नोत्तर में ज्ञानविषयक स्वस्थ स्पर्धा द्रष्टव्य है। उद्गाता का ललकारना व ब्रह्मा का चैलेञ्ज को स्वीकार करना सचमुच अभिनयात्मक है। ऐसी ज्ञान–चर्चाएँ ही मानवजाति के उत्थान का कारण हो सकती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पूर्वचित्तिः बृहद्वयः

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥५३॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥५४॥

१. इसी अध्याय के मन्त्र संख्या ११-१२ पर इनका विस्तृत अर्थ है। यहाँ ज्ञानचर्चा के प्रसंग में इनको पुनः उपस्थित करने का उद्देश्य यह है कि **का स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य वस्तु **आसीत्**=क्या है?' इस प्रश्न का यह उत्तर कि "**द्यौः**=मस्तिष्क ही **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने की वस्तु **आसीत्**=है'। हम यह कभी भूलें नहीं कि मस्तिष्क के विकास से ही तो हम गतमन्त्र में दिये गये उत्तर को देने की योग्यतावाले ब्रह्मा बन पाएँगे। २. **किं स्वित्**=भला **बृहद्**=वर्धनशील **वयः**=पक्षी (जीव) क्या है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी है। वेद में परमात्मा व आत्मा को 'द्वा सुपर्णा'=दो पक्षियों के रूप में स्मरण किया है। परमात्मा सदा बढ़े हुए हैं, जीव अल्प होने से सदा सन्मार्ग पर चलते हुए बढ़ा करता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **का**=कौन **पिलिप्पिला**='चिक्कण, आर्द्र व शोभना' भी है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=आत्मरक्षण करनेवाला ही शरीर में पिलिप्पिला=स्वास्थ्य की स्निग्धतावाली, मन में दया की आर्द्रतावाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की शोभावाली श्री से युक्त होता है। ४. चौथा प्रश्न है **किं स्वित्**=भला **का**=कौन **पिशङ्गिला आसीत्** =सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली है? उत्तर देते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशङ्गिला आसीत्**=रूपों को निगल जानेवाली है। रात को सब रूप समाप्त होकर कृष्ण–ही–कृष्ण दिखता है। प्रलयकाल को भी (तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे) अन्धकारमय होने से तम व रात्रि कहते हैं। उस प्रलयकाल में भी ये रूप समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क को ध्येय वसुओं में सबसे ऊपर रक्खें। सबसे अधिक हमें इसी का ध्यान करना है। कर्मों में सदा व्याप्त रहकर हम वर्धनशील हों। आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हुए हम स्निग्ध शरीर, आर्द्र हृदय व शोभन मस्तिष्कवाले हों। हम इस बात को न भूलें कि हमारे जीवन में भी महानिद्रा की रात्रि आनी है, जिसमें ये सब भौतिक तड़क-भड़क (रूप) समाप्त हो जाएगी, अतः इसको इतना महत्त्व क्यों देना?

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अज-श्वावित्, शश-अहिः

काऽईमरे पिशङ्गिला काऽईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽईमास्कन्दमर्षति कऽईं पन्थां वि सर्पति॥५५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शशऽआस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥५६॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में पिछले मन्त्रों के अन्तिम प्रश्न को फिर से दुहराया गया है। दुहराने का कारण यह है कि 'प्रलयकाल के समय शरीर प्रकृति में विलीन हो जाते हैं' तो आत्मा कहाँ रहती है? इसका स्पष्टीकरण अभीष्ट है, अतः प्रश्न को भी दो भागों में बाँटकर दो प्रश्नों के रूप में करते हुए पूछते हैं कि **अरे**=अयि क्रियाशील विद्वन्! (ऋ गतौ) **ईम्**=निश्चय से **पिशङ्गिला का**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली कौन वस्तु है और **ईम्**=निश्चय से **का**=कौन **कुरुपिशङ्गिला**=(कर्मकर्तुः जीवस्य पिशङ्गिलति) इस कर्म करनेवाले जीव के रूप को निगलनेवाली है। २. तीसरा प्रश्न है कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **आस्कन्दम्**=समन्तात् शत्रुशोषण को **अर्षति**=प्राप्त होता है, अर्थात् कौन शत्रुओं का शोषण करता है? तथा चौथे प्रश्न में पूछते हैं कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **पन्थाम्**=मार्ग पर **विसर्पति**=विशिष्ट रूप से गति करता है? ३. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अरे**=अयि प्रश्नकर्तः! तू यह समझ कि **अजा**=प्रकृति **पिशङ्गिला**=सब रूपों को अपने में निगीर्ण कर लेती है। जैसे घड़ा टूटता है, पिसते-पिसते मिट्टी बन जाता है। घड़े के रूप को मिट्टी अपने में निगीर्ण कर लेती है। इसी प्रकार वे सब सूर्य, चन्द्र, तारों के आकार प्रलय के समय प्रकृति में छिप जाएँगे। मनु के शब्दों में यह सारा संसार प्रकृति में जा सोएगा (प्रसुप्तमिव सर्वतः।) ४. दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जब जीव का यह भौतिक शरीर प्रकृति में चला जाएगा उस समय इस जीव को प्रभु अपने में स्थापित कर लेंगे। वे **श्वावित्**=(मातरिश्वा=श्वा, जैसे सत्यभामा=भामा) जीव को सदा प्राप्त (विद्=लाभ) होनेवाले, जीव के सतत सखा प्रभु (सयुजा सखाया) **कुरुपिशङ्गिला**=इस क्रियाशील चेतन जीव के रूप को अपने में धारण कर लेंगे, जैसे रात्रि के समय बच्चा माता की गोद में आराम से सोया हुआ होता है, उसी प्रकार प्रलयकाल में प्रभु हम जीवों को अपनी गोद में सुलानेवाले होंगे। कुछ देर के लिए हमारे सारे कष्ट समाप्त हो जाएँगे। हम सुषुप्ति में होंगे और ब्रह्मरूप-से होंगे। **'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'** (सांख्य)। ५. तृतीय प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि **शश**=प्लुतगतिवाला पुरुष, आलस्यशून्य कर्म करनेवाला पुरुष ही **आस्कन्दम्**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-आदि शत्रुओं के शोषण को **अर्षति**=प्राप्त करता है। क्रियाशीलता में ही काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश है। ६. चौथे

प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अहि:**=(न हन्ति अथवा अह्नोति अह व्याप्तौ) न हिंसा करनेवाला व्यक्ति तथा सदा लोकहित के व्यापक कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति ही **पन्थां विसर्पति**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है, अर्थात् संसार में मार्गभ्रष्ट वही व्यक्ति है जो (क) हिंसारत है, (ख) व्यापक मनोवृत्ति बनाकर कर्मों में नहीं लगा हुआ, (ग) स्वार्थी है।

भावार्थ—प्रलयकाल के समय ये सब कार्यपदार्थ कारणप्रकृति में चले जाएँगे, जीव प्रभु की गोद में सो जाएँगे। 'फिर जन्म न हो' इसके लिए चाहिए कि क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं का हम शोषण कर दें और अहिंसक बनकर सदा व्यापक कर्मों में लगे रहें, स्वार्थ से सदा ऊपर उठे रहें।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**प्रष्टा**। छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**।

यज्ञ-मीमांसा

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५७॥

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**समिधा**। छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**।

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५८॥

१. ब्रह्मा उद्गाता से प्रश्न करता है **अस्य**=इस यज्ञ के **कति**=कितने **विष्ठा:**=(विशेषेण तिष्ठति यज्ञो यासु) विशेषरूप से ठहरने के स्थान हैं? **कति अक्षराणि**=कितने इस यज्ञ के अक्षर हैं? **होमास: कति**=कितने होम हैं? **कतिधा समिद्ध:**=कितने प्रकार से यह समिद्ध होता है? मैं **यज्ञस्य विदथा**=यज्ञ के ज्ञान के विषयों को **त्वा**=तुझे **अत्र**=यहाँ **पृच्छम्**=पूछता हूँ। **कति होतार:**=कितने होता **ऋतुश:**=ऋतु-ऋतु में, हर ऋतु में, **यजन्ति**=इस यज्ञ को करते हैं? २. उत्तर देते हुए उद्गाता कहते हैं कि (क) **अस्य**=इस यज्ञ के **षट्**=छह **विष्ठा:**=विशेषरूप से स्थित होने के स्थान हैं। 'विष्ठा' शब्द यहाँ अन्न का वाचक हो जाता है, क्योंकि यज्ञ अन्नों में ही स्थित है। यज्ञ से होनेवाले पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है और इस 'पृथिवी-जल-वायु-अग्नि-सूर्य' आदि देवों से दिये हुए अन्न को इन देवों को बिना दिये खानेवाला स्तेन (चोर=one who steels) कहलाता है, अत: अन्न के खाने से पहले इसे देवों के लिए देना होता है। देव 'अग्निमुख' हैं, अत: अग्नि में अन्न की आहुति दी जाती है, यही यज्ञ है। यह अन्न षट् रसोंवाला है, अत: अन्नों की भी संख्या छह कह दी गई है—ये छह अन्न ही यज्ञ के विष्ठा हैं, विशिष्ट आधार हैं। (ख) कितने अक्षर हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं **शतम् अक्षराणि**=सौ इसके अक्षर हैं। सौ अक्षर कहने का अभिप्राय यह है कि यज्ञों में जिन मन्त्रों का उच्चारण होता है उनके १४ छन्द गायत्री से लेकर अतिधृतिपर्यन्त हैं। गायत्री की अक्षर संख्या २४ है और ४-४ बढ़कर अन्तिम अतिधृति की अक्षर संख्या छियत्तर है। अब इनमें क्रमोत्क्रम गति से (पहला+अन्तिम, द्वितीय+अन्तिम से पहला इस प्रकार) दो-दो छन्दों के अक्षर १००, १०० ही बनते हैं। गायत्री २४+७६ अतिधृति=१००) उष्णिक् २८+७२ धृति=१००, अनुष्टुप् ३२+६८ अत्यष्टि=१००, बृहती ३६+६४ अष्टि=१००, पंक्ति ४०+६० अतिशक्वरी=१००, त्रिष्टुप् ४४+५६ शक्वरी=१००, जगती ४८+५२ अतिजगती=१००। इस प्रकार यज्ञ इन्हीं १०० अक्षरोंवाला है। (ग) 'कति होमास:' का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अशीति: होमा:**=अस्सी होम हैं।

शतपथब्राह्मण ८।५।२।१७ में 'अन्नमशीतिः' इस वाक्य से स्पष्ट किया गया है कि अन्न ही होम है। होम में अन्न का ही प्रयोग होता है, मांस का नहीं। अन्न सम्भवतः ८० भागों में बटे हैं, अतः उन अन्नों से होनेवाले होम भी ८० हो गये हैं। शतपथब्राह्मण (९।१।१।२१) में 'अन्नम् अशीतयः' ऐसा कहा ही है, अतः ८० प्रकार के अन्न ८० प्रकार के होमों का कारण बनते हैं। (घ) **ह**=निश्चय से इस यज्ञ की **समिधः तिस्त्रः**=तीन समिधाएँ हैं। अग्निहोत्र में अब भी तीन समिधाएँ के डालने की परिपाटी चलती है। इसका आध्यात्मिक संकेत यह होता है कि आचार्य विद्यार्थी की ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, द्यौ व अन्तरिक्ष' के पदार्थों के ज्ञान की समिधाएँ डालने के लिए यत्नशील हो। हम अपने जीवनयज्ञ में 'सत्य, यश व श्री' को धारण करने का प्रयत्न करें। ३. इस प्रकार कहकर उद्गाता कहता है कि **यज्ञस्य**=यज्ञ के **विदथा**=ज्ञान के हेतु से **ते प्रब्रवीमि**=आपके प्रति मैं यह सब कहता हूँ और **सप्त होतारः**=सात होता शिरःस्थ सात प्राण (कर्णौ नासिके चक्षणी मुखम्) अथवा पाँच ज्ञानेद्रियाँ मन तथा बुद्धि–ये सात मिलकर **ऋतुशः**=उस-उस ऋतु के अनुसार **यजन्ति**=यज्ञ करते हैं। जिस-जिस ऋतु में जैसी-जैसी सामग्री अभीष्ट होती है, उसका विचार करके यज्ञ को अधिक-से-अधिक लाभकारी बनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ–यज्ञ के आधार अन्न हैं। वे अस्सी प्रकार के हैं, अतः होम भी अस्सी हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि सब मिलकर यज्ञों को ऋतु के अनुसार करनेवाले हों।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**प्रष्टा**। छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

सृष्टि की अज्ञेयता

कोऽअ॒स्य वे॑द॒ भुव॑नस्य॒ नाभिं॒ को द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरि॑क्षम् ।
कः सूर्य॑स्य वेद बृह॒तो ज॒नित्रं॒ को वे॑द च॒न्द्रम॑सं यतो॒जाः ॥५९॥

१. उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि (क) **कः**=कौन **अस्य भुवनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **नाभिम्**=(नह्यते यत्र) बन्धनस्थान को **वेद**=जानता है? नाभि में जैसे सारी नाड़ियों का बन्धन है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड का बन्धन किसमें है? किसमें बँधा होने के कारण यह गिर नहीं जाता? कौन इसे धारण किये हुए है? (ख) **कः**=कौन इस ब्रह्माण्ड की **द्यावा-पृथिवी-अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोकरूप त्रिलोकी को जानता है? इनके स्वरूप को कौन पूरा-पूरा समझता है? (ग) **कः**=कौन **बृहतः सूर्यस्य**=महान् सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है? सूर्य किस प्रकार पैदा हुआ इस बात का उत्तर कौन दे सकता है? (घ) और **कः**=कौन **वेद**=जानता है, इस **चन्द्रमसम्**=चन्द्रमा को कि **यतोजाः**=जिससे यह उत्पन्न हुआ है?

इस प्रकार इस रहस्यमय सृष्टि की उत्पत्ति व धारण के विषय में प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं–

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**समाधाता**। छन्दः–**त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

वेदा॒हम॒स्य भुव॑नस्य॒ नाभिं॒ वेद॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरि॑क्षम्।
वेद॒ सूर्य॑स्य बृह॒तो ज॒नित्र॒मथो॑ वेद च॒न्द्रम॑सं यतो॒जाः॥६०॥

१. 'अह व्याप्तौ' धातु से बनकर 'अहम्' शब्द उस प्रभु का वाचक है जोकि 'अह्नोति सर्वं जगद् व्याप्नोति'=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने के कारण सर्वव्यापक हैं। वे सर्वव्यापक प्रभु ही **अहम्**=जोकि 'अहं' शब्द वाच्य हैं **अस्य भुवनस्य नाभिं वेद**=इस

ब्रह्माण्ड के बन्धनस्थान को जानते हैं। 'इस ब्रह्माण्ड का धारण कैसे हो रहा है? यह किसमें बँधा हुआ गिरकर नष्ट नहीं हो जाता?' यह सब बात उस सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय है। २. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को **वेद**=जानते हैं। इन लोकों का ठीक-ठीक स्वरूप सामान्य मनुष्य के ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? **'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन**=इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद ही देव भी हुए' अतः देव भी इसे पूरा-पूरा नहीं जानते। मनुष्यों के जान सकने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ३. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **बृहतः**=इस महान् **सूर्यस्य**=सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है। सूर्य को वे प्रभु ही जन्म देनेवाले हैं, अतः वे ही सूर्य के जन्म आदि को जानते हैं। ४. **अथो**=और वे प्रभु ही **चन्द्रमसम्** =चन्द्रमा को **यतोजाः**=जैसे यह उत्पन्न हुआ, वैसे जानते हैं। मनुष्य के ज्ञान से ये बातें परे हैं। वस्तुतः इस संसार के जन्म-धारण व प्रलय आदि को ठीक-ठीक जान सकना मानव के लिए सम्भव ही नहीं। वेद कहता है **'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः**'=कौन-साक्षात् जानता है और कौन इसका प्रतिपादन कर सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँ से आ गई? किस प्रकार इसका जन्म हो गया? यह सब 'अतर्क्य व अविज्ञेय'-सा ही है। इसे केवल **अहम्**=सर्वव्यापक प्रभु ही जानते हैं।

भावार्थ—इस भुवन का बन्धन कहाँ है? द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक क्या हैं, महान् सूर्य का जन्म कैसे हुआ तथा चन्द्रमा कहाँ से हुआ है? ये सब बातें एकमात्र सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार आवश्यक प्रश्न

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णोऽअश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥६१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳसोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥६२॥

१. अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है कि (क) **त्वा**=आपसे मैं **पृथिव्याः**=पृथिवी के **परमन्तम्**=परले सिरे को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यहाँ—यज्ञवेदि पर जहाँ हम बैठे हैं यह पृथिवी का एक सिरा हो तो इसका परला सिरा कहाँ होगा? (ख) उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि ही तो **पृथिव्याः**=पृथिवी का **परःअन्तः**=परला अन्त है, क्योंकि वृत्ताकार होने से पृथिवी जहाँ से प्रारम्भ होती है, वहीं आकर समाप्त होगी। वृत्ताकार वस्तु की परिधि का जहाँ से प्रारम्भ मानें वहीं उसका अन्त भी है। पृथिवी की वृत्ताकारिता को इससे अधिक सुन्दर प्रकार से प्रतिपादित कैसे किया जा सकता है? २. दूसरा प्रश्न है **पृच्छामि**=मैं पूछता हूँ उस वस्तु को **यत्र**=जिसमें **भुवनस्य**=इस भुवन का **नाभिः**=बन्धन है, आधार है, अर्थात् किस वस्तु के न होने पर यह लोक नष्ट हो जाएगा? उत्तर देते हुए कहते हैं **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ-सर्वव्यापक प्रभु (यज्ञो वै विष्णुः) **भुवनस्य नाभिः**=इस भुवन के आधार हैं। प्रभु के सर्वस्व त्याग ने ही ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। ३. तीसरा प्रश्न पूछता हुआ वह कहता है कि मैं **वृष्णः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति को **पृच्छामि**=

जानना चाहता हूँ। इस पुरुष की शक्ति का रहस्य किस वस्तु में है? उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **अयं सोमः**=सोम—शरीर में रस-रुधिरादिक्रम से उत्पन्न होनेवाला वीर्य ही **वृष्णः**=शक्तिशाली लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाले **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। सोम की रक्षा के अनुपात में ही वह सशक्त बनता है। ४. चौथा प्रश्न है कि मैं **वाचः**=वाणी के **परमं व्योम**=उत्कृष्ट स्थान को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देता हुआ अध्वर्यु कहता है **अयं ब्रह्मा**=यह सम्पूर्ण सृष्टि का बनानेवाला प्रजापति ही **वाचः**=वाणी का **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, लोक में भी ब्रह्मा वह कहलाता है जो सम्पूर्ण वेद का ज्ञान रखता है। वह सम्पूर्ण वेद का स्थान=आधार तो बन ही गया। वैसे, सारे वेद उस प्रभु का ही वर्णन करते हैं, **'सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति'** तथा **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** इन मन्त्रांशों में यही बात कही गई है। उस **ब्रह्म**=सृष्टिनिर्माता प्रभु का ही वेदमन्त्रों में प्रतिपादन है, अतः ब्रह्मा ही वाणी के **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

भावार्थ—'वेदि' ही पृथिवी का पर-अन्त है।' यज्ञ भुवन का आधार है। सोम शक्ति देने के साथ ज्ञानाग्नि का भी वर्धन करता है और हमें वेदवाणी को समझने की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सुभू-स्वयंभू-प्रथम

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥६३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति और वस्तुतः ब्रह्मादि के 'ब्रह्मोद्य'=ज्ञानचर्चा की समाप्ति इस बात पर हुई थी कि सारी वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। उसी सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता (ब्रह्म) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वह **'सुभूः'**=(सुष्ठु भूः उत्पत्तिर्यस्मात्—उ०) इस विश्व का उत्तम उत्पादन करनेवाला है, परन्तु उसे कोई बनानेवाला नहीं। वह तो **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाला है। वह सदा से विद्यमान है, खुद-आ है। २. **प्रथमः**=सबका आदि है। 'प्रथ विस्तारे'=अत्यन्त विस्तृत, सर्वव्यापक है। वह **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् प्रकृति के अणुसमुद्र के अन्दर विद्यमान है। वस्तुतः उसी की सत्ता के कारण यह महान् अणुसमुद्र भी सत्तावाला प्रतीत होता है, वही इस समुद्र को प्रथम गति देनेवाला है। ३. **ह**=निश्चय से वह स्वयम्भू **ऋत्वियम्**=(प्राप्तकालं) जिसका ठीक समय उपस्थित हुआ है उस **गर्भं दधे**=गर्भ को धारण करता है। काव्यभाषा में इस ब्रह्माण्ड की प्रकृति माता है तो प्रभु पिता हैं। वे प्रभु इस प्रकृति में बीज का धारण करते हैं और ये सब मूर्त्तियाँ (मूर्त्त वस्तुएँ) उत्पन्न हो जाती हैं। गीता में कहते हैं—**'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'**। ४. **यतः**=प्रभु के प्रकृति में जिस गर्भ धारण करने पर **प्रजापतिः जातः**=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया। **माता प्रजाता**=माता ने बच्चे को जन्म दिया, जिससे माता पैदा हो गई। इसी प्रकार 'प्रजापतिः जातः'=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया, प्रजापति बन गया।

भावार्थ—वे प्रभु 'सुभू, स्वयम्भू व प्रथम हैं। अणुसमुद्र के अन्दर भी विद्यमान हैं। वे इसमें गर्भ का धारण करते हैं और संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

सोम की महिमा से प्रभु-मेल

होता यक्षत्प्रजापतिꣳसोमस्य महिम्नः। जुषतां पिबतु सोमꣳहोतर्यज॥६४॥

१. गतमन्त्र के 'सुभू-स्वयंभू-प्रथम' **प्रजापतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक परमात्मा को **होता**=आहुतियों का देनेवाला त्यागशील पुरुष ही **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्याग न करनेवाला पुरुष प्रकृति का अधिकाधिक संग्रह करता हुआ उसी में उलझा रहता है। प्रकृति का त्याग करके ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। २. यह होता **सोमस्य महिम्नः**=सोम की महिमा से **जुषताम्**=उस प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। भोगों से ऊपर उठकर सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पानेवाला बनता है। सोम की रक्षा से, इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर बुद्धि सूक्ष्म होती है और उस प्रभु का आभास लेनें के योग्य होती है, इसीलिए सोम की इस महिमा को समझकर मनुष्य **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करे। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर त्याग की वृत्तिवाला बन पाता है। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोमरक्षा होती है, सोमरक्षा से भोगवृत्ति का ह्रास होता है। इस प्रकार ये परस्पर उपकारी होते हैं। ३. इन दोनों का आश्रय प्रभु-स्मरण है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु का पूजन कर, उसे अपने साथ सङ्गत कर, उसके प्रति तू अपना अर्पण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए यही मार्ग है कि मनुष्य (क) त्याग की वृत्तिवाला बने तथा (ख) सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वत्र समप्रभु

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयश्ँस्याम पतयो रयीणाम्॥६५॥

१. सोम की रक्षा से प्रभु-सम्पर्क करनेवाला आराधना करता है कि हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **ता विश्वा रूपाणि**=उन सम्पूर्ण प्राणियों को (रूपाणि पशवः) **न परिबभूव**=नहीं व्याप्त कर रहा। आप ही सबके अन्दर व्याप्त हो रहे हैं। आप ही सबकी रक्षा कर रहे हैं। 'विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में व श्वपाक में, सबमें आप ही समाये हुए हैं। समरूप से आपका ही सबमें दर्शन करनेवाला किसी से घृणा कैसे कर सकता है? २. हे प्रभो! **यत्कामाः**=जिस कामनावाले हम **ते जुहुमः**=आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. सर्वप्रथम बात यह है कि **वयम्**=हम कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी हों। इन धनों के कभी दास न हो जाएँ। धनों के दास बनने पर मनुष्य इनको टेढ़े-मेढ़े साधनों से जुटाने का प्रयास करता है और संसार विकृत होने लगता है, अतः हम यही चाहते हैं कि धन हमारा स्वामी न बन जाए। यह हमपर आरुढ़ न हो जाए। हम इसके वाहन उल्लू बनकर सब सत्कर्म को समाप्त न कर बैठें (उल् लू)।

भावार्थ—प्रभु ही सबमें विद्यमान हैं। हे प्रभो! समवृत्ति बनकर हम धन के कभी दास न बन जाएँ। इसके दास बनकर ही हम हीनमार्ग पर जाते हैं और मांसादि भोजन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

इति त्रयोविंशोऽध्यायः॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः।

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीवऽआग्नेयो रराटे पुरस्तात् सारस्वती मेष्युधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याᳬंसौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छऽइन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः॥१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—निचृत्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः।

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः शितिबाहुरन्यतःशितिबाहुः समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः॥२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः।

शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्तऽआश्विनाः श्येतः श्येताक्षोऽरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णा यामाऽअवलिप्ता रौद्रा नभोरूपाः पार्जन्याः॥३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मारुतादयः। छन्दः—विराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्तऽऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्तऽउषस्याः॥४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः॥५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनाᳬंरोहिता रुद्राणाᳬंश्वेताऽअवरोकिणऽआदित्यानां नभोरूपाः पार्जन्याः॥६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः।

उन्नतऽऋषभो वामनस्तऽऐन्द्रावैष्णवाऽउन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्तऽऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषाऽआग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः॥७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

एताऽऐन्द्राग्ना द्विरूपाऽअग्नीषोमीया वामनाऽअनड्वाहऽआग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यतऽएन्यो मैत्र्यः॥८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया बभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्याऽअविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः॥९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अन्तरिक्षादयः। छन्दः—विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः।

कृष्णा भौमा धूम्राऽआन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः॥१०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वसन्तादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

धूम्रान् वसन्तायालभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान् वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय॥११॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो
जगत्यै त्रिवत्साऽअनुष्टुभे तुर्यवाहऽउष्णिहे॥१२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विराजादयः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पष्ठवाहो विराजऽउक्षाणो बृहत्याऽऋषभाः
ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिछन्दसे॥१३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया बभ्रवः सौम्याऽउपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः॥१४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः कायास्तूपराः॥१५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

अग्नयेऽनीकवते प्रथमजानालभते मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः सवात्यान् मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो बष्किहान् मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सꣳसृष्टान् मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योऽनुसृष्टान्॥१६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः ॥१७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—पितरः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणाꣳसोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः॥१८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वायुः। छन्दः—त्रिपाद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उक्ताः सञ्चराऽएताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्याः॥१९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वसन्तादयः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान्॥२०॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो
मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान्॥२१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमादयः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

सोमाय हꣳसानालभते वायवे बलाकाऽइन्द्राग्निभ्यां
क्रुञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय चक्रवाकान्॥२२॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्यऽउलूकानग्नीषोमाभ्यां
चाषानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्॥२३॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमादयः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**निषादः**।

सोमाय लबानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान् गोषादीर्देवानां
पत्नीभ्यः कुलीका देवजामिभ्योऽग्नये गृहपतये पारुष्णान्॥२४॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**कालावयवाः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**निषादः**।

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः सन्धिभ्यो
जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय महतः सुपर्णान्॥२५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूम्यादयः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

भूम्याऽआखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्त्रान् दिवे
कशान् दिग्भ्यो नकुलान् बभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः॥२६॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वस्वादयः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

वसुभ्यऽऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो
न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान्त्साध्येभ्यः कुलुङ्गान्॥२७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईशानादयः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ईशानाय परस्वतऽआलभते मित्राय गौरान्
वरुणाय महिषान् बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्रऽउष्ट्रान्॥२८॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राजापत्यादयः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनऽआलभते वाचे
प्लुषींश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः॥२९॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राजापत्यादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्त्तिका नीलङ्गोः क्रिमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती॥३०॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राजापत्यादयः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मयुः प्राजापत्यऽउलो हलिक्ष्णो वृषदꣳशस्ते धात्रे दिशां कङ्को धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहिताहिः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रा वाचे क्रुञ्चः॥३१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमादयः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

सोमाय कुलुङ्ग॒ऽआ॒र॒ण्यो॒ऽजो न॑कुलः शका॒ ते पौ॒ष्णाः क्रो॒ष्टा मा॒योरिन्द्र॑स्य गौरमृगः पि॒द्वो न्यङ्कु॑ः कक्कटस्तेऽनु॑मत्यै प्रति॒श्रुत्का॑यै चक्रवा॒कः॥३२॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मित्रादयः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

सौ॒री ब॒लाका॑ शा॒र्गः सृ॒ज॒यः श॒याण्ड॑क॒स्ते मै॒त्राः सर॑स्वत्यै॒ शारि॑ः पुरु॒षवाक् श्वा॒विद्भौ॒मी शा॑र्दू॒लो वृ॒कः पृदा॑कु॒स्ते म॒न्यवे॒ सर॑स्वते॒ शुकः॑ पुरु॒षवाक्॥३३॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**स्वराट्शक्करी**। स्वरः—**धैवतः**।

सु॒प॒र्णः पा॑र्ज॒न्य॒ऽआ॒ति॒र्वा॑ह॒सो दर्वि॑दा॒ ते वा॒यवे॒ बृह॒स्पत॑ये वा॒चस्पत॑ये पैङ्ग॒रा॒जो॒ऽल॒जऽआ॑न्तरि॒क्षः प्ल॒वो म॒द्गुर्मत्स्य॒स्ते न॑दीप॒तये॑ द्यावापृथि॒वीयः॑ कू॒र्मः॥३४॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**चन्द्रादयः**। छन्दः—**निचृच्छक्करी**। स्वरः—**धैवतः**।

पु॒रु॒ष॒मृ॒गश्च॒न्द्रम॑सो गो॒धा काल॑का दार्वा॒घा॒टस्ते व॒नस्पती॑नां कृक॒वाकुः॑ सावि॒त्रो ह॒ꣳसो वात॑स्य ना॒क्रो मक॑रः कुली॒पय॒स्तेऽकूपार॑स्य ह्रि॒यै शल्य॑कः॥३५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अश्विन्यादयः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ए॒ण्य॒ह्नो म॒ण्डू॒को मू॒षि॑का ति॒त्ति॒रि॒स्ते स॒र्पाणां॑ लोपा॒शऽआ॒श्वि॒नः कृष्णो॒ रात्र्या॒ऽऋक्षो॒ ज॒तूः सु॑षि॒लीका॒ त॒ऽइ॒त॒र॒ज॒नानां॒ जह॑का वै॒ष्ण॒वी॥३६॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अर्धमासादयः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अ॒न्य॒वा॒पो॒ऽर्द्धमा॒सा॒नामृश्यो॑ म॒यूरः॑ सु॒प॒र्णस्ते ग॑न्ध॒र्वाणा॑म॒पामु॒द्रो मा॒सा॒ङ्कश्यपो॑ रो॒हि॒त्कु॑ण्डृ॒णाची॑ गो॒लत्ति॑का॒ ते॒ऽप्स॒रसां॑ मृ॒त्यवे॒ऽसि॒तः॥३७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वर्षादयः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

व॒र्षा॒हूर्ऋ॑तू॒नामा॒खुः कशो॑ मान्था॒ल॒स्ते पि॒तॄणां॒ बला॑याज॒ग॒रो वसू॑नां क॒पिञ्ज॑लः क॒पो॒त॒ऽउ॒लूकः॑ श॒श॒स्ते निर्ऋ॑त्यै॒ वरु॑णायार॒ण्यो मे॒षः॥३८॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आदित्यादयः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

श्वि॒त्र॒ऽआ॑दि॒त्याना॒मुष्ट्रो॒ घृणी॑वान्वार्ध्री॒न॒स॒स्ते म॒त्या॒ऽअर॑ण्याय सृम॒रो रुरू॑ रौ॒द्रः क्वयि॑ः कुट॒रुर्दा॑त्यौ॒ह॒स्ते वा॒जिनां॒ कामा॑य पि॒कः॥३९॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवादयः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

ख॒ड्गो वै॑श्वदे॒वः श्वा कृ॒ष्णः क॒र्णो ग॑र्द॒भस्त॒रक्षु॒स्ते रक्ष॑सा॒मिन्द्रा॑य सू॒क॒रः सि॒ꣳहो मा॑रु॒तः कृ॑कला॒सः पिप्प॑का श॒कु॒नि॒स्ते श॑र॒व्या॒यै॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ पृष॒तः॥४०॥[1]

इति चतुर्विंशोऽध्यायः॥

१. इस अध्याय का भाष्य पण्डित हरिशरणजी नहीं कर पाये थे। अगले अध्याय के नवम मन्त्र तक भी उन्होंने भाष्य नहीं किया था, अतः इन मन्त्रों को मूलरूप में ही छापा गया है।
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सरस्वत्यादयः। छन्दः—भुरिक्शक्वरी[क], निचृदतिशक्वरी[र]।
स्वरः—धैवतः॥

[क]शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं बस्वैस्तेगान्दध्रष्ट्राभ्याथ्ठसरस्वत्याऽ अग्रजिह्वं जिह्वायाऽ उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजꣳहनुभ्यामपऽआस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्याँ श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याथ्ठशुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्याऽ इक्षवोऽवार्याणि पक्ष्माणि पार्याऽ इक्षवः॥१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राणादयः। छन्दः—भुरिगतिशक्वर्यौ। स्वरः—धैवतः।

वातं प्राणेनापानेन नासिकेऽ उपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्ना स्तनयित्नुं निर्बाधेनाशनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्याथ्ठश्रोत्रथ्ठश्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिरदितिꣳशीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जर्जल्येन शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् रेष्माणथ्ठ स्तुपेन॥२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः।

मशकान् केशैरिन्द्रथ्ठस्वपसा वहेन बृहस्पतिꣳशकुनिसादेन कूर्माञ्छफैराक्रमणथ्ठ स्थूराभ्यामृक्षलाभिः कपिञ्जलाञ्जवं जङ्घाभ्यामध्वानं बाहुभ्यां जाम्बीलेनारण्यमग्निमतिरुग्भ्यां पूषणं दोर्भ्यामश्विनावꣳसाभ्याथ्ठरुद्रꣳरोराभ्याम्॥३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—स्वराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः।

अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुताथ्ठसप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी॥४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—स्वराड्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः।

इन्द्राग्न्योः पक्षतिः सरस्वत्यै निपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पञ्चम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणाथ्ठसप्तमी विष्णोरष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्॥५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मरुतादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

मरुताँस्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पतीऽऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणँस्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम् ॥६॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पूषादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

पूष्णं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विह्रुतऽआन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनँशेपेन प्रजाँरेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः॥७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भसज्जीमूतान् हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता नभऽउदर्येण चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान् क्लोमभिर्ग्लौभिर्गुल्मान् हिराभिः स्त्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्याँसमुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना॥८॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पूषादयः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**धैवतः**।

विधृतिं नाभ्या घृतँरसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वाऽअश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाँसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा॥९॥

२३वें अध्याय की समाप्ति पर 'विश्वा रूपाणि' का उल्लेख था। इसकी व्याख्या सम्पूर्ण २४वें अध्याय में ६०९ पशुओं के अश्वमेघ यज्ञ में बन्धन करने के वर्णन से हुई है। २५वें अध्याय के प्रारभिक नौ मन्त्रों में राष्ट्र-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन हुआ है। इस उत्तम राष्ट्र में निवास करते हुए हम प्रभु की उपासना से अपने जीवनों को और भी उत्तम बनाएँ, अतः मन्त्र में प्रभु-उपासना निम्न प्रकार से की गई है—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**हिरण्यगर्भः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपासना

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०॥

१. **हिरण्यगर्भः**='हिरण्यं वै ज्योतिः' सम्पूर्ण ज्योति जिनके गर्भ में हैं, वे प्रभु अथवा आदित्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभु **अग्रे**=इस सृष्टि के बनने से पहले ही **समवर्त्तत**=थे। वे प्रभु कभी सृष्ट नहीं हुए, बने नहीं। वे स्वयम्भू हैं, खुदा हैं। २. **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुए वे प्रभु **भूतस्य**=इस सृष्टि के मौलिक कारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक पञ्च भूतों के तथा प्राणिमात्र के **एकः पतिः**=मुख्य तथा अकेले ही रक्षक **आसीत्**=हैं। इन सबका रक्षण प्रभु पर ही आश्रित है। इस रक्षणरूप कार्य में वे प्रभु किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ३. **सः**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। इस लोकत्रयी को धारण करने के कारण ही वे 'त्रिविक्रम'

कहलाते हैं। ४. सबका धारण करने के कारण **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब सुखों को देनेवाले के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं। उस सब-कुछ देनेवाले प्रभु की अर्चना देकर खाने से ही तो हो सकती है। यह देकर खानेवाला व्यक्ति सदा यज्ञशेष का सेवक व्यक्ति प्रजा की रक्षा करनेवाला होने से 'प्रजापति' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—वे हिरण्यगर्भ प्रभु सदा से हैं, सबके अद्वितीय रक्षक हैं—त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। हम उस आनन्दस्वरूप, सर्वप्रद व ज्योतिर्मय प्रभु की ही उपासना करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दर्शन

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥११॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करते हुए, अर्थात् चेतन प्राणियों के तथा **निमिषतः**=सदा पलकों को बन्द किये हुए, अर्थात् दीर्घनिद्रा में लेटे हुए वृक्षादि स्थावर **जगतः**=जगत् का, अर्थात् इस चराचर (Movable तथा Immovable) संसार का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा बभूव**=नियन्त्रण करनेवाला है। और २. **यः**=ये **अस्य**=इस **द्विपदः चतुष्पदः**=दोपाये व चौपायों का, अर्थात् पक्षियों व पशुओं का **ईशे**=ईश है, इनके अन्दर स्थापित ऐश्वर्य का मालिक है, अर्थात् जिसने मानव को शिक्षा देने के लिए उस-उस पशु व पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को स्थापित किया है। चीलों की उड़ान को देखकर ही मानव ने वायुयान को बनाने की शिक्षा प्राप्त की। इसी प्रकार इन पशु-पक्षियों में प्रभु द्वारा स्थापित ऐश्वर्य का दर्शन होता है। इस ऐश्वर्य के दर्शन से आकर्षित हो हम उस स्थापन करनेवाले प्रभु का ध्यान करते हैं। ३. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—चराचर संसार के नियामक वे प्रभु ही हैं। सब पशु-पक्षियों में दृश्यमान ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है। उस सुखस्वरूप सर्वज्ञ प्रभु का हम वस्तुओं के त्यागपूर्वक प्रयोग से पूजन करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

महिमा

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳरसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१२॥

१. **इमे**=ये **हिमवन्तः**=हिमाच्छादित पर्वत **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा को **आहुः**=कहते हैं **रसया सह**=इस सम्पूर्ण रसमय फलों व अन्नों को जन्म देनेवाली पृथिवी के साथ **समुद्रम्**=समुद्र **यस्य (महित्वा) आहुः**=जिसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। **इमाः**=ये **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ भी **यस्य**=जिसकी महिमा का वर्णन करती हैं तथा **यस्य**=जिसके **बाहू**=(बाहृ प्रयत्ने) चराचर द्विविध जगत् के निर्माणात्मक प्रयत्न उसकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ३. उस **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=सर्वानन्दप्रद प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों को देखकर, विविध रसों से परिपूर्ण फल-फूलोंवाली इस पृथिवी को देखकर, अनन्तप्राय जलराशिवाले समुद्र को देखकर, इन विस्तृत दिशाओं को देखकर तथा चर व अचर विविध जगत् के निर्माण-प्रयत्नों को देखकर किस द्रष्टा को प्रभु की महिमा का स्मरण नहीं होता? कोई अचर ही होगा जिसे इन वस्तुओं को देखकर भी प्रभु का स्मरण न हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमृतम्

यऽआत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१३॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने कि **आत्मदाः**='आत्मानं ददाति इति—द०' जीवहित के लिए अपने को दे डाला है, अर्थात् वे प्रभु निरन्तर जीवों के हित में तत्पर हैं—उनकी अपनी आवश्यकता शून्य है। स्वयं वे पूर्ण हैं, अतः उन्हें अपने लिए कुछ भी करना नहीं है। २. **बलदाः**=वे बल देनेवाले हैं। जीवहित को सिद्ध करने के लिए वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। इस सामर्थ्य से सम्पन्न होकर जीव ने अपनी उन्नति सिद्ध करनी है। ३. वस्तुतः **विश्वे**=संसार में प्रविष्ट सभी प्राणी **यस्य उपासते**=जिसकी उपासना करते हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो कष्ट पड़ने पर प्रभु का स्मरण न करे। सुख में भी अविकृत वृत्तिवाले लोग प्रभु का कीर्तन करते ही हैं, दुःख आने पर दुःखापहरण के लिए प्रभु-कीर्तन चलता है। ४. परन्तु **देवाः**=देव लोग **यस्य प्रशिषं उपासते**=जिसकी आज्ञा की उपासना करते हैं। वे प्रभु के गुणगान में ही सारा समय समाप्त न करके उसके आदेश के अनुसार 'पठन, पाठन व प्रचार' के कार्य में लगकर ही उसकी पूजा करते हैं। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य** ५. **यस्य छाया**=जिस प्रभु का किया हुआ छेदन-भेदन (छोड़ देने) अर्थात् अंगविकार भूकम्पादि दण्ड **अमृतम्**=जीव की अमरता के लिए है। **यस्य मृत्युः**=(अमृत) प्रभु द्वारा प्राप्त कराई गई यह मृत्यु भी अमरता के लिए है। ये सब इसलिए ही प्रभु से दी जाती हैं कि हम विषयों व वासनाओं के पीछे मरते न फिरें। इनके पीछे भागते रहकर हम अपने को मार ही लेंगे, अतः प्रभु कृपा करके ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि हम विषयवासनाओं में जा फँसने से बच जाते हैं। ६. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=ज्योतिर्मय सर्वज्ञ प्रभु के लिए **हविषा**=यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण व आप्तकाम हैं। उन्हें अपने लिए कुछ नहीं करना—उन्होंने अपने को जीवहित के लिए दे डाला है। उनके सब कार्य जीव को उन्नति-साधन प्राप्त करने के लिए हैं। वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। सामान्य लोग इस प्रभु का गुणगान करते हैं तो समझदार प्रभु के आदेशों के अनुसार कार्य करने का ध्यान करते हैं। प्रभु से दिये गये दण्ड व मृत्यु भी जीव की अमरता के लिए साधन बनते हैं। इस प्रभु का पूजन त्यागपूर्वक उपभोग से ही सम्भव है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

भद्र क्रतु

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥१४॥

१. **नः**=हमें **क्रतवः**=यज्ञ व सङ्कल्प **आयन्तु**=सवर्था प्राप्त हों। कैसे यज्ञ व सङ्कल्प? क. **भद्राः**=कल्याणकारी और सुख देनेवाले, ख. **विश्वतः अदब्धासः**=सब ओर से अहिंसित, अर्थात् पूर्णरूप से निर्विघ्न ग. **अपरीतासः**=(न परीता अज्ञाताः), अर्थात् जो फलानुमेय हैं, पूर्ण हो जाने पर ही जिनका पता लगता, है, पहले जिनका ढिंढोरा नहीं पीट दिया गया। घ. **उद्भिदः**=(उद्भिन्दन्ति यज्ञान्तराणि प्रकटयन्ति) अन्य यज्ञों को प्रकट करनेवाले, अर्थात् परस्पर अनुबन्धरूप से चलनेवाले–एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा–इस प्रकार निरन्तर चलनेवाले अथवा विकास के कारणभूत। इस प्रकार के यज्ञ व सङ्कल्प हमें निरन्तर प्राप्त हों। २. क. हम इसलिए उल्लिखित प्रकार से उत्तम कर्मों में लगे रहें **यथा**=जिससे कि **देवाः**=सब देव, सब प्राकृतिक शक्तियाँ: **सदम्**=सदा **इत्**=ही **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **असन्**=हों। हमारे कर्मों के दूषित होने पर ही आधिदैविक आपत्तियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। कर्म उत्तम होने पर सूर्य-चन्द्रादि सभी देव अनुकूल होते हैं (ख) 'देवाः' शब्द का अभिप्राय 'दिव्य वृत्तिवाले विद्वान्' भी है। वे विद्वान् भी सदा हमारी वृद्धि का कारण बनें। ये देव, वे विद्वान् **अप्रायुवः=(प्रकर्षेणायुवन्ति अमाषन्ति)** प्रमाद से रहित हों, जनहित के कार्यों में इन्हें किसी प्रकार का आलस्य न हो और वे **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **रक्षितारः**=सब प्रकार के अशुभों से हमारी रक्षा करनेवाले हों। सूर्यचन्द्र आदि हमारे शरीरों को नीरोग बनाएँ और विद्वान् लोग हमारे मनों व मस्तिष्कों को स्वस्थ बनाएँ।

भावार्थ–हमें उत्तम कर्म व सङ्कल्प प्राप्त हों। देव हमारी वृद्धि का कारण बनें। आलस्य से ऊपर उठकर दिन-प्रतिदिन वे प्रजा-रक्षण के कार्य में लगे रहें।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**विद्वांसः**। छन्दः–**जगती**। स्वरः–**निषादः**।

'सुमति व राति'=देवसख्य

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬंरातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानाᳬंसख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥१५॥

१. **ऋजूयताम्**=क. **ऋजुगामिनाम्**=सदा सरल मार्ग से चलनेवाले ख. **ऋजुकामिनाम्**=सदा सरलता को चाहनेवाले **देवानाम्**=देवों की **भद्रा सुमतिः**=कल्याण व सुख को करनेवाली शोभनमति **नः**=हमें **अभिनिवर्त्तताम्**=अभिमुख्येन प्राप्त हो, अर्थात् हम भी देवों की भाँति सरल मार्ग से चलनेवाले व सरलता की कामना करनेवाले बनें। २. **देवानाम्**=देवों की **रातिः**=दानवृत्ति भी **नः**=हममें **अभिनिवर्तताम्**=अभिमुख प्रवृत्त हो, अर्थात् देवों की भाँति हम भी सदा देनेवाले बनें। ३. इस प्रकार देवों की सुमति तथा राति को प्राप्त करके **वयम्**=हम **देवानाम्**=देवों के **सख्यम्**=मित्रभाव को **उपसेदिम**=प्राप्त करें। उन-जैसा बनकर ही तो हम उनके सच्चे मित्र हो सकेंगे। ४. ऐसा होने पर **देवाः**=देव **नः आयुः**=हमारे जीवन को **जीवसे**=चिर जीवन के लिए **प्रतिरन्तु**=बढ़ाएँ। वस्तुतः 'सुमति व राति' दोनों ही दीर्घजीवन के लिए आवश्यक हैं। मस्तिष्क की कुमति अल्पायुष्य का प्रबल कारण बनती है। मन की अनुदारता भी उसी प्रकार आयुष्य को छोटा करती है, अतः हम सुमति व राति को प्राप्त करके दीर्घजीवन को सिद्ध करें। इस दीर्घजीवन के लिए 'देवों की मित्रता' अत्यधिक महत्त्व रखती है।

भावार्थ–हमें देवों की 'सुमति' प्राप्त हो। देवों की भाँति हम 'दानवृत्ति' वाले हों तथा देवों की ही हमें 'मित्रता' प्राप्त हो। ये तीनों बातें हमारे दीर्घजीवन का कारण बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देव-हूति

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्त्रिधम्।
अर्यमणं वरुणꣳसोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥१६॥

१. गतमन्त्र में देवों की मित्रता प्राप्त करने की प्रार्थना थी। उन्हीं देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **तान्**=उन देवों को **पूर्वया**=सृष्टि के आरम्भ में दी गई **निविदा**=(निविदा इति वाङ् नाम—नि० १।११) इस निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणी के हेतु से **वयम्**=हम **हूमहे**=पुकारते हैं, अर्थात् इन विद्वानों को हम इसलिए समीप प्राप्त करना चाहते हैं कि ये हमें उत्तम वेदज्ञान प्राप्त करानेवाले हों। २. किन देवों को? (क) **भगम्**='ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्यरूप भग से युक्त को (ख) **मित्रम्**=(मिद् स्नेहने) सबके साथ स्नेह करनेवाले को तथा (प्रमीतेः त्रायते) पाप से बचानेवाले को (ग) **अदितिम्**=अदीनभाव से युक्त होकर दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाले को अथवा किसी का खण्डन व हिंसन न करनेवाले को (अदीना देवमाता—नि०, न दितिः यस्मात्) (घ) **दक्षम्**=कार्यकुशल को, कर्मयोगी को (ङ) **अस्त्रिधम्**=न स्रेधते। कभी सद्भाव को नष्ट न होने देनेवाले को (च) **अर्यमणम्**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति=सदा दानशील को (छ) **वरुणम्**=द्वेष का निवारण करनेवाले अतएव श्रेष्ठ को (ज) **सोमम्**=सौम्य स्वभाववाले शान्त को (झ) **अश्विना**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न को अथवा सूर्य-चन्द्र के गुणधर्मों से युक्त को। सूर्य के समान प्रकाशमय तथा चन्द्र के समान आनन्दमय को ३. इन सब देवों को तो हम बुलाते ही हैं। इनके साथ सतत सम्पर्क होने पर **सुभगा**=सब उत्तम भगों को प्राप्त करानेवाली **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नः**=हमारा **मयस्करत्**=कल्याण करे। देवों के सम्पर्क में रहने से हमारा ज्ञान बढ़ता है, उस ज्ञानवृद्धि से हमारा कल्याण होता है।

भावार्थ—हम देवों के सम्पर्क में आकर उनसे ज्ञान प्राप्त करें जो हमारा कल्याण करे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मयोभु भेषज

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम देवों को पुकारते हैं और उनसे निश्चयात्मक श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **नः**=हमें **वातः**=यह निरन्तर गति के द्वारा बुराई का (रोग-कारणों का) संहार करनेवाला वायु (वा गतिगन्धनयोः) **मयोभु**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि **वातु**=प्राप्त कराए, अर्थात् वायु हमारे रोगों का प्रतीकार करके हमें नीरोग व सुखी करनेवाला हो। २. जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **पृथिवी माता**=यह मातृवत् हितकारिणी पृथिवी हमें कल्याणकर औषध को प्राप्त करानेवाली हो। **पिता द्यौः**=पिता की भाँति रक्षक यह द्युलोक भी कल्याणकर औषध को प्राप्त कराए। जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं ३. **तत्**=तब **सोमसुतः**=सोम का अभिषव करनेवाले **ग्रावाणः**=ये पत्थर भी सोमरस के प्रापण के द्वारा **मयोभुवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हों, अर्थात् सोमयज्ञों के अन्दर सोमपान करते हुए हम अपने शरीरों को शान्त-शक्ति से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करें अथवा सौम्यता को जन्म देनेवाले ज्ञानी (आचार्य) हमारे लिए ज्ञान

देते हुए कल्याण करनेवाले हों। ४. **तत्**=ज्ञान प्राप्त करने पर **धिष्ण्या**=गृह की भाँति धारण करनेवाले **अश्विना**=हे प्राणापानो! **युवम्**=तुम दोनों भी हमारी 'मयोभु भेषज' की प्रार्थना को **शृणुतम्**=सुनो। तुम्हारी कृपा से हमारे शरीर, मन व बुद्धि सभी नीरोग, निर्मल व तीव्र बनें। हम प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनें—प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हों।

भावार्थ—जब हम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब वायु, पृथिवी, द्युलोक, सोमाभिषव करने में उपयुक्त ग्रावाणा अथवा अधिक सौम्यता को जन्म देनेवाले उपदेष्टा गुरु—ये सब हमें कल्याणकर औषध प्राप्त कराते हैं और प्राणापान हमारे लिए सर्वोत्तम औषध बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ईशान का आह्वान

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥१८॥

१. **वयम्**=हम **अवसे**=रक्षा के लिए—शरीर की रोगों से रक्षा के लिए तथा मन की द्वेषादि मलों से रक्षा के लिए—**तं ईशानम्**=उस ईशान करनेवाले रुद्र प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं, यतः प्रभु ही **जगतः तस्थुषः पतिम्**=जंगम व स्थावर जगत् के पति हैं, इस सम्पूर्ण चराचर संसार के रक्षक हैं तथा **धियञ्जिन्वम्**=बुद्धि को प्रीणित करनेवाले हैं। हमारी बुद्धियों को शुद्ध करनेवाले हैं (द०)। २. इस ईशान के आह्वान को हम सदा ही किया करें **यथा**=जिससे **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला वह प्रभु **नः**=हमारे **वेदसाम्**=धनों के **वृधे**=वर्धन के लिए **असत्**=हों। **रक्षिता**=वह हमारा रक्षण करनेवाला हो, हमें आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से बचाये (resque) तथा **पायुः**=हमें काम-क्रोधादि के आक्रमणों से भी बचानेवाला हो। **अदब्धः**=कामादि से कभी हिंसित न होनेवाला वह ईशान हमारे **स्वस्तये**=कल्याण व उत्तम स्थिति के लिए हो। हम प्रभु की उपासना करनेवाले होंगे तो काम हमपर कभी आक्रमण न करेगा।

भावार्थ—ईशान का आह्वान हमारे शरीर व मानस रक्षा का कारण बने तथा हमें पोषण के लिए आवश्यक धनों की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

स्वस्ति का साधन

स्व॒स्ति न॒ऽइन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ऽअरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥१९॥

१. **नः**=हमारे लिए **वृद्धश्रवाः**=सदा से बढ़े हुए ज्ञानवाला **इन्द्रः**=बलवान् व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाला हो, अर्थात् प्रभु की कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और उस प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में सब वासनाओं का दहन होकर हमें वास्तविक शान्ति का लाभ हो और हमारी जीवन-स्थिति उत्तम हो। २. **नः**=हमारे लिए **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनों का स्वामी **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु पोषण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ **स्वस्ति**=कल्याणकर हो, अर्थात् प्रभुकृपा से हम पुरुषार्थ करते हुए आवश्यक धनों की प्राप्ति के द्वारा जीवन की स्थिति को उत्तम कर सकें। ३. **नः**=हमारे लिये **तार्क्ष्यः**=(तृक्ष गतौ) गति में उत्तम=स्वाभाविक क्रियावाला पूर्णरूप से निःस्वार्थ क्रियावाला, **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित मर्यादावाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याणकर

हो। हम भी उस प्रभु की तरह सतत व निःस्वार्थ गतिवाले बनकर सदा मर्यादा में चलते हुए कभी हिंसित न हों और इस मर्यादित जीवन में कल्याण प्राप्त करें। ४. **नः**=हमारे लिए **बृहस्पतिः**=बृहत् (बड़े) आकाशादि का पति वह प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण को **दधातु**=धारण करे। हम भी 'बृहस्पति' प्रभु की उपासना करते हुए 'बृहस्पति' बनें, उदार हृदयाकाशवाले बनें। यह उदारता हमें कृपण (miser) की कृपणता (misery) से ऊपर उठाकर कल्याणमय स्थिति में प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए (क) वृद्ध ज्ञानवाले व काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें, (ख) पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त करें, (ग) निरन्तर क्रियाशील जीवन बिताते हुए कभी मर्यादा का उल्लंघन न करें। (घ) उदारहृदय बनकर कल्याण को सिद्ध करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

देवों का आतिथ्य

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः ।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवाऽअवसागमन्निह॥२०॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार हमारी स्थिति कल्याणमयी हो', इसी दृष्टिकोण से हम प्रस्तुत मन्त्र में चाहते हैं कि **विश्वेदेवाः**=सब देव—दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् लोग **अवसा**=अन्न के हेतु से, अर्थात् हमारा आतिथ्य स्वीकार करने के हेतु से यहाँ **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। उन देवों के समय-समय पर घरों में आते रहने से घर का वातावरण सुन्दर बना रहता है। २. ये देव कैसे हैं? क. **पृषदश्वाः** (पृषु सेचने, पुष्ट्यादिना संसिक्ताङ्गः-द०)=इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्टि से संसिक्त हैं। इनका जीवन भोगमय न होने से इनके सब अङ्ग सुगठित हैं। (क) **मरुतः**=(प्राणाः) ये प्राणशक्ति के पुञ्ज हैं। (ख) **पृश्निमातरः**=(पृश्नि=a ray of light) प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाले हैं। इनके मस्तिष्क ज्ञान-किरणों से दीप्त हैं। (ग) **शुभंयावानः**=शुभमार्ग पर चलनेवाले हैं, अतएव कल्याण को प्राप्त करने व करानेवाले हैं (घ) **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **जग्मयः**=सदा जानेवाले हैं। (ङ) **अग्निजिह्वाः**=(अग्निरिव सुप्रकाशितवाणी येषां—द०) अग्नि के समान प्रकाशमय वाणीवाले अथवा जिनके मुख से निकले हुए शब्द प्रगति का साधन हैं, उत्साह का वर्धन करनेवाले हैं, मृत आन्दोलन में फिर से गर्मी ला देनेवाले हैं। (च) **मनवः**=जो बड़े मननशील हैं, विद्वान् व समझ से चलनेवाले हैं। (छ) **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान दृष्टिवाले हैं। जिनकी दृष्टि अज्ञानान्धकार को उसी प्रकार नष्ट करनेवाली है जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को। ३. इस प्रकार के विद्वान् हमारे घरों पर समय-समय पर आते रहेंगे तो उनकी ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को परिशुद्ध बनानेवाली होंगी, अतः प्रभुकृपा से इन देवों का हमारे घरों पर आना होता ही रहे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें देवों के आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे, जिससे हमारे जीवनों में ज्ञान व उत्साह का सञ्चार सदा अविच्छिन्न रूप से हो सके।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपदेश के विषय

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२१॥

१. **देवाः**=हे ज्ञान-ज्योति-देनेवाले विद्वानो! आपकी उपदेश-वाणियों से प्रेरित होकर हम **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रम्**=कल्याण व सुखकर शब्दों को ही **शृणुयाम**=सुनें। हम निन्दात्मक बातों को सुनने की रुचि से ऊपर उठ जाएँ। २. हे **यजत्राः**=(यज+त्रा) अपने ज्ञानदान से त्राण करनेवाले विद्वानो! हम **अक्षभिः**=प्रभु से दी गई इन आँखों से **भद्रम्**=शुभ को ही **पश्येम**=देखें। हम कभी किसी की बुराई को देखें ही नहीं। शहद की मक्खी की भाँति सब स्थानों से रस ही लेने का प्रयत्न करें। मल का ग्रहण करनेवाली मक्खी न बन जाएँ। हंस की भाँति द्वेष जल को छोड़कर गुणरूप दूध का ही ग्रहण करें। एवं, शुभ ही सुनें और शुभ ही देखें और ३. परिणामतः शरीर-शक्तियों को जीर्ण न होने देते हुए **स्थिरैः अङ्गैः**=दृढ़ अंगों से तथा **तनूभिः**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीरों से **तुष्टुवांसः**=सदा प्रभु का स्तवन करते हुए उस आयु को **व्यशेमहि**=व्याप्त करें **यत् आयुः**=जो जीवन, जो आयु **देवहितम्**=देव की उपासना के योग्य है, अर्थात् जो अपने कर्त्तव्यों के करने के द्वारा प्रभु की अर्चना में बीतता है।

भावार्थ—देवों से प्रेरणा प्राप्त कर हम कानों से भद्र ही सुनें। आँखों से भद्र ही देखें तथा स्थिर अङ्गोंवाले शरीरों से प्रभु का स्तवन करते हुए देवोपासनयोग्य जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सौ वर्ष तक

शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥२२॥

१. हे **देवाः**=देवो! **शतं शरदः इत्**=सौ वर्षों तक निश्चय से **अन्ति**=आप हमारे समीप होवें, अर्थात् हमें आजीवन आपका सङ्ग प्राप्त होता रहे। २. उस समय तक हमें आपका सङ्ग प्राप्त रहे **यत्र**=जहाँ से ये सब सूर्यादि देव **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों के **जरसम्**=वार्धक्य को **चक्र**=कर देते हैं, अर्थात् वृद्धावस्था में भी हम आपके सत्संग में सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें। उस समय भी हमें स्वयं पर्याप्त अनुभवी हो जाने का गर्व न हो जाए। ३. हम उस समय भी आपके सत्संग के अभिलाषी बने रहें **यत्र**=जबकि **पुत्रासः**=पुत्र भी **पितरः**=पिता **भवन्ति**=बन जाते हैं, अर्थात् पुत्रों की भी सन्तान हो जाने पर जब हम पौत्रोंवाले हो जाते हैं और पितामह कहलाते हैं, उस समय भी हमें आपके सङ्ग करने का सौभाग्य प्राप्त हो। उस समय आप देवों की प्रेरणा हमारे जीवन में ज्ञान व उत्साह को सञ्चरित करनेवाली होगी। ४. आपकी प्रेरणा व ज्ञानज्योति द्वारा मार्ग-प्रदर्शन से **नः आयुः**=हमारा जीवन **गन्तोः मध्याः**=लक्ष्य-स्थान के बीच में ही, अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचे बिना ही **मा रीरिषत**=मत नष्ट हो जाए। हम इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुँच सकें और यात्रा को पूर्ण कर मोक्ष-लाभ करनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे वृद्धावस्था में भी शरीर के लिए भोजन आवश्यक होता है उसी प्रकार मानस पोषण के लिए देवों की प्रेरणाएँ भी आवश्यक होती हैं। इन प्रेरणाओं से हम मार्ग में नहीं रुक जाते, अपितु पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**द्यौरित्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आदित्य

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवाऽअदितिः पञ्च जनाऽअदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥२३॥

१. गतमन्त्र की **'मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तः'** प्रार्थना की पूर्ति के लिए कहते हैं कि **द्यौः**=यह द्युलोक **अदितिः**=मेरा खण्डन करनेवाला न हो। इस द्युलोक के साथ मेरा युद्ध न हो, यह मेरे साथ शान्ति में हो। **'द्यौः शान्तिः'** यही प्रार्थना यहाँ शब्द परिवर्तन के साथ 'अदितिः द्यौः' इस रूप में हुई है। जब ये बाह्य जगत् जल, वायु आदि देव हमारे अनुकूल नहीं होते और हम इनके साथ युद्ध की स्थिति में होते हैं तब हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और हम रोगाक्रान्त हो जाते हैं। २. **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाला न हो। द्युलोक का मुख्य देवता 'सूर्य' हमारे लिए शान्तिकर होकर तपे (शं नस्तपतु सूर्यः) और अन्तरिक्षलोक का मुख्य देवता वायु भी हमारे लिए शान्तिकर होकर बहे (शं नो वातः पवताम्)। ३. **माता**=यह पृथिवी माता भी हमारा **अदितिः**=खण्डन करनेवाली न हो। इस पृथिवी पर बहनेवाले जल व इससे उत्पन्न होनेवाली ओषधियाँ हमारे लिए स्वास्थ्यकर हों **'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु'**। ४. **सः**=वह हमारा **पिता**=पितृस्थानापन्न आकाश **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो और **सः** वह **पुत्रः**=आकाश का पुत्रतुल्य सूर्य **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो अथवा **सः पिताः सः पुत्रः**=वह पिता और वह पुत्र दोनों मेरा खण्डन करनेवाले न हों। मैं कभी पिताजी का क्रोधपात्र न हो जाऊँ तथा पुत्रों का ठीक प्रकार से शिक्षण करता हुआ मैं उनके अविनयादि से परेशानी को प्राप्त न करूँ। ५. **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **अदितिः**=हमारा खण्डन न करनेवाले हों तथा संसार की सब आधिदैविक शक्तियाँ हमारे अनुकूल हों। ६. **पञ्चजनाः**=राष्ट्र के 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा निषाद' ये पाँचों-के-पाँचों **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाले न हों। सबके साथ हमारी अनुकूलता हो। ७. **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए सन्तान व पदार्थ **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों तथा **जनित्वम्**=भविष्य में होनेवाले सन्तान तथा पदार्थ भी **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों।

भावार्थ—तीनों लोक तथा घर के मुख्य व्यक्ति राष्ट्र के सब देव व जनता, भूत, भविष्य में होनेवाले पदार्थ व व्यक्ति सभी हमारे अनुकूल हों। इनकी अनुकूलता हमारे अखण्डन व स्वास्थ्य के लिए हो। सारी प्रजा मेरे स्वास्थ्य के लिए हो। मैं भी 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**मित्रादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्रवचन

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णोऽअर्य॒मायुरिन्द्र॑ऽ ऋभु॒क्षा म॒रु॒तः॒ परि॑ख्यन्।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॑णि॥२४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों व लोकवासियों की अनुकूलता प्राप्त करके यह व्यक्ति प्रार्थना करता है कि **मित्रः**=स्नेह का देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण का देवता, **अर्यमा**=दातृत्व, **आयुः**=(इ गतौ) गतिशीलता, **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व, **ऋभुक्षाः**=महत्ता अथवा (ऋतेन भान्ति इति ऋभवः, क्षि गति, ऋत=regularity=नियमितता से दीप्त होकर चलना, तथा **मरुतः**=प्राण **नः**=हमें **मा परिख्यन्**=मत छोड़ें। ये उत्तम बातें व दिव्य गुण हमारा परित्याग न करें, २. **यत्**=क्योंकि हम तो **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **वाजिनः**=सर्वशक्तिमान् **देवजातस्य**=देव लोगों से हृदय में आविर्भूत किये गये **सप्तेः**=सबमें समवेत (षप समवाये) अर्थात् प्राणिमात्र में व भूतमात्र में निवास करनेवाले उस प्रभु के **वीर्याणि** शक्तिशाली कर्मों का **प्रवक्ष्यामः**=प्रवचन करेंगे। यह प्रभु के कर्मों का प्रवचन ही वस्तुतः मानव-जीवन को शुद्ध बनाये रखता है। ज्ञानयज्ञों में एकत्र होकर हम शक्तिशाली, सब देवों में प्रादुर्भूत, सर्वत्र

समवेत प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। उस समय ये सब देव हमारा आश्रय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे देव हमें त्याज्य न समझें। प्रभु का स्मरण हमें दिव्य गुणयुक्त बनाए।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शुद्ध धन-शुद्ध अन्न

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूपऽइन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥२५॥

१. **यत्**=जब **निर्णजा**=शुद्ध, अर्थात् शुद्ध उपायों से कमाये हुए **रेक्णसा**=धन से **प्रावृतस्य**=आच्छादित पुरुष के **गृभीतां रातिम्**=ग्रहण किये हुए दान को **मुखतः**=मुख्यरूप से अथवा आरम्भ मे ही **नयन्ति**=ले-जाते हैं। इस दान देनेवाले पुरुष के लिए वह प्रभु २. **सुप्राङ्**=(सु प्र आङ्) उत्तमता से खूब आगे ले-चलनेवाले होते हैं। **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा इसकी सब बुराई को दूर फेंकनेवाले होते हैं। **मेम्यत्**=(भृशं हिंसन् ऋ० १.१६२.—द०) सब काम-क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाले व (प्राप्नुवन्—द०) इसे प्राप्त होनेवाले होते हैं। **विश्वरूपः**=इसके लिए सब आवश्यक ज्ञानों का निरूपण करनेवाले होते हैं। ३. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में यह स्पष्ट है कि (क) यदि हम शुद्ध उपायों से धन कमाते हैं और (ख) दान देते हैं तो (ग) हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। केवल प्रभु-प्राप्ति नहीं होती, अपितु ४. यह प्रभु का प्रिय **इन्द्रापूष्णोः प्रियम्**=इन्द्र और पूषा के प्रिय **पाथः अप्येति**=अन्न को भी प्राप्त करता है, अर्थात् इसे वह अन्न प्राप्त होता है जो उसे इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, जितेन्द्रिय बनाता है और **पूषा**=उत्तम पोषणवाला करता है। प्रभुकृपा से प्राप्त यह सात्त्विक अन्न उसे जितेन्द्रिय बनने में तो सहायक होता ही है, वह अन्न उसे **पूषा**=पुष्टि का भी देवता बनाता है, अर्थात् इसके अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़ करनेवाला होता है। ५. यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रस्तुत मन्त्र 'शुद्ध धन' से प्रारम्भ होता है और 'शुद्ध अन्न' पर समाप्त होता है।

भावार्थ—(क) हम धन से अपने को आच्छादित करें, अर्थात् खूब कमाएँ, परन्तु शुद्ध साधनों से। (ख) इस धन का मुख्य उपयोग दान हो—दान देकर बचे हुए को ही खाने का विचार करें। (ग) प्रभु को हृदयस्थ कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें। (घ) उसी अन्न का सेवन करें जो संयम व पोषण की दृष्टि से ठीक हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

एष छागः=यह-शत्रु छेदक

एष छागः पुरोऽअश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳसौश्रवसाय जिन्वति॥२६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शुद्ध धन, शुद्ध अन्न' का सेवन करनेवाले के लिए कहते हैं कि **एषः छागः**=यह (छो छेदने) शत्रुओं का छेदन करनेवाला, **पूष्णे भागः**=पोषक अन्न का ही सेवन करनेवाला, (भज् सेवायाम्) **विश्वदेव्यः**=अपने में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाला मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (प्रशस्त इन्द्रियोंवाला) **अश्वेन**=(अश् व्याप्तौ) सर्वत्र व्याप्त **वाजिना**=सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु से **पुरः नीयते**=आगे उन्नति-पथ पर ले-जाया जाता

है। २. **अर्वता**=(अर्व हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु से **यत्**=जब **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति को देनेवाले **पुरोडाशम्**=हुतशेष (Leavings of an oblation) की **अभि**=ओर (नीयते) ले-जाया जाता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करने के लिए ही प्रेरित किया जाता है तब **त्वष्टा**=यह देवशिल्पी अथवा (त्विष् दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाला प्रभु **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इस हुतशेष (यज्ञशेष) का सेवन करनेवाले को **सौश्रवसाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके उसे प्रसन्नता का लाभ कराता है। वस्तुतः यज्ञशेष का सेवन चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। शुद्ध चित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम काम-क्रोधादि का छेदन करें, पोषक अन्न का सेवन करें, दिव्य गुणों की प्राप्ति हमारा लक्ष्य हो। ऐसा होने पर प्रभु हमारी उन्नति का कारण बनेंगे। हम यज्ञशेष का ही सेवन करेंगे तो ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान से प्रसादयुक्त करेंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सहयज्ञ प्रजाओं का सर्जन

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।

अत्रा पूष्णः प्रथमो भागऽएति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः ॥२७॥

१. **यत्**=जब **हविष्यम्**=(हविषि उत्तमम्) जीव दानपूर्वक अदन में उत्तम होता है, अर्थात् दान देकर यज्ञशेष खाने की वृत्ति होती है तब २. **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु के अनुसार **देवयानम्**=देवताओं के मार्ग से चलता है, अर्थात् ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए सत्य को अपनाता है तथा ३. **मानुषाः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति) विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले **अश्वम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को (अश् व्याप्तौ) **त्रिः**=प्रातः, मध्याह्न व सायं समय **परिनयन्ति**=अपने विचारों में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान करते हैं। ४. **अत्र**=ऐसा होने पर **पूष्णः**=पूषा का **प्रथमो भागः**=सर्वोत्तम भाग **एति**=इन्हें प्राप्त होता है, अर्थात् इनको उत्तम पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं। इनका शरीर उत्तम पुष्टिवाला होता है और ५. **अजः**=कभी भी जन्म न लेनेवाला वह प्रभु अथवा सब प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **देवेभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञम् प्रतिवेदयन्**=यज्ञों को प्राप्त कराता है। यह यज्ञ उनके लिए सब इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हवि के प्रयोग में उत्तम हों, देवयान मार्ग से चलें। सदा प्रभु का स्मरण करें, शरीर को सुपुष्ट करें, प्रभु से दिये गये यज्ञ को अपनाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सप्तहोता यज्ञ

होताध्वर्युरावयाऽअग्निमिन्धो ग्रावग्राभऽउत शꣳस्ता सुविप्रः।

तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥२८॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु ने यज्ञ को प्राप्त कराया' ऐसा कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि हे दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **तेन**=उस **स्वरङ्कृतेन**=साधु अलंकृत, अर्थात् बड़ी उत्तमता से तथा **स्विष्टेन**=उत्तम भावना से किये गये **यज्ञेन**=यज्ञ से तुम **वक्षणाः**=अपनी सब प्रकार की उन्नतियों को अथवा आशा-नदियों को **आपृणध्वम्**=पूर्ण करनेवाले बनो, अर्थात् इस यज्ञरूप उत्तम कर्म को जब तुम उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करोगे तो तुम्हारी सब

इच्छाएँ पूर्ण हो पाएँगी—तुम्हारी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकेगी। २. 'तुम कैसे बनो' इस विषय में भी प्रभु सात नामों का उच्चारण करते हुए सात बातें कहते हैं: (क) **होता**=तुम दानपूर्वक अदनवाले बनो, सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होओ। (ख) **अध्वर्युः**=अहिंसात्मक कार्यों को अपने साथ जोड़नेवाले होओ, कभी हिंसा में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। (ग) **अवयाः**=(कण अवयजने) तुम दुर्गुणों को अपने से सर्वथा दूर करनेवाले बनो। (घ) **अग्निमिन्धः**=ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर दीप्त करने के लिए प्रयत्नशील होओ। (ङ) **ग्रावग्राभः**=प्रभु-स्तवन का ग्रहण करनेवाले बनो, (च) **शस्ता**=उत्तम कार्यों का शंसन करनेवाले होवो **उत**=और (छ) **सुविप्रः**=शोभन मेधावी बनो। प्रयत्न करो कि तुम्हारा ज्ञान अधिक-से-अधिक हो। इस प्रकार इन सात बातों को अपने जीवन में अनूदित करके तुम जीवनरूप सप्तहोताओंवाले यज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाले बनो।

भावार्थ—जीवन को सप्तहोताओं से चलनेवाला यज्ञ बनाओ। यज्ञ को उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करते हुए तुम अपनी सब उन्नतियों को सिद्ध करो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यूपव्रश्चन

यूपव्रस्काऽउत ये यूपवाहाश्चषालं येऽअश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनꣳसम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥२९॥

१. गतमन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख है। उस 'जीवन-यज्ञ' की यज्ञशाला यह शरीर है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस यज्ञशाला के यूप हैं। इन यूपों-यज्ञस्तम्भों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **यूपव्रस्काः**=(यूपं वृश्चन्ति) जो इस अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों का वृश्चन द्वारा ठीक निर्माण करनेवाले बढ़ई हैं। इस यज्ञस्तम्भों पर चढ़ी हुई चर्बीरूप मैल की तहों को छील-छालके जो इन स्तम्भों को ठीक-ठाक बना देते हैं, **उत**=और **ये**=जो **यूपवाहाः**=इन यज्ञस्तम्भों का वहन करनेवाले हैं, अर्थात् इन अङ्गरूप स्तम्भों को कार्यों में प्रयुक्त करनेवाले हैं, **ये**=जो **अश्वयूपाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव के इन यज्ञस्तम्भों के लिए **चषालम्**=(यूपाग्रामाग्रेस्थाप्यं काष्ठं) अङ्गरूपस्तम्भों के अग्रभाग में स्थाप्य मस्तिष्करूप चषाल को भी (तक्ष तनूकरणे) खूब सूक्ष्म व तीव्र बनाते हैं। २. **ये च**=और जो **अर्वते**=(हिंसायाम्) काम-क्रोधादि पशुओं की हिंसा करनेवाले के लिए—इसलिए कि वह कामादि का हिंसक बन सके **पचनं सम्भरन्ति**=पचन को, बुद्धि के परिपाक को सम्यक् प्राप्त कराते हैं, **ते**=इन लोगों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **नः इन्वतु**=हमें भी प्रीणित करनेवाला हो, अर्थात् हम भी बड़ी रुचि से ज्ञान का परिपाक करने में लगे रहें। ३. इस प्रकार मन्त्र में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शरीररूप यज्ञशाला का स्तम्भ समझें। इन अङ्गों को चर्बी की तहों से बेडौल न होने दें। उचित व्यायाम व आसनों से उस चर्बी का तक्षण करते रहें। (ख) इन अङ्गों को सदा क्रियाशील बनाये रक्खें। अङ्ग शब्द का तो धात्वीय अर्थ ही 'गतिशील' है। अङ्गरूप साम्य शरीररूप यज्ञशाला का वहन करनेवाला हो। (ग) इन यूपों के अग्रभाग में स्थाप्य काष्ठ-चषाल यह मस्तिष्क है, इसका सुन्दर तक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जितनी बुद्धि सूक्ष्म होगी उतना ही यह तत्त्वदर्शन ठीक कर सकेगी (चषालं तक्षति) (घ) इस यज्ञशाला में कामादि पशुओं का बन्धन हो सके उसके लिए आवश्यक है कि ज्ञान का उत्तम परिपाक हो। ज्ञान के परिपाक के न होने पर मनुष्य **अर्वाः**=कामादि का संहार करनेवाला नहीं बन सकता।

(अर्वते पचनं सम्भरन्ति)।

भावार्थ—१. हम अङ्गरूप स्तम्भों का ठीक वृश्चन कर उन्हें सुन्दर, सुडौल बनाएँ। २. इन अङ्गरूप स्तम्भों को संभृत किये रखने के स्थान में इन्हें कार्य-विनियुक्त करें। ३. मस्तिष्क को तीव्र बनाएँ। ४. ज्ञान का परिपूर्ण पाक करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उप प्रागात्

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशाऽउप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्राऽऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम् ॥३०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम (क) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुडौल बनाते हैं (ख) मस्तिष्क का सुन्दर तक्षण करते हैं तथा (ग) ज्ञान का परिपाक करते हैं और इस कार्य में रुकते नहीं तो **उपप्रागात्**=वह प्रभु हमारे समीप आते हैं। हम पर्वत की ओर चलते जाते हैं तो पर्वत हमारे समीप हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ साधना करने से प्रभु हमारे समीप हो जाते हैं। समीप क्या? प्रभु का मेरे अन्दर निवास होता है। २. इस प्रभु के निवास से **सुमत्**=स्वयं ही (सुमत्=स्वयं-नि०) **मे**=मुझमें **मन्म**=(मननम्) ज्ञान **अधायि**=निहित होता है। प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं। प्रभु का मुझमें निवास हुआ तो मेरे अन्दर ही ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। ३. उस समय मेरी **आशाः**=आशा व इच्छा भी **देवानाम्**=देवों की हो जाती है। देवों की कामनाएँ अध्यात्मता का पुट लिये होती हैं। ४. **उप**=उस प्रभु के समीप रहकर मैं **वीतपृष्ठः**=कान्तपृष्ठवाला बनता हूँ। मेरी पीठ पाप के बोझों से नहीं लद जाती। मेरी पीठ पर पाप का कलंक नहीं होता। ५. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग तथा **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **एनम्**=इस समीप प्राप्त प्रभु के **अनुमदन्ति**=आनन्द से आनन्दित होते है, अर्थात् प्रभु को प्राप्त करके वे उस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं, जो अनुपम है। ६. **देवानाम् पुष्टे**=दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम उस प्रभु को **सुबन्धुम्**=उत्तम बन्धु **चकृम**=करते हैं। प्रभु के साथ बना हुआ हमारा बन्धुत्व हममें दिव्य गुणों के निरन्तर विकास का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं तो हमारे अन्तःज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। हम एक अनुपम आनन्द अनुभव करते हैं, प्रभु का यह उपासन हमारी दैवी प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बन्धन व दिव्यता

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳसर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३१॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम प्रभु को अपना सुबन्धु बनाते हैं'। 'उन्हीं दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए क्या-क्या करना' इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **यत्**=जो **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष का **दाम**=ग्रीवा का बन्धनभूत रज्जु है, अर्थात् ग्रीवा का बन्धन है, कण्ठ को संयत करना है—इस प्रकार कण्ठ का संयम हो कि कोई भी अशिष्ट व अनावश्यक शब्द मुख से न निकले। २. जो **अर्वतः**=सब बुराइयों को संहार करनेवाले का **सन्दानम्**=पाद-बन्धन है। 'पाँव' गति के साधन हैं। पादबन्धन का अभिप्राय पाँव को संयत करना, चाल को नपा-तुला बनाना

है। यह बुराइयों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति व्यर्थ की चेष्टाओं को नहीं होने देता। इसकी चाल-ढाल संयत होती है। ३. **या**=जो **अस्य**=इस शक्तिशाली व बुराइयों के संहार करनेवाले की **शीर्षण्या रज्जुः**=सिर-स्थानीय रज्जु है। सिर की बन्धनभूत रज्जु का अभिप्राय ज्ञानेन्द्रियों के संयम से है। इसकी कोई भी ज्ञानेन्द्रिय अवाच्छनीय व्यवहार नहीं करती, यह अपने मस्तिष्क में कोई अवाच्छनीय विचार नहीं आने देता। ४. अथवा **अस्य**=इसकी जो **रशना**=कटिप्रदेश की रज्जु है। यह रज्जु उदर के संयम का संकेत कर रही है। उदर के संयम के साथ ही वह उपस्थ के संयम का भी द्योतक है। ५. इन सब 'ग्रीवा, पाद, सिर व कटि' के बन्धनों के साथ यह जो **वा घ**=निश्चय से **अस्य आस्ये**= इसके मुख में **तृणम्**=तृण अर्थात् वानस्पतिक भोजन ही **प्रभृतम्**=डाला गया है। यह कभी भी मांस भोजन को नहीं अपनाता। ६. इस प्रकार इन बातों का उल्लेख करके कहते हैं कि **ते**=तेरी **सर्वा ता**=सब बातें **देवेषु अस्तु**=(सन्तु म०) देवोपयोगी हों, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली हों। तेरा जीवन इन बातों के कारण अधिकाधिक दिव्य बनता जाए।

भावार्थ—इस मन्त्र में दिव्य गुणों के लिए पाँच बातें कही गई हैं १. शक्तिशाली बनकर ग्रीवा को संयत रखना, कोई अवाच्छनीय शब्द न बोलना, बोलचाल का नपा-तुला होना। २. बुराई के संहार के उद्देश्य से पाँव को बन्धन में रखना। चाल-ढाल को संयत रखना, व्यर्थ क्रिया नहीं करना। ३. शिरः बन्धन को अपनाना, सब ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं व विचारों का संयम करना। ४. कटिबन्धन, अर्थात् उदर व उपस्थ को संयत करने का प्रयत्न। ५. उन्हीं भोजनों को करना जिनका प्रतीक तृण है, मांस-भोजन से बचना।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्म में लगे रहना

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३२॥

१. **यत्**=जो **अश्वस्य**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले का तथा **क्रविषः**=(कृवि हिंसा-करणयोश्च) निरन्तर क्रिया के द्वारा बुराई का संहार करनेवाले का **मक्षिका**=(मक्षति= accumulate, to collect) जीविकार्थ धनोपार्जन **आश**=समय को खा लेता है, इसका बहुत-सा समय धनोपार्जन में ही व्यतीत हो जाता है। **यद्वा**=और जो **स्वरौ**=(स्वृ शब्दे) शब्दरूप वाङ्मय, अर्थात् ज्ञान में **रिप्तम्**=(लिप्तं) इसे लगाव है तथा **स्वधितौ**=सबके आत्मतत्त्व के धारण में इसे लगाव है। २. **यत्**=जो **हस्तयोः**=(कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ) हाथों में इसे लगाव है, अर्थात् हाथों से कोई-न-कोई कार्य करता ही रहता है, अपने मुख्य कार्य के बाद आमोद-प्रमोद के रूप में किसी-न-किसी व्यासंग (Hobby) को अपनाये रखता है और इस प्रकार पूर्णतः सब दोषों को शान्त करनेवाले इस व्यक्ति का **यत्**=जो **न**=नहीं **खेषु**=छिद्रों में, दोषों में लगाव है, अर्थात् यह जो सब व्यसनों से ऊपर उठा रहना है, ३. **ते**=तेरी **सर्वा ता**=ये सब बातें **अपि**=भी **देवेष्वस्तु**=(सन्तु) देवोपयोगी हों, दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनें।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए निम्न बातें कही गई हैं—१. सद्गृहस्थ सर्वप्रथम तो गृहस्थ के सञ्चालन के लिए धनोपार्जन के कार्य में लगे। धनोपार्जन मक्षिक के रसग्रहण की भाँति करना है। लाटरी से एक ही रात में धनी बनने का स्वप्न नहीं लेना। २. धनोपार्जन से वाङ्मय की उपासना करनी है। ३. मस्तिष्क के

थकने पर आत्मचिन्तन द्वारा हृदय में आत्मतत्त्व के स्थापन का प्रयत्न करना है ४. आमोद-प्रामोद के लिए हाथ के किसी व्यासंग को अपनाना है। ५. शान्त स्वभाववाला बनकर प्रयत्न करना है कि व्यसनों की ओर झुकाव न हो जाए (न+ख)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मेध का शृतपाकपचन

यदूवध्यमुदरस्यापवाति यऽआमस्य क्रविषो गन्धोऽअस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधꣳशृतपाकं पचन्तु॥३३॥

१. गत दो मन्त्रों में दिव्य गुणों के विकास का उल्लेख हुआ है। उसके लिए स्वास्थ्य के ठीक होने का महत्त्व सुव्यक्त है। स्वास्थ्य का निर्भर तृण भोजन पर है। मानस स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता की आवश्यकता है और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता के साथ परिपाक के ठीक से होने की भी आवश्यकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **यत्**=जो **ऊवध्यम्**=(भक्षितमपक्वमामाशयस्थम्।—म०) खाया हुआ अन्न ठीक से पचता नहीं वह **उदरस्य अपवाति**=पेट में दुर्गन्ध का कारण बनता है (गन्धयते—उ०) या वमन आदि द्वारा निकल जाता है (अपगच्छति—म०) इस प्रकार वातिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ३. भोजन में **यः**=जो **आमस्य**=कच्चेपन का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है और परिणामतः इसके पूर्ण परिपाक न होने से कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं ४. अथवा भोजन में जो **क्रविषः**=(कृवि हिंसायाम्) पैत्तिक विकार के द्वारा हिंसा करने के दोष का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है ४. **तत्**=उस दोष को **शमितारः**=सब दोषों को दूर करके शक्ति देनेवाले **सुकृता**=सुसंस्कृत **कृण्वन्तु**=कर दें, अर्थात् उस दोष को पूर्ण तथा दूर कर दें। **उत**=और **मेधम्**=पवित्र सात्त्विक वस्तु को **शृतपाकम् पचन्तु**=ठीक परिपाक-वाला बनाएँ। उसे अतिपक्व व ईषत् पक्व न कर दें। ईषत् पक्व कफविकारों का कारण बनता है और अतिपक्व पित्तविकारों का कारण बनता है। पेट में जाकर ठीक पाचन न होने पर वातिक विकार कष्ट देते हैं, अतः भोजन सात्त्विक भी होना चाहिए और उसका उचित पाक भी आवश्यक है। यह उचित पाक ही यहाँ 'शृतपाक' कहा गया है।

भावार्थ—हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें और उन सात्त्विक पदार्थों का सदा उचित परिपाक करके ही सेवन करें। फलों का भी कच्चे व गलेरूप में कभी सेवन न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों के लिए

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम सात्त्विक भोजन का 'शृतपाक पचन'—उचित पचन= करके सेवन करते हैं तब आमाशय में पहुँचकर 'वैश्वानर अग्नि' से उसका परिपाक होता है, उससे रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य की उत्पत्ति होती है। प्रभु से शरीर में यह वीर्य इसलिए स्थापित किया गया है कि यह सब रोगों को कम्पित करके दूर किये रक्खे, परन्तु मनुष्य अज्ञानवश इस वीर्य के महत्त्व को ठीक से नहीं आँकता और उसको अधिक सन्तानोत्पत्ति में व व्यर्थ के भोगविलास में व्यय कर देता है। चाहिए यह कि हम इसकी रक्षा करें, सुरक्षित होकर यह हममें दिव्य गुणों के विकास का कारण बनेगा, अतः मन्त्र में कहते हैं

कि १. **अग्निना पच्यमानात्**=शरीर के अन्दर वैश्वानर अग्नि से पकाये जाते हुए भोजन से उत्पन्न रुधिरादि धातुओं से **शूलं अभि**=रोगों का लक्ष्य करके, अर्थात् रोगों को दूर करने के उद्देश्य से **निहतस्य**=(हन्=गति) निश्चय से प्राप्त कराये गये इस वीर्य का **यत्**=जो अंश **ते गात्रात्**=तेरे शरीर से **अवधावति**=दूर जाता है **तत्** =वह **भूम्याम्**=बीज के वपन की आधारभूत स्त्री में **मा**=मत **आश्रिषत्**=आलिंगन करे **तृणेषु**=तृणतुल्य तुच्छ विषयभोगों में तो वह न ही व्ययित हो, अर्थात् एक या अधिक-से-अधिक तीन सन्तानों के बाद वह सन्तानोत्पत्ति में भी व्ययित न हो—भोगविलास में उसके व्यय का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उससे बढ़कर मूर्खता क्या हो सकती है? २. **तत्**=वह अधिक सन्तान व भोगविलास में न व्ययित हुआ-हुआ वीर्य **उशद्भ्यः**=(Shine) चमकते हुए **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **रातम्**=दिया हुआ **अस्तु**=हो। इस वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि इसे हम शरीर में सुरक्षित रक्खें। यह सुरक्षित वीर्य जहाँ शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा (शूल) को न होने देगा वहाँ यह हमारे मनों में दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनेगा। इस वीर्य के कारण हमारा यह पृथिवीरूप शरीर दृढ़ बनेगा, मस्तिष्क में ज्ञानज्योति जगेगी तथा हमारे मानस में दीप्त दिव्य गुणों का निवास होगा।

भावार्थ—भोजन के परिपाक से उत्पन्न वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि हम उसे शरीर में सुरक्षित रक्खें, जिससे शरीर में रोग उत्पन्न न हों और हमारे मनों में दिव्य गुणों का विकास हो, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आचार्य-कर्त्तव्य

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं यऽईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो माꣳसभिक्षामुपासतऽउतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥३५॥

१. गतमन्त्र में वीर्यरक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन है। आचार्य गुरुकुलों में विद्यार्थी के वातावरण को सुन्दर बनाकर उसे वीर्यरक्षा के योग्य बनाते हैं। इसी वीर्यरक्षण के द्वारा वे उसके शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को परिपक्व ज्ञानवाला बनाते हैं। इसी के द्वारा वे उसके जीवन को दिव्य गुणों की सुगन्धि से परिपूर्ण करते हैं और उसके बाद उसे यही आदेश देते हैं कि तू इस ज्ञान को निश्चय से दूर-दूर तक फैलानेवाला बन। आचार्य कहते हैं कि काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले तुझसे हम तेरे जीवन की ही भिक्षा माँगते हैं 'तू अपने मांस को इस लोक के कल्याण के लिए दे डाल'। मन्त्र में कहते हैं कि २. **ये**=जो आचार्य विद्यार्थी को **वाजिनम्**=शक्तिशाली व सुदृढ़ शरीरवाला तथा **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञानवाला, परिपक्व बुद्धिवाला **परिपश्यन्ति**=देखते हैं तथा ३. **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **आहुः**=कहते हैं कि तू **सुरभिः**=(क) स्वास्थ्य के कारण चमकते हुए (Shining, Handsome) सुन्दर शरीरवाला है (ख) दीप्त ज्ञानाग्नि के कारण उत्तम बुद्धिमान् (Wise, Learned) हुआ है (ग) मन में उत्तम गुणोंवाला (Good, Virtuous) बना है। ऐसा तू **निर्हरः इति**='निश्चय से ज्ञान को दूर-दूर तक ले-जानेवाला बन' हम तो बस यही चाहते हैं। ४. **ये च**=और जो आचार्य **चार्वतः**=काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला विद्यार्थी से **मांसभिक्षाम्**=उसके मांस (जीवन) की भिक्षा **उपासते**=माँग लेते हैं, अर्थात् जो उसे यह कहते हैं कि तू लोकहित के लिए अपना जीवन दे डाल, **तेषाम्**=उन, अपने लिए कुछ भी न चाहनेवाले आचार्यों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **उत**=निश्यच से **नः इन्वतु**=हमें प्राप्त करे,

अर्थात् हम भी इन्हीं आचार्यों में से एक बनें और विद्यार्थी को सुन्दर जीवनवाला व परिपक्व ज्ञानवाला बनाकर उससे लोकहित करने की गुरुदक्षिणा लें।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि (क) विद्यार्थी को दृढ़ शरीरवाला बनाये (वाजिनम्) (ख) उसके ज्ञान को परिपक्व करे (पक्वम्), (ग) उसको सुरभि बनाये—सुन्दर शरीरवाला, बुद्धिमान् व दिव्य गुणसम्पन्न करे। (घ) उसे इस ज्ञान को दूर-दूर तक फैलाने का निर्देश करे (निर्हरः इति), (ङ) लोकहित के लिए जीवन को खपा देने की प्रेरणा करे इसी को अपनी गुरुदक्षिणा समझे (मांसभिक्षामुपासते)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मांस्पचनी उखा

यन्नीक्ष॑णं माँस्पच॑न्याऽउखाया॒ या पात्रा॑णि यूष्णऽआ॒सेच॑नानि।
ऊ॒ष्म॒ण्या॒पि॒धाना॑ च॒रू॒णाम॒ङ्काः सू॒नाः परि॑ भूष॒न्त्यश्व॑म्॥ ३६॥

१. इस शरीर को प्रस्तुत मन्त्र में 'मांस्पचनी उखा' यह नाम दिया गया है। उखा देगची को कहते हैं, जिसमें व्यञ्जनों का परिपाक होता है। इस शरीर में भी खाये हुए आहार का वैश्वानर अग्नि के द्वारा परिपाक होता है और उस परिपाक में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा व वीर्य' इन धातुओं का निर्माण होता है। यहाँ 'मांस' बाकी सब धातुओं का उपलक्षण है। **मांस्पचन्याः उखायाः**=मांसादि धातुओं का जिसमें निरन्तर पाक द्वारा निर्माण हो रहा है, इस देगची का **यत्**=जो यह **नीक्षणम्**=(नितराम् ईक्षणम्) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरन्तर उस-उस विषय का दर्शन है, यह **अश्वम्**=निरन्तर इन क्रियाओं में व्याप्त जीव को **परिभू**=अलंकृत करता है। कभी इन ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया का विचार करें तो उसमें अद्भुत सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। किस प्रकार ये दो आँखें एक ही वस्तु का ग्रहण करती हैं, दो कान एक ही शब्द सुनते हैं? यह सब सोचने पर बड़ा अद्भुत लगता है। २. इससे भी अद्भुत शरीर में ग्रन्थियों (Glands) का कार्य है। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'पात्र' कहा है। ये सचमुच शरीर का 'पा-रक्षणे' रक्षण करनेवाली हैं। **याः**=जो **पात्राणि**=ग्रन्थियाँ **यूष्णः**=रस का **आसेचनानि**=शरीर में सर्वत्र सेचन करनेवाली हैं। इन ग्रन्थियों से विविध रस निकलकर शरीर में रक्षात्मक कार्यों को कर रहे हैं। इस प्रकार ये रसों के आसिचन **अश्वम्**=इस क्रिया में व्याप्त पुरुष को **परिभूषयन्ति**=अलंकृत कर रहे हैं। ३. यह त्वचा भी एक अद्भुत वस्तु है। यह **अपिधानः**=सारे शरीर को ढकनेवाली तो है ही और इस प्रकार **ऊष्मण्याः**=(ऊष्मशब्दस्य धारणार्थे—उ० ऊष्माणं धारयन्ति—म०) शरीर में यह गर्मी का धारण करनेवाली है। देगची पर ढक्कन भी यही कार्य करता है कि 'अन्दर की गर्मी को अन्दर ही रखता है और नष्ट नहीं होने देता। इसी प्रकार यह त्वचा इस 'मांस्पचनी उखा' का ढक्कन है। इस ढक्कन की यह विशेषता है कि यह अन्दर की अधिक गर्मी को पसीने आदि के रूप में बाहर कर देता है और उसी पसीने आदि के वाष्पीयन में ही बाहर की गर्मी व्ययित हो जाती है, शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाती। एवं, यह त्वचा एक अद्भुत अपिधान है जो इस शरीर में प्रविष्ट जीवात्मा को (अश्वं) **परिभूषति**=अलंकृत करता है। ४. इस शरीर में इन्द्रियाँ घोड़ों से उपमित होती हैं और उस समय जिन विषयों का ये ग्रहण करती हैं वे 'चरु' कहलाते हैं। **'विषयाँस्तेषु गोचारान्'**। इन्द्रियाँ जो इनका ग्रहण करती हैं, तो जो संस्कार अन्दर मानस पटल पर या मस्तिष्क में पड़ते हैं वे वहाँ **'अङ्कः'**=चिह्न कहलाते हैं। इंग्लिश में ये ही Impressions

हैं। इन अङ्कों के बाद ही प्रेरणाओं का समय आता है। ये प्रेरणाएँ ही **सूनाः**='षू प्रेरणे' कही गई हैं। वस्तुतः ये **चरूणाम्**=विषयों के **अंकाः**=आगम व **सूनाः**=प्रयोग-प्रेरण भी अद्भुत हैं। ये इस अश्व को अलंकृत कर रहे हैं।

भावार्थ—यह शरीर परिपाक द्वारा मांसादि धातुओं का निर्माण करनेवाली उखा (देगची) है। इसमें १. ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया २. ग्रन्थियों से रसों का आसेचन ३. गर्मी को सुरक्षित करनेवाली ढक्कन के समान यह त्वचा ४. विषयों का ग्रहण व प्रवचन—ये सब बातें बड़ी ही अद्भुत हैं। ये इस उखा में रहकर कार्यव्याप्त जीव के मानो भूषण हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'काम' से ऊपर

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥३७॥

१. **त्वा**=तुझे **धूमगन्धिः**=अज्ञान की गन्धवाली अथवा 'धूञ् कम्पने' कम्पन की कारणभूत **अग्निः**=कामाग्नि **मा**=मत **ध्वनयीत्**=रणरणक को देनेवाली हो, शब्दयुक्त न करे। यह कामाग्नि संयोग में शृंगार-प्रधान शब्दों का उच्चारण कराती है और वियोग में प्रलम्भ शृंगार के विरह-ताप के सूचक शब्दों का। कामसन्तप्त कुछ गाता है, चाहे कितना ही असम्बद्ध-सा हो। इस काम में ज्ञानाग्नि बुझ-सी जाती है, धूआँ हो जाता है, अतः इसे 'धूमगन्धि' कहा है। जीवों में इस काम में ज्ञानाग्नि के इस प्रकार आवृत होने का उल्लेख है जैसे 'धूमेनाव्रियते वह्नि' धूम से अग्नि आवृत होती है। २. इस कामाग्नि के दीप्त होने पर यह गत मन्त्र में वर्णित **उखा**=मांसादि धातुओं का परिपाक करनेवाली शरीररूप उखा, जो अभी तक स्वास्थ्य की दीप्ति से **भ्राजन्ति**=चमकती थी **जघ्रिः**=(ग्रह उपादाने) जो सब उत्तम शक्तियों का ग्रहण किये हुए थी, वह **अभिविक्त**=(भयचलनयोः) वह कम्पित हो उठती है। वेद कहता है कि ये तेरी सुन्दर गात्रयष्टि **न अभिविक्त**=मत काँप उठे। न तू कामाग्नि का शिकार हो और न ही तेरी यह गात्रयष्टि काँप उठे। ३. इसके लिए तूने यह ध्यान करना है कि **इष्टम्**=(इष्टं अस्य अस्ति इति, तं) यज्ञादि करनेवाले को, वीतं (वी गतिर्जनन०) गति के द्वारा सब शक्तियों का विकास करनेवाले को, **अभिगूर्त्तम्**=सदा उत्तम कर्मों में उद्योगशील को, **वषट्कृतम्**=नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले को, **तं अश्वम्**=उस सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष को **देवासः**=दिव्य गुण **प्रतिगृभ्णन्ति**=स्वीकार करते हैं, अर्थात् इस प्रकार इष्टादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ आलस्यशून्य व्यक्ति कभी कामाग्नि का शिकार नहीं होता। यह अपनी ज्ञानाग्नि को सदा दीप्त रख पाता है। इसकी यह शरीररूप उखा तेजस्विता से चमकती रहती है।

भावार्थ—कामाग्नि का शिकार न होने पर ज्ञान दीप्त रहता है, शरीर तेजस्वी बना रहता है। कामाग्नि से बचने का उपाय यही है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

घास-भोजन (अमांस भोजन)

निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के विषय को ही प्रस्तुत करते हुए कहते हैं **ते**=तेरी **ता सर्वा**=वे सब बातें **अपि**=भी **देवेषु**=देवोपयोगी **अस्तु**=हों, अर्थात् निम्न बातें तुझमें दिव्य गुणों के विकास के लिए सहायक हों। क्या-क्या बातें?—२. **निक्रमणम्**=घर से बाहर आना-जाना। (निष्क्रमणस्थानम्—उ०) घर से बाहर तू आवश्यक कार्यों के लिए आने-जानेवाला हो। तू व्यर्थ में न घूमता फिरे। ४. **निषदनम्**=तेरा उठना-बैठना देवोपयोगी हो। हीनपुरुषों के साथ उठना-बैठना होने पर तू अपनी हीनता को ही सिद्ध कर लेगा। बुरों के साथ संग स्वयं एक बड़ा पाप है, क्योंकि यह मनुष्य को उस-उस पाप में फँसाने का कारण हो जाता है। ५. **विवर्त्तनम्**=तेरी विविध चेष्टाएँ भी देवोपयोगी हों। हमारी छोटी-छोटी चेष्टाएँ हमारे स्वभाव-निर्माण में भाग लेती हैं। हँसी व प्यार में बोला हुआ अपशब्द भी हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। ५. **अर्वतः**=बुराई का संहार करनेवाले **यच्च**=और जो (क) **पड्वीशम्**=(पादबन्धन) तेरा गति का नियमन है, संयत गति है, यह तेरे दैवी स्वभाव का निर्माण करनेवाली हो। (ख) 'पड्वीशं' शब्द का अर्थ उव्वट ने 'पादेषु विशति' इन शब्दों में किया है, पाँवों में स्थित होता है, अर्थात् नम्र बना रहता है। वस्तुतः यह नम्रता सब दिव्य गुणों की जननी है। ६. इन बातों के अतिरिक्त **यच्च पपौ**=जो जल पीता है और **घासिम्**=घास को, अर्थात् वानस्पतिक भोजन को **जघास**=खाता है। ये तेरा सादा खाना-पीना तेरे उच्च जीवन का कारण बने। मांसभोजन मनुष्य को कभी उच्चता की ओर नहीं ले-जाता। इससे कुछ-न-कुछ क्रूरता व स्वार्थ की वृत्ति को बढ़ावा मिलता है। अन्य साधनों की उपस्थिति में यदि एक मांसाहारी ऊँचे जीवन का प्रतीक होता है तो मांसाहार को छोड़ने पर वह और ऊँचा उठ जाएगा। मांस-भोजन देवों का नहीं, असुरों का है।

भावार्थ—हमारा घर से बाहर आना-जाना, उठना-बैठना, हमारी विविध चेष्टाएँ, गति का नियमन व नम्रता तथा सादा खान-पान—इन सबसे हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

दैवी सम्पत्ति के साधन

यदश्वाय वासऽउपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
सन्दानमर्वन्तं पड्वीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति॥३९॥

१. जो **प्रिया**=प्रिय वस्तुएँ तुझे **देवेषु**=दिव्य गुणों में **आयामयन्ति**=(आगमयन्ति) प्राप्त कराती हैं, अर्थात् इन बातों के कारण तेरे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। २. कौन-सी प्रिय वस्तुएँ?—(क) **यत्**=जो **अश्वाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **वासः**=प्रकृति-विज्ञान की गन्ध को **उपस्तृणन्ति**=आच्छादित करती हैं, फैलाती हैं (to spread, to expand), (ख) इस प्रकृति-विज्ञान की गन्ध के साथ **अधीवासम्**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म-विद्या की गन्ध को भी इसके लिए प्राप्त कराती हैं। प्रकृति-विज्ञान को 'वास' कहा गया है तो ब्रह्मविज्ञान को 'अधीवास' नाम दिया गया है। प्रकृति विज्ञान की गन्ध जीवन को सुन्दरता से बिताने के लिए आवश्यक है तो आत्मज्ञान की उत्कृष्ट गन्ध (अधीवास) संसार के प्रलोभनों में न उलझने के लिए आवश्यक है। (ग) **या**=जो **अस्मै**=कर्मठ विद्यार्थी के लिए **हिरण्यानि**='हितरमणीयानि' हितरमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' आदि दिव्य गुणों को जो ज्ञान के ही परिणाम हैं, इसके हृदय में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। 'वास व अधीवास' ने मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाया था तो ये हिरण्य उसके हृदय को रमणीय बनाते हैं। (घ)

अर्वन्तम्=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **सन्दानम्**=उदर व कटि के बन्धन को इसे प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः भोजन का संयम व ब्रह्मचर्य का नियम हो जाने पर जीवन में बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं, इसीलिए 'संदानं' का यहाँ 'अर्वन्तं' ऐसा विशेषण दिया है। (ङ) **पड्वीशम्**=सन्दान के साथ इसे वे पादबन्धन भी प्राप्त कराते हैं, अर्थात् (पद् गतौ) इसकी गति व चाल-ढाल को बड़ा नियमित करते हैं। इस चाल-ढाल को नियमित करना ही 'अनुशासन 'discipline' में रखना कहलाता है। ये सब बातें इस विद्यार्थी में दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ३. मन्त्रार्थ में 'अश्व' शब्द यह सुस्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि आचार्य अकर्मण्य व आलसी विद्यार्थी का निर्माण नहीं कर सकते। विद्यार्थी में दिव्य गुणों के विकास के लिए उसे प्रकृति-विज्ञान व आत्मज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक है। अज्ञान को दूर किये बिना किसी भी प्रकार का निर्माण सम्भव नहीं होता। विद्यार्थी के हृदय में हितरमणीय बातों के प्रति रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। उसको **संदान**=उदरबन्धन-भोजन के संयम का महत्त्व समझाना आवश्यक है। इसी के साथ चाल-ढाल का मपा-तुला होना भी जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—आचार्य कर्मठ विद्यार्थी को 'प्रकृति-विज्ञान, आत्मज्ञान, हितरमणीय बातों के प्रति रुचि, भोजन का संयम व गति का नियमन' इन बातों को प्राप्त कराके दैवी सम्पत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सामृत पाणि से दिया गया 'दण्ड'

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद।
स्रुचेव ता हविषोऽअध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से अनुशिष्ट होकर इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। आचार्य ने अपनी **महसा**=तेजस्विता से विद्यार्थी को यथासम्भव शीघ्र ही शिक्षित करने का प्रयत्न किया है (शूकृतस्य शीघ्रं शिक्षितस्य-द०) इस कार्य में उसे कभी-कभी विद्यार्थी को दण्ड भी देना पड़ता है। यह दण्ड हाथ-पाँव के प्रहार से भी हो सकता है (पार्ष्ण्या=Neel एड़ी से भी) या वाणी के द्वारा झिड़कने से भी (कशया-'कश शासने')। आचार्य कहता है कि इन दण्डों को तुमने ऐसा समझना जैसे **स्रुचा**=चम्मच से यज्ञों में **हविषः**=घी डालना हो। आचार्य उन सब दण्डों को ज्ञान से प्रतितुलित कर देता है, अर्थात् ज्ञान देकर दण्ड के कष्ट को विस्मारित कर देता है। २. आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि हे **सादे**=शरीररूप रथ के उत्तम सञ्चालक शिष्य **महसा**=तेजस्विता से **शूकृतस्य**=शीघ्र शिक्षित किये हुए **ते**=तुझे **यत्**=जो **पार्ष्ण्या**=ऐड़ी से **वा**=अथवा **कशया**=(कशा वाङ्नाम-निघण्टौ) वाणी से झिड़कने के द्वारा **तुतोद**=मैंने कभी-कभी पीड़ित किया है, तूने यह स्पष्टरूप से समझ लेना कि **ता**=वे सब दण्ड तो इस प्रकार के हैं **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच से **हविषः**=हवि का **अध्वरेषु**=यज्ञों में प्रक्षपेण होता है। इन दण्डों के द्वारा तेरी वृत्ति को मैंने इधर-उधर से हटाकर ज्ञानप्रवण करने का प्रयत्न किया है। ३. इस प्रकार **ते**=तेरी **ता**=इन सब दण्ड-पीड़ाओं को मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञानादि के द्वारा **सूदयामि**=भ्रष्ट करता हूँ। तुझे इस प्रकार कड़े नियन्त्रण में रहने से प्राप्त हुआ ज्ञान सब पीड़ाओं को भुलानेवाला होता है। आचार्य दयानन्द ने 'सूदयामि' का अर्थ 'प्रापयामि' किया है। तब इस मन्त्रखण्ड का अर्थ यह होगा कि मैं **ता**=उन सब दण्डों को **ते**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से ही

सूदयामि=प्राप्त कराता हूँ। उन सब दण्डों का उद्देश्य एक ही होता है कि तू किसी प्रकार अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला बने। एवं, स्पष्ट है कि आचार्य अमृतयुक्त हाथों से दण्ड देते हैं, न कि विषसिक्त हाथों से।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को जो दण्ड देते हैं वह यज्ञ में स्रुवा से हवि के प्रक्षेपण के समान है। उसके द्वारा आचार्य विद्यार्थी के जीवन-यज्ञ में ज्ञान की आहुति देने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुस्त्रिँशत् वङ्क्री

चतुस्त्रिꣳशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त॥४१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य से ठीक अनुशासन में चलाया हुआ विद्यार्थी जब 'स्वधिति' अपना धारण करनेवाला बनता है, अर्थात् इधर-उधर भटकता नहीं, अपने मन को एकाग्र करने में समर्थ होता है तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवबन्धोः**=दिव्य गुणों को अपने में बाँधनेवाले तथा उस **देव**=प्रभु के बन्धुभूत आचार्य के जो **अश्वस्य**=निरन्तर क्रिया में लगे रहते हैं और इस क्रियाशीलता के कारण जो 'वाजी व देवबन्धु' बने हैं, उनके **चतुस्त्रिंशत् वङ्क्रीः**=चौंतिस गूढ़ ज्ञानों (Knowledge) को **समेति**=प्राप्त होता है। वक् धातु गति वाचक है, 'गति' का प्रथम अर्थ ज्ञान है। ३३ देवों का ज्ञान यदि 'अपराविद्या' है तो ३४वें प्रभु (महादेव) का ज्ञान ही 'पराविद्या' है। मन्त्र संख्या ३९ में इन्हें ही 'वासः तथा अधिवासः' शब्द से स्मरण किया था। विद्यार्थी ज्ञान तभी प्राप्त कर पाता है जब वह एकाग्रवृत्ति का हो, 'स्वधिति' बने। आचार्य वही आदर्श है जो 'वाजी-देवबन्धु व अश्व' है। ज्ञेय वस्तुएँ ३३ देव ३४वें महादेव हैं। इनका ज्ञान ही क्रमशः अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक होता है। ३३ देवों का ज्ञान हमें शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाता है तो ३४वें महादेव का ज्ञान हमें आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करता है। ३. यह आचार्य **वयुना**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **गात्रा**=विद्यार्थी के सब अंगों को **अच्छिद्रा**=दोषरहित **कृणोतु**=करे। ३. वेद कहता है—हे विद्यार्थियो! तुम भी आचार्य से दिये हुए ज्ञान का **अनुघुष्य**=आचार्य के पश्चात् उच्चारण करके, अर्थात् आचार्य से उच्चारित ज्ञान को अनुघोषण द्वारा आत्मसात् करके **वि परुः परुः**=एक-एक पर्व के, जोड़ के दोष का **विशस्त**=छेदन करो (छिन्त-द०) और इस प्रकार अपने सारे क्षेत्रों को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करो। आचार्य की तुम्हें निर्दोष बनाने की यह साधना तुम्हारी अनुकूलता से ही सफल हो सकती है। विद्यार्थी की बनने की वृत्ति न हो तो आचार्य उसे कुछ बना नहीं सकते।

भावार्थ—१. एकाग्रता से विद्यार्थी आचार्य से दिये गये ३३ देवों व ३४वें महादेव के ज्ञान को प्राप्त करता है। २. ज्ञानपूर्वक कर्मों से आचार्य विद्यार्थी को निर्दोष बनाता है ३. विद्यार्थी को चाहिए कि आचार्य के इस पावनकार्य में अपनी अनुकूलता पैदा करे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

त्वष्टा-अश्व

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथऽऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥४२॥

१. गतमन्त्र के प्रकरण को ही चलाते हुए कहते हैं कि **एकः**=जीवन-निर्माण के कार्य में मुख्य भाग लेनेवाला (एके मुख्यान्यकेवलाः) आचार्य **त्वष्टुः**=(त्विष दीप्तौ) बुद्धि के दृष्टिकोण से सूर्य के समान (त्वष्टा-सूर्य) चमकनेवाले तथा **अश्वस्य**=शरीर में घोड़े के समान शक्तिवाले विद्यार्थी का **विशस्ता**=विशेषरूप से दोषों का छेदन करनेवाला होता है। २. **द्वा यन्तारा भवतः**=दो ही बातें निर्माण कार्य में नियामक होती हैं। आचार्य की सभी क्रियाएँ इन दो दृष्टिकोणों को लिये हुए होती हैं—(क) विद्यार्थी का मस्तिष्क **त्वष्टा**=सूर्य के समान देदीप्यमान बने और उसका शरीर **अश्व**=घोड़े के समान शक्तिशाली हो। ३. दो नियामक तत्त्वों के साथ **तथा**=उसी प्रकार **ऋतुः**=ऋतु भी नियामक होती है। स्पष्ट है गर्मी का कार्यक्रम वर्षाऋतु में कुछ परिवर्तित हो जाएगा और वर्षा में चलनेवाले कार्य को सर्दी में कुछ परिवर्तन करना होगा। पढ़ाई के समय में ऋतु-परिवर्तन के साथ परिपाक करना ही पड़ेगा। वास्तव में ऋतु के अनुसार की गई सब क्रियाएँ विद्यार्थी को नीरोग व निर्दोष बनानेवाली होंगी। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि—४. **या** जो मैं तेरे **गात्राणाम्**=अंगों के दोषों को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **कृणोमि**=दूर करने का प्रयत्न करता हूँ अथवा ऋतु के अनुसार अंगों के संस्कार का प्रयत्न करता हूँ तो **अग्नौ**=प्रगतिशील तुझे **ता-ता**=उन-उन **पिण्डानाम्**=बलों को (पिण्ड=might, strength, power) **प्रजुहोमि**=आहुत करता हूँ। इन्हें निर्दोष बनाने के लिए किये गये संस्कारों द्वारा तुझे प्रत्येक अंग में सशक्त करता हूँ। ५. वस्तुतः आचार्य का यज्ञ यही है कि वह विद्यारूप अग्नि में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिरूप हव्य की आहुति दे, विद्यार्थी को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी को 'त्वष्टा व अश्व' दीप्त व सबल बनाना है। इसके लिए वह ऋतुओं के अनुसार सब क्रियाओं को करता हुआ विद्यार्थीरूप अग्नि में बलों की आहुति देता है, अर्थात् उन्हें सर्वाङ्ग सबल बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन का अन्तिम दिन

मा त्वा तपत्प्रियऽआत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्वऽआ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब आचार्य विद्यार्थी का ठीक से निर्माण करता है, तब यह अपना जीवन इतना सुन्दर बिताता है कि शरीर को छोड़ते हुए इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के कारण इसे शरीर में इतनी आसक्ति नहीं होती कि वह उसे छोड़ते हुए अपनी मृत्यु समझे। आत्मतत्त्व के धारण से वह शरीर की वास्तविक स्थिति को जानता है, इस शरीर में ही पड़े रहने का उसका आग्रह नहीं होता। मन्त्र में कहते हैं कि २. **अपियन्तम्**=इस शरीर को छोड़कर जाते हुए तुझको अथवा ब्रह्म के साथ मेल करते हुए **त्वा**=तुझे प्राण **मा तपत्**=सन्तप्त न करे। तुझे प्राणों से पृथक् होने का कोई सन्ताप न हो। तू इन प्राणों से सहर्ष विदाई ले-सके। ३. **स्वधितिः**=आत्मतत्त्व का धारण, आत्मतत्त्व को समझना **ते**=तुझे **तन्वः**=शरीर का **मा आतिष्ठिपत्**=स्थापित करनेवाला न बनाये, अर्थात् शरीर के जाने से तू अपने को जाता हुआ न समझे। ४. परन्तु यह सब तभी होगा जब आचार्य ने तुझे प्रकृति-विज्ञान के साथ आत्मज्ञान को देने का प्रयत्न किया होगा, इसी प्रयत्न में उसने तुझे कभी-कभी दण्ड भी दिया होगा ('पाष्ण्या वा कशया वा तुतोद') परन्तु इसके विपरीत यदि आचार्य लोभवश हुआ और उत्तमता से दोषों को दूर

करनेवाला न हुआ तब तो तेरे जीवन के अन्तिम दिन का दृश्य इससे विपरीत होगा। तू मृत्यु से घबरा रहा होगा और तुझे देह से पृथक् होने में आत्मविनाश की प्रतीति हो रही होगी, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **गृध्नुः**=धन के विषय में लोभवाला **अविशस्ता**=उत्तम उपदेशों द्वारा दोषों का छेदन न करनेवाला, अर्थात् उत्तम उपदेश न देनेवाला कोई आचार्य **छिद्राणि अतिहाय**=दोषों को छोड़कर, अर्थात् बिना ही दोषों के **मिथू**=यों ही झूठ-मूठ **गात्राणि**=तेरे अङ्गों को **असिना कः**=तलवार से छिन्न न करे (अन्यथा मा छिदत्-म०) अर्थात् तुझे सदा वह ज्ञानादि की उन्नति के लिए उचित दण्ड देनेवाला हो। तुझसे धन लेने के लिए तुझे यूँ ही दण्डित न करे।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके हम अपने स्वरूप को समझें। जीवन के अन्तिम दिन प्राणों से वियोग हमें पीड़ित करनेवाला न हो। यह होगा तब यदि अपने ब्रह्मचर्यकाल में हमें अलोभी, उचित दण्ड व ज्ञान-प्रदान से दोषों को दूर करनेवाला आचार्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मर्त्यलोक से देवलोक में

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषतीऽअभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य॥४४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अगृध्नु तथा विशस्ता' अलोभी व दोषों से दूर करनेवाले आचार्य के मिलने पर विद्यार्थी का जीवन इतना सुन्दर बनता है कि इस शरीर के छोड़ने पर उसे अगला शरीर मिलता है तो अधिक उत्तम ही मिलता है, अतः वह मृत्यु के दिन अपने को ही इस रूप में प्रेरणा देता है कि तू **वा उ**=निश्चय से **एतत्**=यह **न म्रियसे**=मर थोड़े ही रहा है। यह शरीर से अलग होने की प्रक्रिया तेरी मृत्यु नहीं है, क्योंकि उत्तम शिक्षित होकर तू **सुगेभिः पथिभिः**=सरल मार्गों से, छल-छिद्र व कुटिलता के मार्गों से दूर रहकर चलता हुआ **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों के ज्ञान को प्राप्त होता है, अर्थात् इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर देवलोक में जन्म लेता है। २. यह देवलोक को प्राप्त होना तेरा निश्चित ही है, क्योंकि **ते**=तेरे **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक व कर्मेन्द्रिय पञ्चकरूप घोड़े **युञ्जा**=सदा योगयुक्त होने का प्रयत्न करते रहे और अतएव **पृषती**=(पृष् to sprinkle) अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन करनेवाले तथा (पृष् to give) ज्ञान का प्रसार करनेवाले **अभूताम्**=हुए और ३. यह भी इसलिए हुआ कि **रासभस्य धुरि**=(रास् शब्दे) शब्दों द्वारा ज्ञान देनेवाले अध्यापकों ने अग्रभाग में, मुख्यस्थान में **वाजी**=शक्तिशाली, त्याग की वृत्तिवाला, ज्ञानी व क्रियाशील आचार्य **उपास्थात्**=तुझे प्राप्त हुआ (**वाज**=शक्ति, त्याग, ज्ञान, क्रिया)। इस प्रकार के आचार्य के प्राप्त होने का ही यह परिणाम है कि तेरा जीवन बड़ा सुन्दर बना, तेरी इन्द्रियाँ विषयों में न भटकीं, अतः अब तुझे उत्तम देवलोक ही प्राप्त होगा। शरीर से पृथक् होने में कोई घाटे का सौदा नहीं। यह मृत्यु है ही नहीं। यह तो निचली श्रेणी से ऊपर जाने के समान है। मर्त्यलोक से देवलोक में जाना है, उन्नति है, नकि अवनति, Promotion है नाकि Demotion, अतः यह तो हर्ष का विषय है, मृत्यु सुख है नकि दुःख।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीर को छोड़ता हुआ इस प्रकार आत्मप्रेरणा देता है कि "तू मर थोड़े ही रहा है, तू ह्रास को नहीं प्राप्त हो रहा। सरल मार्ग से जीवन बिताकर तू देवलोक को प्राप्त करेगा। तेरी इन्द्रियाँ योगयुक्त तथा अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन

करनेवाली बनें और यह सब इस कारण कि तुझे शब्दज्ञान देनेवाले उपाध्यायों का अग्रणी आचार्य बड़ा ज्ञानी, त्यागी व शक्तिशाली प्राप्त हुआ। उस आचार्य की कृपा से तेरा जीवन सुन्दर बना और परिणामतः तुझे देवलोक प्राप्त होने लगा है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

इहलोक का उत्कर्ष

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुꣳसः पुत्राँ२॥ऽउत विश्वापुषꣳरयिम्।
अनागास्त्वं नोऽअदितिः कृणोतु क्षत्रं नोऽअश्वो वनताꣳहविष्मान्॥४५॥

१. गतमन्त्र में आचार्य को **वाजी**=ज्ञानी, शक्तिशाली व क्रियाशील कहा है। यह **वाजी**=ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न आचार्य जोकि **अदितिः**=हमारा खण्डन न होने देनेवाला है, वह उत्तम ज्ञान देकर **नः**=हमारी **सुगव्यम्**=(गाव ज्ञानेन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रियों की उत्तमता को, **स्वश्व्यम्**=(अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि) कर्मेन्द्रियों की उत्तमता को, **पुंसः पुत्रान्**=पुरुषार्थ साधक पुरुषों व पुत्रों को, वीरता के द्वारा अपनी पवित्रता को सिद्ध करनेवाले पुत्रों को **उत**=और **विश्वापुषम् रयिम्**=सबका पोषण करनेवाले धन को, जिस धन के द्वारा हम केवल अपना ही पोषण न करके औरों का भी पोषण करते हैं और, **अनागास्त्वम्**=(अनागस्त्वम्—म०) निष्पापता को **कृणोतु**=करे। आचार्य की कृपा से हम 'उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले, वीर पुत्रोंवाले, सबका पोषण करनेवाले धन से युक्त और अतएव निष्पाप जीवनवाले' बनें। २. **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला, **हविष्मान्**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला यह आचार्य **नः**=हमारे लिए **क्षत्रम्**=क्षत से त्राण करनेवाले बल को **वनताम्**=प्राप्त कराए (वनताम्=करोतु—उ०)। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवन बितानेवाला ही ४४वें मन्त्र के अनुसार हर्षपूर्वक शरीर को छोड़ पाता है। उसका यह जीवन तो सुन्दर बीतता ही है, उसे अगला लोक भी उत्तम प्राप्त होता है। एवं, आचार्य का दिया हुआ ज्ञान इसकी इहलौकिक व पारलौकिक उभयविध उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—आचार्य 'वाजी, अदितिः, अश्व व हविष्मान्' होता है तो वह विद्यार्थी को 'सुगव्य, स्वश्व्य, वीरतायुक्त, सर्वपोषक धन, निष्पापता व क्षत्र-बल' को प्राप्त करानेवाला बनता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**।

स्वर्ग का निर्माण

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति॥४६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम शिक्षा द्वारा उत्तम जीवनवाला बनके जब विद्यार्थी समावृत्त होकर संसार में आता है तब वह कहता है कि **नु**=अब (now) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=तथा **विश्वेदेवाः**=संसार की सभी दिव्य शक्तियाँ ऐसी कृपा करें कि हम मिलकर **इमा भुवना**=इन लोकों को, जिनमें कि हमारा निवास है, **कं सीषधाम**=सुखमय सिद्ध करें। अपने निवासस्थानभूत लोकों को हम स्वर्गतुल्य बनानेवाले हों। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर को स्वर्ग बनाये, प्रत्येक सभ्य समाज को सुन्दर बनाने का ध्यान करे। प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को स्वर्ग बनाने का निश्चय करे। २. **इन्द्रः**=सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण

करनेवाला प्रभु **सगणः**=इन सब प्राकृतिक शक्तिरूप देवगणों के साथ—**विश्वेदेवाः**'=सब देवों के साथ—विशेषकर **आदित्यैः**=वर्ष में संक्रान्तियों के कारण १२ नामोंवाले आदित्यों के साथ तथा **मरुद्भिः**=४९ प्रकार की वायु के साथ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **भेषजा**=रोगनिवारक औषधों को **करत्**=करे, अर्थात् (क) प्रभु स्मरण के द्वारा, (ख) प्राकृतिक शक्तियों के अनुकूल वर्तन से, (ग) सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहने से तथा (घ) अधिक-से-अधिक खुली वायु में विचरने से हम स्वस्थ जीवनवाले बनने का प्रयत्न करें। वस्तुतः लोक को स्वर्ग बनाने के लिए सबसे अधिक यही बात आवश्यक है। स्वर्ग-निवासी देव अजर व अमर हैं। वे जीर्णशक्ति व रोगों के शिकार नहीं होते। हम भी प्रस्तुत चारों उपायों का प्रयोग करते हुए स्वस्थ बनें और प्रार्थना करें—**इन्द्रः**=ज्ञान के प्रकाश का सूर्य प्रभु अथवा ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **अदित्यैः सह**=ज्ञान-विज्ञान का आदान करनेवाले सब विद्वानों के साथ, अर्थात् इन विद्वानों द्वारा **नः**=हमारे जीवनों में **यज्ञम् च**=यज्ञरूप उत्तम कर्मों को **तन्वं च**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के लिए तथा **प्रजां च**=प्रजा को **सीषधाति**=सिद्ध करें। प्रभुकृपा से हमें उन ज्ञानी विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो जिनके ज्ञान को सुनकर हम इस संसार में यज्ञों के करने, शक्तियों को विस्तृत करने तथा उत्तम प्रजा के निर्माण में ही लगे रहें। ऐसा होने पर क्या हमारा यह लोक सुखमय न होगा?

भावार्थ—प्रभु व प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में चलकर हम अपने लोक को स्वर्ग बनाएँ। प्रभु का उपासन, प्राकृतिक नियमों का पालन, सूर्य सम्पर्क में निवास व शुद्ध वायु के सेवन से हम स्वस्थ बनें। प्रभु के उपासन व ज्ञानी विद्वानों के संग से हममें वह ज्ञान की ज्योति जगे जिससे हमारे कर्म यज्ञात्मक हों, हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें तथा उत्तम ज्ञान का निर्माण करनेवाले बनें। अपने लोक को स्वर्ग बनाने का यही मार्ग है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

'गोतम' की प्रार्थना

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिं दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने लोक को स्वर्ग बनाने की कामनावाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अधिक-से-अधिक समीप हो **उत**=और **त्राता**=हमें रोगों व वासनाओं से रक्षित करनेवाले हो। इस प्रकार **शिवः भव**=आप हमारे लिए कल्याणकारी होते हो। **वरूथ्यः**=(वरूथ आच्छादन) आप हमारे उत्तम आच्छादन व गृह हो अथवा आप ही हमें उत्तम धन देनेवाले हो (वरूथ=wealth)। २. **वसुः**=आपकी कृपा से हमारा निवास उत्तम होता है, **अग्निः**=आप हमारी सब उन्नतियों को सिद्ध करते हैं। **वसुश्रवा**=आप ही निवास के लिए आवश्यक धन व ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **अच्छ नक्षि**=आप हमारी ओर आते हैं (नक्ष गतौ) यह कितनी सौभाग्य की बात है कि (You knock at our door) आप हमारे दरवाज़े को थपथपाते हैं और यदि हम उस ब्रह्ममुहूर्त में सोये ही नहीं रह जाते, अपितु उठकर दरवाज़ा खोलते हैं तो आप **द्युमत्तमं रयिं दाः**=हमें अत्यन्त दीप्तियुक्त धन देते हैं, अर्थात् आपकी कृपा से हमें वह धन प्राप्त होता है, जिस धन के साथ ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का निवास है। हे **शोचिष्ठ**=

हमारे हृदयों को अधिक-से-अधिक शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए अथवा **सुम्न**=Hymn स्तोत्रों के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। हम यह चाहते हैं कि हमारा जीवन सदा आपके स्तवन से युक्त हो, और साथ ही **सखिभ्यः**=समान ज्ञानवाले मित्रों के लिए पार्थना करते हैं, आपकी कृपा से हमें ज्ञानी मित्र मिलते रहे, जिससे हम इस संसार-यात्रा में कभी फिसल न जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीपतम मित्र हैं। प्रभु हमारे समीप आते हैं और यदि हम प्रभु के स्वागत के लिए उद्यत होते हैं तो ज्योतिर्मय धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनें और ज्ञानी मित्रों को प्राप्त करें।

सूचना—अपने लोक को स्वर्गलोक बनाना ही सच्चा 'अश्वमेध' है। यहाँ अश्वमेघ यज्ञ समाप्त होता है। अगला अध्याय 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य' ऋषि के मन्त्र से प्रारम्भ होता है। यह ऋषि 'दीदिवस्' प्रभु की कृपा से 'विवस्वान्'=ज्ञान की किरणोंवाला बना है और 'शोचिष्ठ' प्रभु की कृपा से सदा यज्ञों में वसानः=गति करनेवाला याज्ञवल्क्य हुआ है। यह प्रार्थना करता है—

इति पञ्चविंशोऽध्यायः॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**याज्ञवल्क्यः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पूर्ण स्वास्थ्य

अ॒ग्निश्च॑ पृ॑थि॒वी च॒ सन्न॑ते॒ ते मे॒ सं न॑मताम॒दो वा॒युश्चा॒न्तरि॑क्षं च॒ सन्न॑ते॒ ते मे॒ सं न॑मताम॒दऽआ॑दि॒त्यश्च॒ द्यौश्च॒ सन्न॑ते॒ ते मे॒ सं न॑मताम॒दऽआप॑श्च॒ वरु॑णश्च॒ सन्न॑ते॒ ते मे॒ सं न॑मताम॒दः । स॒प्त स॒ꣳसदो॑ऽअष्ट॒मी भू॒तसाध॑नी । सका॑माँ२॥ऽअध्व॑नस्कुरु सं॒ज्ञान॑मस्तु मे॒ऽमुना॑ ॥१॥

१. **अग्निश्च पृथिची च**=अग्नि और पृथिवी **सन्नते**=परस्पर आनुकूल्य से चल रहे हैं। पृथिवी अधिष्ठान है और अग्नि उसपर अधिष्ठित प्रधान देवता है, इनका कभी प्रातिकूल्य नहीं होता। ये दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है, पृथिवी शरीर है और अग्नि उस शरीर में व्याप्त होनेवाली उचित उष्णता (वैश्वानर अग्नि=पाचन का कारणभूत अग्नि) है। इनके ठीक रहने से मैं स्वस्थ हूँ। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं स्वस्थ शरीरवाला बनकर भोगप्रवण न बन जाऊँ, अपितु इस स्वस्थ शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रभु के माहात्म्य को देखनेवाला बनूँ। २. **वायुः च अन्तरिक्षम् च**=वायु और अन्तरिक्ष **संनते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। अन्तरिक्ष वायु का अधिष्ठान है। वे दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी **सन्नमताम्**=अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मानस स्वास्थ ठीक है। अन्तरिक्ष हृदय है और वायु उसमें निरन्तर सञ्चार करनेवाले प्राण है। इनके ठीक होने से मेरा मन पूर्ण स्वस्थ है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः सं नमताम्** =उस प्रभु को प्राप्त कराएँ। मैं इनकी रचना में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ३. **आदित्यः च द्यौः च**=सूर्य व द्युलोक **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। द्युलोक आदित्य का अधिष्ठान है। प्रभुकृपा से ये मेरे प्रति भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मस्तिष्क स्वस्थ है। वस्तुतः द्युलोक ही शरीर में मस्तिष्क है और उस मस्तिष्क में होनेवाली 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' ही आदित्य का प्रकाश है। इनके ठीक होने पर मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ होता है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं मस्तिष्क में तथा उस मस्तिष्क में रहनेवाले ज्ञान के प्रकाश में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ४. **आपः च वरुणः च**=जल व जलों की अधिष्ठातृ देवता वरुण **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। 'आपः' शरीर में वीर्य हैं और 'वरुण' शरीर में द्वेषादि का वारक है, द्वेषादि से दूर रहकर उत्तम व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही 'वरुण' बनना है। वीर्य के अभाव में वरुण नहीं बना जाता, निर्वीर्य पुरुष चिड़चिड़ा व झगड़ालु हो जाता है। इनकी अनुकूलता से मेरा त्रिविध स्वास्थ्य ठीक रहता है। वीर्य तथा व्रतों का बन्धन शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र व दीप्त बनाते हैं। ५. हे प्रभो **सप्त**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये सात **संसदः**=तेरे आयतन हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकृति का ज्ञान होने पर प्रकृति के कण-कण में तेरी महिमा दिखती है, मन तेरी

महिमा का अनुभव करता है और तीव्र बुद्धि से ही तेरा दर्शन होता है। इस प्रकार ये सात तेरे संसद् हैं। **अष्टमी**=आठवीं वाणी **भूतसाधनी**=सब भूतों को वश में करनेवाली होती है। इसके द्वारा हम अपने विचारों को प्रकट करके उनके मस्तिष्कों व हृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ६. हे प्रभो! आप **अध्वनः**=हमारे मार्गों को **सकामान्**=सकाम, प्राप्तकाम, अर्थात् सफल मनोरथवाला **कुरु**=कीजिए। हम जिस भी मार्ग पर चलें, वहाँ अवश्य सफल हों और इन सब मार्गों पर चलते हुए **मे**=मेरा **अमुना**=आप प्रभु से **संज्ञानम् अस्तु**=संज्ञान हो, संगमन हो। आपसे ऐकमत्यवाला होकर ही मैं उस-उस मार्ग का अनुसरण करूँ, अर्थात् मुझे अपनी सब क्रियाओं में सदा आपका स्मरण रहे।

भावार्थ—मैं शरीर, हृदय व मस्तिष्क के स्वास्थ्य को सिद्ध करूँ। वीर्यरक्षा व व्रतों का बन्धन मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाये। मैं ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि से प्रभु का साक्षात्कार करूँ, वाणी से लोगों को आकृष्ट करनेवाला बनूँ। मेरी सब क्रियाएँ सफल हों तथा प्रभुस्मरण के साथ हों।

ऋषिः—**लौगाक्षिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराडत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

ज्ञानयज्ञ से प्रभु का आराधन

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च।

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥२॥

१. गतमन्त्र का 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य'='ज्ञान की किरणोंवाला, यज्ञ में विचरनेवाला' प्रस्तुत मन्त्र में 'लौगाक्षि' बनता है, उसका दृष्टिकोण सदा लोकहितवाला होता है (लौग=लौक)। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि मेरा आपसे इस प्रकार संज्ञान हो कि **यथा**=जिसमें मैं **इमाम्**=इस **कल्याणी वाचम्**=कल्याणकर वाणी को **जनेभ्यः**=सब लोगों के हित के लिए **आवदानि**=समन्तात् व्यक्त करनेवाला बनूँ। मैं इस वेदवाणी को **ब्रह्मराजन्याभ्याम्**=ब्राह्मणों के लिए तथा क्षत्रियों के लिए **शूद्राय च अर्याय च**=शूद्रों के लिए तथा वैश्यों के लिए **स्वाय च**=अपनों के लिए तथा **चारणाय**=परायों के लिए (नास्ति रणो येन सह वाक् सम्बन्धरहितः मे शत्रुरिति वा—म०) शत्रुओं के लिए भी मैं इस वेदवाणी को उच्चरित, प्रकाशित करता हूँ। २. इस ज्ञान-प्रसार के कार्य से मैं **देवानाम्**=विद्वानों का **प्रियः भूयासम्**=प्रिय बनूँ, अर्थात् विद्वान् लोगों को मेरा यह ज्ञान-प्रसार का कार्य प्रीति देनेवाला हो और साथ ही **दक्षिणायै (दक्षिणायाः)**=दक्षिणा के **दातुः**=देनेवाले का **इह**=यहाँ **प्रियः**=प्रिय **भूयासमम्**=होऊँ। दक्षिणा देनेवाले को भी दक्षिणा देते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो। ३. **अयम् मे कामः**=यह मेरी इच्छा है कि (क) मैं ब्राह्मणादि सभी के लिए वेदज्ञान को व्यक्त करूँ। (ख) इस कार्य से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। (ग) दक्षिणा देनेवाले भी प्रसन्नता का अनुभव करें। यह मेरी इच्छा **समृध्यताम्**=समृद्ध हो, अर्थात् सफल हो। मेरे इस ज्ञानयज्ञ से आराधित हुए-हुए **अदः**=वे प्रभु **माः**=मुझे **उपनमतु**=समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् मैं अपने इस कार्य से प्रभु को आराधित करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरी इस इच्छा को पूर्ण करें कि मैं सभी के लिए वेदज्ञान को देनेवाला बनूँ। इस ज्ञानयज्ञ से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। दक्षिणा को देनेवाले दक्षिणा देने में प्रसन्नता अनुभव करें और इस ज्ञानयज्ञ से मैं प्रभु की आराधना करके प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

जितेन्द्रिय, विकसित शक्ति, बलवान्

बृह॑स्पते॒ऽअति॒ यद॒र्योऽअर्हा॑द् द्यु॒मद्वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु।
यद्दी॒दय॒च्छव॑सऽ ऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम्।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ बृह॒स्पत॑ये त्वै॒ष ते॒ योनि॒र्बृह॒स्पत॑ये त्वा॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि मैं वेदज्ञान का प्रचार करूँ। प्रचार के लिए आवश्यक है कि वह वेदज्ञान हमें प्राप्त हो। वेदज्ञान को अप्राप्त व्यक्ति ने क्या वेद का प्रचार करना? अतः मन्त्र में उस वेदज्ञान के प्रकाश के लिए प्रार्थना करते हुए 'गृत्समद' ऋषि, जो प्रभु का स्तवन करते हैं (गृणाति) और प्रसन्न रहते हैं (माद्यति), कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति प्रभो! **यत्**=जिस वेदज्ञान को **अति अर्यः**=अतिशयेन जितेन्द्रिय, अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही **अर्हात्**=(अर्हति) प्राप्त करने योग्य होता है। २. जो **द्युमत्**=ज्ञान की दीप्तिवाला तथा **क्रतुमत्**=सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाला वेदज्ञान **जनेषु**=(जनि प्रादुर्भाव) अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों में **विभाति**=विशेष-रूप से दीप्त होता है। ३. **यत्**=जो वेदज्ञान **शवसा**=बल से **दीदयत्**=चमकता है, अर्थात् जिस वेदज्ञान का प्रकाश सबल व्यक्ति में ही होता है। ४. हे **ऋतप्रजात**=(ऋतं प्रजातं यस्मात्—द०) ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभो! **तत्**=वह **चित्रम् द्रविणम्**=अद्भुत वेदज्ञानरूपी धन **अस्मासु**=हम गृत्समदों में **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपसे वेदज्ञान को प्राप्त करके ही हम उसे लोगों में प्रचारित कर पाएँगे। इस वेदज्ञान के पात्र बनने के लिए हम (क) **अर्य**=जितेन्द्रिय बनेंगे, (ख) **जन**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले बनेंगे तथा (ग) **शवस**=अपने में बल का सम्पादन करेंगे। इस वेदज्ञान के द्वारा जहाँ हम प्रकृति के सारे विज्ञान को प्राप्त करेंगे (द्युमत्), वहाँ इस वेद से हमें अपने कर्त्तव्यभूत यज्ञों का भी ज्ञान होगा (क्रतुमत्)। ५. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतो असि**=उपासना के द्वारा क्रिया में लाये हुए यम-नियमों से गृहीत होते हुए जाने जाते हो। **बृहस्पतये त्वा**=उस वेदज्ञान के पति प्रभु के लिए, अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**= उत्पत्तिस्थान है, अर्थात् इस प्रभु से ही तेरा प्रकाश हुआ है। **बृहस्पतये त्वा**=उस बड़े-बड़े लोकों के पति प्रभु के लिए तुझ वेदज्ञान को मैं ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए हम जितेन्द्रिय, शक्तियों का विकास करनेवाले व बलशाली बनें। यह वेदज्ञान प्रभु के प्रकाश के लिए भी आवश्यक है।

ऋषिः—**रम्याक्षी**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

वासना-विनाश व स्तवन

इन्द्र गोम॑न्नि॒हा या॑हि॒ पिबा॒ सोम॑ꣳशतक्रतो। वि॒द्यद्भि॒र्ग्राव॑भिः सु॒तम्।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा॒ गोम॑तऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ गोम॑ते॥४॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' प्रस्तुत मन्त्रों में 'रम्याक्षी:'=रमणीय आँखोंवाला बनता है। प्रभु का कुछ-कुछ आभास होने पर मानस आह्लाद का आँखों में बसना स्वाभाविक है। यह रम्याक्षि कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **गोमन्**=वेदवाणियोंवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **आयाहि**=आप हमें प्राप्त हों। ३. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु रम्याक्षि से कहते हैं कि हे **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवन बितानेवाले

रम्याक्षे! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। शरीर में उत्पन्न इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाला बन। यह सोम **विद्यद्भिः** (दो अवखण्डने)=विशेषरूप से वासनाओं का खण्डन करनेवालों से तथा **ग्रावभिः**=स्तोताओं (गृणन्ति इति—द०) से **सुतम्**=अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है। सोमरक्षा के लिए हम अपने अन्दर वासनाओं को उत्पन्न न होने दें और प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। ३. अब रम्याक्षि कहता है—हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद! मैं **त्वा**=तुझे **इन्द्राय गोमते**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही प्राप्त करता हूँ, जोकि वेदवाणियोंवाला है। **एषः**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। **इन्द्राय गोमते**=मैं तुझे उस सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले वेदवाणियों के पति प्रभु की प्राप्ति के लिए ही स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए वीर्य की रक्ष और सोम का पान आवश्यक है। इसके साधन हैं, वासनाओं से बचना व प्रभु का स्तवन करना। वेदज्ञान भी प्रभु-प्राप्ति के लिए ही है।

ऋषिः—**रम्याक्षी**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गोमान् ग्रावा

इन्द्रा याहि वृत्रहन् पिबा सोमꣳशतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम्।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते॥५॥

१. गतमन्त्र के ही भाव को परिवर्तित शब्दों में रम्याक्षि इस प्रकार प्रकट करता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वृत्रहन्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को विध्वस्त करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप यहाँ मेरे हृदयाकाश में आइए। २. उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञ को चलानेवाले रम्याक्षे। **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला बन। यह सोम **गोमद्भिः**=वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाले **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतम्**=उत्पादित किया जाता है। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम वेदवाणियों का सतत अध्ययन करें। ३. अब रम्याक्षि कहता है कि हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद। **त्वा**=मैं तुझे **गोमते इन्द्राय**=उस वेदवाणियोंवाले ज्ञानरूप परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु की प्राप्ति के लिए ही प्राप्त करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। मैं उस **गोमते इन्द्राय**=वेदवाणियोंवाले प्रभु के लिए ही **त्वा**=तुझे प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है, उस सोमरक्षा के लिए हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें और प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। वेदज्ञान भी प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन होता है।

ऋषिः—**प्रदुराक्षिः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

वैश्वानर प्रभु का आराधन

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥६॥

१. उल्लिखित साधनों को कार्यान्वित करता हुआ रम्याक्षि जिस दिन प्रभु का दर्शन करता है उस दिन 'प्रादुराक्षि' (प्रादुर्भूत ज्ञानवाला) बन जाता है और कहता है कि हम **ईमहे**=उस प्रभु से याचना करते हैं जो (क) **ऋतावानम्**=सत्य व यज्ञवाला है (ख)

वैश्वारनम्=(विश्वनरहितम्)=सब मनुष्यों का हित करनेवाला है, (ग) **ऋतस्य ज्योतिषस्पतिम्**=सत्य, अविनाशी ज्योति, अर्थात् तेज का पालक है—तेज का अधिष्ठान है, (घ) **अजस्रम्**=(न जरयति नश्यति) अनुपक्षीण व अहिंसित है, (ङ) **घर्मम्**=सब मलों का क्षरण करनेवाला तथा दीप्त है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। २. यह प्रादुराक्षि प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होते हो। मैं **त्वा**=तुझे वेद को **वैश्वानराय**=विश्वनरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए स्वीकार करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है, अतः मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=इस विश्वनरों का हित करनेवाले के लिए स्वीकारता हूँ—मेरा यह वेदाध्ययन प्रभु-प्राप्ति के लिए ही होता है।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का आराधन करें। वे यम-नियमों से गृहीत होते है। वेदज्ञान प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

भौतिकता का त्याग

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥७॥

१. गतमन्त्र का प्रादुराक्षि=प्रभु के दर्शनवाला व्यक्ति सारी वासनाओं का संहार करनेवाला बनता है, अतएव 'कुत्स' हो जाता है। (कुथ हिंसायाम्)। कुत्स प्रार्थना करता है कि हम **वैश्वानरस्य**=इस विश्वनरहित करनेवाले प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों, अर्थात् हम हृदयस्थ प्रभु की कल्याणी मति को सुनें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करें। २. यह वैश्वानर **राजा**=सारे संसार को दीप्त करनेवाले हैं तथा इस संसार को व्यवस्थित Regulate करनेवाले हैं। **हि**=निश्चय से सबको **कम्**=सुख देनेवाले हैं। **भुवनानाम्**=सब भुवनों के प्राणियों के **अभिश्रीः**=अभिश्रयणीय हैं, सेवनीय हैं। सब प्राणी अन्त में प्रभु का ही आश्रय ढूँढते हैं। ३. **इतः**=इस सर्वाश्रयणीय प्रभु से **जातः**=प्राप्त विकासवाला व्यक्ति **इदम् विश्वम्**=इस सारे ब्रह्मणड को **विचष्टे**=(Abandon, Leave) त्याग देता है। प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संसार में उलझता नहीं। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द की तुलना में संसार का आनन्द तुच्छ हो जाता है। ४. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला वह प्रभु **सूर्येण**=(सरति) स्वयं सरण करनेवाले पुरुषार्थी के साथ **यतते**=उसकी उन्नति के लिए उद्योग करता है, अर्थात् प्रभु हमारा हित करते हैं, परन्तु करते तभी हैं जब हम स्वयं यत्नशील हों। ५. यह कुत्स कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से गृहीत होते हो। 'कुत्स' ऋषि वेद को सम्बोधन करके कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु को वैश्वानररूप में देखें, हम स्वयं भी सब मनुष्यों का हित करनेवाले बनें। प्रभु का दर्शन करनेवाला इस संसार में भोगों में नहीं उलझता, उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है और प्रभु उसकी सहायता करते हैं। यह वेदज्ञान उसे प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषि:—**कुत्स:**। देवता—**वैश्वानर:**। छन्द:—**जगती**। स्वर:—**निषाद:**।

उक्थरूपी वाहन

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्र यातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥८॥

१. गतमन्त्र का ऋषि कुत्स ही आराधना करता है—**वैश्वानर:**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **न:**=हमारी **ऊतये**=रक्षा के लिए **परावत:**=दूर-से-दूर देश से भी **आप्रयातु**=सर्वथा आये ही। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु जब तक हमें प्रभु का ज्ञान नहीं तब तक प्रभु हमसे दूर ही हैं। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु का सामीप्य प्राप्त कराता है। २. वह **अग्नि:**=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला प्रभु **उक्थेन वाहसा**=स्तोत्ररूप वाहन से समीप प्राप्त हो। प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता प्रभु के गुणों को अपने में धारण करता है, प्रभु-जैसा बनता है और इस प्रकार प्रभु का उपासक व प्रभु के सामीप्यवाला होता है। ३. कुत्स प्रभु से कहते हैं कि हे प्रभो! आप **उपायगृहीत: असि**=उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। ४. इस प्रकार प्रभु से कहकर कुत्स वेद को सम्बोधित करता है कि मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब नरों के हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ। **एष:**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनि:**=उत्पत्तिस्थान हैं। अत: **त्वा**=तुझे मैं **वैश्वानराय**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्ररूप वाहनों पर आरुढ़ हो हमें प्राप्त होते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। उस वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए वेदज्ञान साधन बनता है।

ऋषि:—**वसिष्ठ:**। देवता—**वैश्वानर:**। छन्द:—**जगती**। स्वर:—**निषाद:**।

महान् गृह (महागय)

अग्निर्ऋषि: पवमान: पाञ्चजन्य: पुरोहित:। तमीमहे महागयम्।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे॥९॥

१. गतमन्त्र का वासनाओं का हिंसन करनेवाला 'वसिष्ठ' बनता है, अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है। यह प्रभु का आराधन इस प्रकार करता है—**अग्नि:**=यह हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला है **ऋषि:**=तत्त्वद्रष्टा है और हमपर ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है। इस ज्ञान के द्वारा **पवमान:**=हमें पवित्र करनेवाला है। **पाञ्चजन्य:**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करनेवाला है। **पुरोहित:**=यह सृष्टि बनने से पहले से ही है अथवा सबसे आगे, सबसे बढ़कर हित करनेवाला है। २. **तम्**=उस **महागयम्**=(महान् गय: स्तुतिर्यस्य—म०) उरुगाय, महान् स्तुतिवाले अथवा (गय=गृह) महागृहरूप प्रभु की **ईमहे**= हम प्रार्थना करते हैं, अर्थात् उसी को पाने का प्रयत्न करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीत: असि**=उपयाम, स्वीकरण के द्वारा गृहीत होते है, अर्थात् जैसे पत्नी एक पति को स्वीकार करती है, इसी प्रकार जो उपासक एकमात्र आपका स्वीकार करता है उससे आप गृहीत होते हो। ४. यह 'वसिष्ठ' वेद को सम्बोधित करके कहता है कि **त्वा**=तुझे उस **अग्नये**=सर्वाग्रणी **वर्चसे**=तेजोरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एष:**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनि:**=उत्पत्तिस्थान हैं, अत: **त्वा**=तुझे उस **अग्नये वर्चसे**=तेजोरूप अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—उत्तम निवासवाला और शक्तिशाली वह बनता है जो प्रभु को अपना घर

बनाता है। वेद उस तेजोमय अग्निरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगतीः**। स्वरः—**निषादः**।

महाँ इन्द्र

महाँ२॥ऽइन्द्रो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु। हन्तु पाप्मानं योऽस्मान्द्वेष्टि। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥१०॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार प्रभु को **महागय**=महान् गृह समझनेवाले और अतएव उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' कहते हैं कि **महान्**=वे प्रभु श्रेष्ठ हैं (मह पूजायाम्) पूजनीय हैं। **इन्द्रः**=(इदि परमैश्वर्ये) वे परमैश्वर्यवाले हैं, (इन्द to be powerful) सर्वशक्तिमान् हैं। **वज्रहस्तः**=वज्र उनके हाथ में है, अर्थात् 'वज गतौ' वे सदा क्रियाशील हैं, **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** उनकी क्रिया स्वाभाविक है। ३. **षोडशी**=सोलह कलाओंवाले वे प्रभु, हमारे जीवनों को इन सोलह कलाओं से युक्त करके हमें अविकल (सकल) बनाकर **शर्म यच्छतु**=सुख व कल्याण प्राप्त कराएँ। प्रश्नोपनिषद् में इन 'प्राण' आदि सोलह कलाओं का वर्णन है। उनसे युक्त होने पर हमारा जीवन अविकल (अव्याकुल) व सम्पूर्ण=Whole स्वस्थ बनता है। ३. वे प्रभु हममें से **पाप्मानम् हन्तु**=पाप को नष्ट करें और उसको भी समाप्त करें **यः**=जो **अस्मान्**=हमारे साथ **द्वेष्टि**=प्रीति न करता हो। वस्तुतः जब हमारा पाप नष्ट हो जाता है तब हमारे साथ प्रीति न करनेवाला भी नहीं रहता। पापनाश 'शत्रुनाश' का कारण बनता है। ४. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप अनन्यरूप से आपका ही भजन करने से गृहीत होते हो। ५. वसिष्ठ वेद को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे हम उस **महेन्द्रायः**=महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए स्वीकारते हैं **एषः ते योनिः**=यह महेन्द्र ही तेरा उत्पत्तिस्थान है। **महेन्द्राय त्वा**=उस महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए तुझे ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'महान्, इन्द्र, वज्रहस्त व षोडशी हैं', वे हमारा कल्याण करते हैं। हमारे पाप को नष्ट कर सभी को हमारे प्रति प्रीतियुक्त करते हैं। हम वेदज्ञान द्वारा प्रभु को पाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दुःखनाशक प्रभु

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनवऽइन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥११॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नोधा'=नवधा स्तुति को धारण करनेवाला अथवा स्तुति के द्वारा आत्मधारण करनेवाला कहता है कि **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जो (क) **वः**=आप सबके **दस्मम्**=दर्शनीय (प्रियवादिनं कार्यसाधकं च—उ०) हैं अथवा (दसु उपक्षये) दुःखों का नाश करनेवाले हैं, (ख) **ऋतीषहम्**=गति के द्वारा वासनाओं का पराभव करनेवाले हैं, अर्थात् हमें कर्मशील बनाकर काम, क्रोध आदि वासनओं में न फँसने देनेवाले हैं। (ग) **वसोः**=(वासयितुः—उ०) उत्तम निवास के कारणभूत **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दानम्**=आनन्दित करनेवाले हैं। ३. उस प्रभु की ओर हम **स्वसरेषु**=दिनों में, अर्थात् प्रतिदिन **नवामहे**=जाते हैं **न**=जैसे **धेनवः**=दुधार गौवें **वत्सम् अभि**=बछड़े की ओर। जैसे गो बछड़े की प्रति प्रेम से जाती है उसी प्रकार हम प्रेम से प्रभु की ओर जाते हैं। जिस प्रकार दूध से भरे ऊधस्वाली गौ के

लिए बछड़े की ओर न जाना व्याकुलता का कारण होता है, इसी प्रकार हमें प्रभु के उपासन के बिना अनमनापन-सा लगे। हम प्रभु के उपासन के लिए उतावले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-उपासन के लिए उसी प्रकार प्रेमवाले हों जैसेकि गौ बछड़े के प्रति जाने के लिए प्रेमवाली होती है। प्रभु ही हमारे सब दु:खों के नाशक हैं।

ऋषि:—**नोधा गोतम:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**विराड्गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

अग्निहोत्र-सन्ध्या-दान

यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजाऽउदीरते॥१२॥

१. प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जो भी **वाहिष्ठम्**=सर्वोत्तम प्राप्त करने योग्य वस्तु है **तत्**=उसे **अग्नये**=अग्नि के लिए अर्पित करनेवाला बन, अर्थात् अग्निहोत्र में सर्वोत्तम घृत तथा औषधद्रव्यों को ही डालने का विधान करो। ये पदार्थ ही सूक्ष्मकणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में फैलेंगे और तुम्हें पूर्णतया नीरोग करनेवाले होंगे। साथ ही इस प्रकार अग्निहोत्र होने पर ठीक ऋतु में वर्षा होगी, पौष्टिक अन्न की उत्पत्ति होगी और यह अन्न-वृद्धि तुम्हारी सम्पत्ति-वृद्धि का कारण बनेगी। २. हे **विभावसो**=(विभा एव वसु यस्य) ज्ञान धनवाले! तू **बृहद् अर्च**=खूब अर्चना करनेवाला बन। यह अर्चना तेरी शक्ति-वृद्धि करनेवाली होगी। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की शक्ति तुझमें प्रवाहित होगी। ३. **महिषी इव**=(महिष्या: इव) जैसे एक गृहणी से ठीक उसी प्रकार **त्वत्**=तुझसे **रयि:**=धन तथा **त्वत्**=तुझसे **वाजा:**=अन्न **उदीरते**=प्रवाहित होते हैं। तू परोपकार के लिए धनों व अन्नों को देनेवाला होता है। घर में गृहिणी=पत्नी सबको खिलाकर खाती है, इसी प्रकार तू भी पाँचों यज्ञों के द्वारा धनों व अन्नों को औरों तक पहुँचाकर ही बचे हुए को खानेवाला बनता है। एवं, तेरे जीवन में 'अग्निहोत्र, उपासना व दान'—ये सतत प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—१. हम उत्तम घृत व औषधद्रव्यों से अग्निहोत्र करें। २. ज्ञानरूप धनवाले बनकर प्रभु का अर्चन करें। ३. सदा धनों व अन्नों का दान करनेवाले बनें।

ऋषि:—**भारद्वाज:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**विराड्गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

वेद का उपदेश

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिर:। एभिर्वर्द्धासऽइन्दुभि:॥१३॥

१. प्रभु की अर्चना से ज्ञान का प्रकाश तो प्राप्त होता ही है, प्रभु की शक्ति भी हममें प्रवाहित होती है और हम 'भारद्वाज' बनते है, अपने में शक्ति को भरनेवाले। इस भारद्वाज से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले! **एहि उ**=तुम मेरे समीप आओ ही, अर्थात् प्रात:-सायं मेरा ध्यान करने का प्रयत्न करो। २. मैं **ते**=तेरे लिए **इत्था**=इस प्रकार से, अर्थात् तेरे मेरे समीप आने से **गिर:**=उन वाणियों को **ब्रुवाणि**=उत्तमता से कहता हूँ जोकि **इतरा:**=(इ तरा:) कामवासना से तुझे तैरानेवाली होती हैं, जिनके उच्चारण से तू वासना को जीत लेता है। ३. हे भारद्वाज! तू **एभि:**=इन **इन्दुभि:**=सोमकणों से **वर्द्धासे**=वृद्धि को प्राप्त कर। तुझमें ये सोमकण उत्पन्न होते हैं, यदि तू इनकी सम्यक् रक्षा करेगा तो ये तेरे शरीर को नीरोग करनेवाले होंगे, तेरे मन को वासनाओं से बचाकर निर्मल बनाएँगे, तेरी ज्ञानाग्नि का ये ईंधन होंगे। इस प्रकार तेरी उन्नति उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में तू इन सोमकणों की रक्षा कर सकेगा।

भावार्थ—हम प्रभु-सम्पर्क में आकर वेदवाणियों का श्रवण करें और सोम की रक्षा

करनेवाले हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**संवत्सरः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

यज्ञ व प्रजा-परिपालन

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः॥१४॥

१. गतमन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी प्रभु भारद्वाज से कहते हैं कि **ऋतवः**=ऋतुएँ **ते यज्ञम्**=तेरे यज्ञ को **वितन्वन्तु**=विस्तृत करनेवाली हों, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार तेरे यज्ञ निरन्तर चलते रहें। २. **मासाः**=प्रत्येक मास **ते हविः**=तेरे दानपूर्वक अदन के भाव को **रक्षन्तु**=रक्षित करें, अर्थात् तुझमें कभी भी न देकर सारा खा जाने की वृत्ति उत्पन्न न हो जाए। ३. **संवत्सरः**=वर्ष **ते**=तेरे लिए **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ को **दधातु**=धारण करे, अर्थात् वर्षभर तेरे द्वारा यज्ञ निरन्तर चलता रहे और वस्तुतः यह यज्ञ ही तेरे उत्तम रक्षण का कारण बने **च**=और निरन्तर चलाया जाता हुआ यह यज्ञ **नः प्रजाम्**=हमारी प्रजा को **परिपातु**=सुरक्षित करे। वस्तुतः यह सम्पूर्ण प्रजा उस प्रभु की ही है, इस प्रजा की रक्षा के लिए यज्ञ ही महान् साधन है। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया और कहा कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, यही तुम्हारी सब इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा।

भावार्थ—हम प्रत्येक ऋतु में यज्ञशील बनें, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों, सारा वर्ष हमारा यज्ञ अविच्छिन्न चलता रहे और यह यज्ञ प्रजा का परिपालन करनेवाला हो।

ऋषिः—**वत्सः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जीवन की पूर्ति=विप्रता

उपह्वरे गिरीणाᳬसङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽअजायत॥१५॥

१. गतमन्त्र में प्रतिपादित यज्ञादि उत्तम कर्मों की वृत्ति जीवन में तभी बनती है, जब प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार उत्तम गुरुओं की समीपता, प्रभुभक्त व स्तोताओं का संग प्राप्त होता है। मन्त्र में कहते हैं—**गिरीणाम्**=(गुरूणां गृणन्ति इति) गुरुओं के **उपह्वरे**=समीप **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला (वि+प्रा) **अजायत**=बनता है। गिरि और गुरु शब्द एक ही धातु से बने हैं। संन्यासियों का एक वर्ग 'गिरि' भी है। ये घूम-घूमकर प्रजा को उपदेश देते हैं। जिस बालक को उत्तम गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है वह ज्ञानी बन जाता है। **'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'**। ५ वर्ष तक जिसे उत्तम मातृरूप गुरु ने सदाचारी बनाया, आठ वर्ष तक पितृरूप गुरु ने जिसे सुशील बनाया तथा २५ वर्ष तक जिसे आचार्यरूप गुरु ने उत्तम ज्ञान दिया यह पुरुष वि-प्र बनता है, अपना पूरण करनेवाला होता है **च**=और २. **नदीनाम्**=(नदिः=स्तोता) स्तोताओं के **संगमे**=संग में **विप्रः अजायत**=अपना पूरण करनेवाला बनता है। इन गुरु-भक्तों का संग मिलने से वृत्ति सुन्दर बनी रहती है, मनुष्य विषय-वासनाओं में भटककर विकृत जीवनवाला नहीं बनता। ३. गुरुओं की समीपता में और स्तोताओं की सङ्गत में **धिया**=सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से (धीः प्रज्ञा व कर्म) मनुष्य **विप्रः**=अपनी न्यूनताओं को दूर करके पूर्ति करनेवाला **अजायत**=होता है। जब मनुष्य को सुगुरुओं का सामीप्य नहीं मिलता तथा इसका सङ्ग प्रभुप्रवण लोगों से नहीं होता तब वह संसार में ज्ञान की अपेक्षा मूर्खतापूर्ण भोगविलासों में अधिक फँस जाता है और इसका जीवन दोषों से भरा हुआ हो जाता है।

भावार्थ—हमें गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो, स्तोताओं की संगत में हम उठें-बैठें और ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहें तो हमारा जीवन अधिकाधिक पूर्ण होता जाएगा। जीवन की पूर्णता से हम 'वत्स', प्रभु के प्रिय, इस मन्त्र के ऋषि बनेंगे।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक पदार्थों का सेवन

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रःशर्म महि श्रवः॥१६॥

१. गतमन्त्र के 'वत्स' से ही प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरा **अन्धसः**=इस आध्यायनीय, सब दृष्टिकोण से ध्यान देने योग्य सोम से **उच्चा जातम्**=उत्कृष्ट विकास हुआ है, क्योंकि इसी की रक्षा से शरीर 'नीरोग' मन 'निर्मल' तथा बुद्धि 'तीव्र' बनती है। २. इस सोम की रक्षा का ही यह परिणाम है कि तू **दिवि**=सदा प्रकाशमयलोक में रहता हुआ **सत्**=उत्कृष्ट **भूमिः**=पार्थिव पदार्थों को ही **आददे**=ग्रहण करता है। तू भोजनों में सात्त्विक भोजनों का ही सेवन करता है। ३. इन सात्त्विक पदार्थों के सेवन से **उग्रम् शर्म**=उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है तथा **महिश्रवः**=महनीय कीर्ति व धन को प्राप्त करनेवाला होता है। लौकिक सुखों से ऊपर उठा होने के कारण और उदात्त अपार्थिव सुखों में विचरण करने के कारण ही यह 'अमहीयु' की सन्तान 'आमहीयव' कहलाता है, यह मही—पृथिवी व पार्थिव भोगों को अपने से जोड़ना नहीं चाहता।

भावार्थ—हम जितना सोम का रक्षण करेंगे उतना ही उत्कृष्ट हमारा विकास होगा, प्रकाशमय जीवन बिताते हुए हम उत्तम सात्त्विक पार्थिव पदार्थों को ग्रहण करेंगे, परिणामतः हमें उदात्त सुख व महनीय कीर्ति व धन प्राप्त होगा।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दान के पात्र

स नऽइन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित्परि स्रव॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'महीयवः'=उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाले अमहीयु से प्रभु कहते हैं **सः**=वह **वरिवोवित्**=(वरिवः धन) धन को प्राप्त करनेवाला तू **नः**=हमारे **इन्द्रायः**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुषों के लिए, प्राणसाधना करनेवाले अभ्यासी पुरुषों के लिए **परिस्रव**=धन को प्राप्त करानेवाला हो। इनके लिए तेरा धन बहे। २. वस्तुतः पात्रापात्र का विचार करके ही दान देना ठीक होता है। दान के पात्र ये व्यक्ति हैं जोकि (क) जितेन्द्रिय होने से भोगविलास में धन का व्यर्थ में व्यय न करेंगे, (ख) यज्ञशील होने से यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही धन को विनियुक्त करेंगे, (ग) धन का विनियोग वे स्नेह की भावना को बढ़ाने के लिए ही करेंगे, उनका धन द्वेष-वर्धक न होगा, (घ) उनका धन प्राणसाधनादि योगवृत्तियों के प्रसार में विनियुक्त होगा। वस्तुतः ये ही व्यक्ति दान के पात्र हैं। इनसे विपरीत वृत्तिवालों को दिया गया धन हानिकर ही होगा।

भावार्थ—हमारा धन 'इन्द्र, यज्यु, वरुण व मरुतों' के लिए हो।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**स्वराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञशेष का सेवन

एना विश्वान्यर्यऽआ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥१८॥

१. 'अमहीयु' प्रार्थना करता है—**अर्यः**=सब धनों का स्वामी प्रभु **एना**=इन **विश्वानि**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के, अर्थात् विचारशील पुरुषों के लिए हितकर **द्युम्नानि**=धनों को हमारे लिए **आ**=(आनयतु) प्राप्त कराए। प्रभुकृपा से हम उन सब धनों को प्राप्त करनेवाले बनें, जो मनुष्य के लिए हितकर हैं। २. इन धनों को प्राप्त करके 'अमहीयु' चाहता है कि हम इन धनों को **सिषासन्तः**=उचित पात्रों में दान करते हुए ही **वनामहे**=(संभुज्महे) इनका उपयोग करें। भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का विनियोग आवश्यक ही है, परन्तु हम अपने जीवनों में इस भोग को प्रथम स्थान न दे दें, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** प्रभु के इस आदेश का ध्यान करते हुए पहले त्याग व पीछे भोग को समझें। केवलादी न बनें, यह हमें न भूले कि **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप को ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्चयज्ञ न करके स्वयं सब खा जानेवाला चोर है। ऐसा हम समझें और सदा बाँटकर ही खाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें मानवहितकारी धन प्राप्त हों और उन्हें पात्रों में बाँटकर हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाल बनें। हम इस बात को न भूलें कि धनों के स्वामी हम नहीं, वे प्रभु ही हैं। उसके धनों का विनियोग उसके आदेश के अनुसार ही करें।

ऋषिः—**मुद्गलः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ व पोषण

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु ॥१९॥

१. गतमन्त्र के यज्ञ के अनुपात में **वीरैः**=वीर पुत्रों से **अनुपुष्यास्म**=हम पोषण को प्राप्त करें। जितना-जितना हमारा जीवन यज्ञिय होता है उतना-उतना हमारे सन्तान भी वीर बनते हैं। वस्तुतः भोगमार्ग हमारी शक्तियों को क्षीण करता है, हमारी शक्तियों की क्षीणता के साथ हमारी सन्ताने भी निर्बल होती हैं। २. **गोभिः अश्वैः अनु** (पुष्यास्म)=हम गौवों व घोड़ों से पोषण को प्राप्त हों। हमारे घरों में गौवें हों, घोड़े हों और उनसे हमारे ब्रह्म व क्षत्र का पोषण हो। अथवा 'गाव ज्ञानेन्द्रियाणि, अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि' हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ ठीक पोषण से युक्त हों। वस्तुतः यज्ञिय वृत्ति हमारी इन्द्रियों को अक्षीण-शक्ति बनाती है। ३. **सर्वेण अनु** (पुष्यास्म)=अन्य भी सब चाहने योग्य शक्तियों के पोषणवाले हम हों, **पुष्टैः**=पुष्टि के साधनभूत गृह आदि सब पदार्थों से **अनु**=(पुष्यास्म)=हम अनुपुष्ट हों। ४. **द्विपदा**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों से अनु (पुष्यास्म)=पोषण को प्राप्त हों और **चतुष्पदा वयम्** (पुष्यास्म) चौपाये गौ आदि पशुओं से हम पोषण प्राप्त करनेवाले हों। ५. इस पोषण के उद्देश्य से ही **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ। हम प्रत्येक ऋतु में, ऋतु के अनुसार ही हविर्द्रव्यों से यज्ञ करनेवाले हों और यह यज्ञ हमें वीरों, गौवों, अश्वों तथा पोषण के लिए आवश्यक अन्य सब पदार्थों से पुष्ट करें। इन यज्ञों से मनुष्य व पशु सब हमारे अनुकूल हों और हमारे पोषण का कारण बनें।

भावार्थ—हमारी वृत्ति यज्ञिय हो। यज्ञों से हमें सब प्रकार का पोषण प्राप्त हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

देव-पत्नी तथा त्वष्टा

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारꣳसोमपीतये ॥२०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'मेधातिथि' है, यह निरन्तर बुद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है (मेधाम् अतति) अथवा यह सदा बुद्धिपूर्वक ही संसार में चलता है (मेधया अतति)। इस मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! **इह**=इस मानव-जन्म में तू **उशती:**=(कामयमाना:) सदा लोकहित की कामना करता हुआ **देवनाम् पत्नी:**=शरीर में वाणी इत्यादि के रूप से रहनेवाले अग्नि आदि देवों की पत्नियों को, शक्तियों को **उपावह**=समीपता से प्राप्त करनेवाला हो। २. तू **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, अर्थात् शरीर में सोम को सुरक्षित रखने के लिए **त्वष्टारम्**=त्वष्टा को (त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मण:, त्वषतेर्वा करोतिकर्मण:) ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा दीप्ति को प्राप्त करनेवाला बन। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा हो। उसे आलस्य से घृणा हो, ज्ञान-प्राप्ति व क्रियाशलता सोमरक्षा के साधन हैं।

भावार्थ—आगे बढ़ने का अभिप्राय है जीवन में दिव्य गुणों को आमन्त्रित करना। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सोमरक्षा आवश्यक है। सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए हम त्वष्टा बनें, सदा ज्ञान की प्राप्ति करनेवाले तथा क्रियाशील जीवनवाले हों।

ऋषि:—**मेधातिथि:**। देवता—**विद्वान्**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

सोम-रक्षा का साधन व साध्य

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्ट: पिबऽऋतुना। त्वꣳहि रत्नधाऽअसि॥२१॥

१. **हे ग्नाव:** (ग्ना वाणी—नि० १।११) प्रशस्त वाग्मिन्! उत्तम प्रवचन करनेवाले! **न:**=हमें **यज्ञम् अभि**=यज्ञ का लक्ष्य करके **गृणीहि**=उपदेश दीजिए, अर्थात् इस प्रकार उत्तमता से वेद का प्रवचन कीजिए कि हमारी प्रवृत्ति यज्ञ की ओर झुकाववाली हो जाए। हम भोगप्रवणता से ऊपर उठ जाएँ। वस्तुत: यही तो साधन है जिससे हम अपने शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम की रक्षा कर सकेंगे। २. वह प्रशस्त वाग्मी मुख्यरूप से यही उपदेश करता है कि हे **नेष्ट:**=अपने को आगे ले-चलनेवाले! तू **ऋतुना**=समय रहते **पिब**=सोम का पान करनेवाला बन। यदि तुझे यौवन के बीत जाने पर वार्धक्य में सोमरक्षा का ध्यान आया तो यह तेरे लिए कितने दुर्भाग्य की बात होगी। हम समय रहते यौवन में ही, ठीक ऋतु में ही, सोम का पान करें, यही अपने को अग्नि बनाने व आगे ले-जाने का साधन है। ३. इस सोम के पान से **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रत्नधा**=रमणीय धातुओं का धारण करनेवाला बनता है। 'यज्ञों में लगे रहना' सोमपान का साधन है, और रत्नों का धारण उस सोमपान का साध्य है। सोमपान से हमारे जीवन में सब रमणीय वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। शरीर में यह सोम ही नीरोगता का कारण बनता है, यही मन में निर्मलता लाता है और बुद्धि में तीव्रता पैदा करता है। संक्षेप में यह सोमपान 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी को स्वस्थ करता है।

भावार्थ—(क) हमारी वेदादि के प्रवचनों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति हो, (ख) इसके परिणामरूप भोगवृत्ति व वासनाओं से बचकर हम सोम का पान करनेवाले बनें, (ग) इस सोमपान से हमारे जीवन में रमणीय वस्तुओं का धारण होगा। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दीप्त होंगे।

ऋषि:—**मेधातिथि:**। देवता—**सोम:**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

दान व सोमपान

द्रविणोदा: पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत॥२२॥

१. गतमन्त्र के सोमपान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं **द्रविणोदा:**=धन का दान

करनेवाला ही **पिपीषति**=सोम के पान की इच्छा करता है। वस्तुतः सोमपान का मूलसूत्र 'भोगवृत्ति से ऊपर उठना' है, भोगवृत्ति से ऊपर उठानेवाली वस्तु दान है। एवं, दान का परिणाम यह हो जाता है कि हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनते है। २. इस दान का प्रासंगिक लाभ यह भी होता है कि मनुष्य प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, अतः कहते हैं कि **जुहोत**=दान देनेवाले बनो, **च**=और **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। दान से प्रतिष्ठा होती ही है। ३. इन दान आदि की उत्तम वृत्तियाँ के बने रहने के लिए **नेष्ट्रात्**=नेष्टा के प्रेरणात्मक कर्म से (नेष्टुः इदं नेष्ट्रम्) नेता के प्रेरक प्रवचनों से तुम **ऋतुभिः**=ऋतुओं के साथ **इष्यत**=गति करनेवाले होओ। तुम्हें सदा नेताओं के प्रेरणात्मक उत्तम उपदेश प्राप्त होते रहें और तुममें उत्तम वृत्तियाँ सदा बनी रहें। तुम्हारी सब गतियाँ ऋतुओं के अनुकूल हों।

भावार्थ—दान दें, भोगवृत्ति से बचें और सोम की रक्षा करें। प्रसंगवश प्रतिष्ठा पानेवाले हों। हमें नेताओं से इसी प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नेष्टा की प्रेरणा

तवायꣳसोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳसुमनाऽअस्य पाहि।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठरऽइन्दुमिन्द्र॥२३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर नेता की प्रेरणा के अनुसार चलने का संकेत है। नेता की सर्वमहान् प्रेरणा यह है कि **अयम् सोमः तव**=यह शरीर में उत्पन्न किया गया सोम तेरा है, अर्थात् यह तेरी सब प्रकार की उन्नतियों का साधन है। २. इसकी रक्षा के लिए **त्वम्**=तू **अर्वाङ्**=अपने अन्दर **एहि**=आनेवाला बन। सामान्यतः इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी होती है और यह बाहर भटकना मानव-जीवन को भोगप्रवण बना देता है, अतः हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनें। जिधर-जिधर हमारा मन भटकने की करे, उधर-उधर से हम इस चञ्चल मन को रोकने के लिए यत्नशील हों। ३. **सुमनाः**=उत्तम मनवाला बनकर, मन को वासनाओं से शून्य करके तू **शश्वत्तमम्**=(सर्वकालम्) सदा **अस्य पाहि**=इस सोम की रक्षा करनेवाला हो। हम तनिक प्रमाद में हुए कि वासनाओं का शिकार बन सोम का विनाश कर बैठेंगे, अतः सोमरक्षा के लिए सदा सावधान रहना अत्यावश्यक है। ४. **अस्मिन्यज्ञे**=इस यज्ञ में तथा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषद्य**=सदा स्थित होकर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इमम् इन्दुम्**=इस सोम को **जठरे**=शरीर के मध्य में ही **दधिष्व**=धारण करनेवाला बन। 'सदा यज्ञों में लगे रहना तथा हृदय को वासनाशून्य बनाना' सोमरक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

भावार्थ—सोम (वीर्य) ही हमारी सर्व उन्नतियों का साधन है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि (क) हम अन्तर्मुखी वृत्ति बनाएँ (अर्वाङ् एहि), (ख) मन को सदा वासनाशून्य व निर्मल बनाए रक्खें, (ग) किसी क्षण प्रमाद में न चले जाएँ (शश्वत्तमम्) (घ) सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें, (ङ) हम अपने हृदय को वासनाशून्य बनाने का ध्यान करें (बर्हिषि)।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

विद्वत् समागम

अमेव नः सुहवाऽआ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मन्दस्व जुजुषाणोऽअन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥२४॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद' है–'गृणाति माद्यति'=प्रभु–स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह विद्वानों से कहता है कि **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से पुकारने योग्य आप लोग **अमा इव**=अपने घर की भाँति **हि**=निश्चय से **आगन्तन**=आइए। आपको आमन्त्रित करना हमारे लिए दुष्कर न हो जाए, आप हमारे घर को अपना ही घर समझें और यहाँ **बर्हिषि**=दर्भासन पर **निसदतन**=स्थिरता से विराजिए और **रणिष्टन**=उपदेश दीजिए, अर्थात् हम विद्वानों को आमन्त्रित करें, वे हमारे घर में अपने घर की भाँति ही सुविधा अनुभव करें और आसन पर बैठकर हमें समुचित उपदेश दें। २. उपदेश का स्वरूप इस प्रकार है कि (क) **अथा मन्दस्व**=(अ=परमात्मा, of protection रक्षा) उस प्रभु के रक्षण में आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् हम अपने को उस प्रभु के अमृत उपस्तरण व अपिधान में सुरक्षित अनुभव करते हुए आनन्दयुक्त मनवाले हों। (ख) **जुजुषाणः**=उस प्रभु के रक्षण में अपने कर्तव्य–कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। (ग) हे **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम की रक्षा से **त्वष्टः**=(त्विषि=दीप्तौ) अपने ज्ञान को दीप्त करनेवाले साधक! तू **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा तथा **जनिभिः**=अपनी शक्तियों के विकास के द्वारा **सुमद्गणः**=बड़ी प्रसन्न ज्ञानेन्द्रियों के गणवाला उसी प्रकार सुदृढ़ कर्मेन्द्रियों के गणवाला तथा प्रसन्न प्राणपञ्चकवाला बन।

भावार्थ–हमें विद्वान् लोग प्राप्त हों, उनके सदुपदेश को सुनकर हम आनन्दमय मनोवृत्तिवाले बनें, कर्त्तव्यों को प्रीतिपूर्वक करें, सोमरक्षा द्वारा ज्ञान को दीप्त करते हुए दिव्य गुणोंवाले बनें, शक्तियों का विकास करें तथा प्रकृष्ट ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणोंवाले बनें।

ऋषिः–**मधुच्छन्दाः**। देवता–**विद्वांसः**। छन्दः–**निचृद्गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**॥

स्वादिष्ठ–मदिष्ठ–धारा

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥२५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है=अत्यन्त उत्तम इच्छावाला। यह सोम को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि हे **सोम**=सब उत्तमताओं के जनक (सू) वीर्य! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हममें प्रवाहित हो। जब वीर्य शरीर में सुरक्षित होता है तब यह शरीर की रक्षा करनेवाला होता है। २. यह सोम की धारकशक्ति **स्वादिष्ठया**=स्वादिष्ठ है। स्वादिष्ठ धारणशक्ति से ही तू हममें प्रवाहित हो, अर्थात् ज्ञान की रक्षा से हमारा जीवन मधुर बने। निर्वीय पुरुष में कटुता होती है, वह चिड़चिड़ा बन जाता है। **मदष्ठिया**=यह जीवन को हर्षित करनेवाला है। ३. हे सोम! **सुतः**=उत्पन्न हुआ- हुआ तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा के लिए हो, अर्थात् सोम का मुख्य प्रयोजन शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण है।

भावार्थ–हम सोम की रक्षा करें। यह हमारी वाणी व वृत्ति को मुधर बनाएगा, हम सदा प्रसन्न रहेंगे, यह हमारे शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण करेगा।

ऋषिः–**मधुच्छन्दाः**। देवता–**अग्निः**। छन्दः–**गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**॥

अयोहत शरीर

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते। द्रोणे सधस्थमासदत्॥२६॥

१. मधुच्छन्दा यह समझता है कि यह सोम **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाशक है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा जैसे यह शरीर के रोगों का नाश करता है, उसी प्रकार यह

राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करके मन को भी निर्मल बनाता है। ३. **विश्वचर्षणिः**=सम्पूर्ण जगत् का दर्शन करानेवाला है, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे विज्ञान की प्राप्ति का यह कारण बनता है। सोमरक्षा से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर मनुष्य प्रकृति के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर पाता है। एवं, यह सोम विश्वचर्षणि है। ३. जब यह सोम वासनाओं के कारण विनम्र न होकर **अभियोनिम्**=अपने उत्पत्तिस्थान इस शरीर में ही प्रविष्ट होता है तब **अयोहते द्रोणे**=(अयसा हते उत्कीर्णे) मानो लोहे से ढले हुए इस शरीर में, वज्रतुल्य बने हुए इस दृढ़ शरीर में **सधस्थम्**=जीवात्मा व परमात्मा की सहस्थिति को **आसदत्**=प्राप्त कराता है। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर तो इतना दृढ़ बनता है कि मानो लोहे को ही ढालकर बना दिया गया हो और इस वज्रतुल्य शरीर में जीव परमात्मा के साथ निवास को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने हृदय में जीव परमात्मा का उपासन करता है, प्रभु के सम्पर्क में निवास करता है, इसकी प्रभु के साथ सहस्थिति हो जाती है। इससे ऊँची स्थिति हो ही क्या सकती है?

भावार्थ—सोम रोगकृमियों का नाशक है, राक्षसीवृत्तियों को दूर करता है, सम्पूर्ण विज्ञान का साधन बनता है। शरीर में व्याप्त होकर यह शरीर को लोहे का बना हुआ अत्यन्त दृढ़ बना देता है और उस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर में प्रभु के साथ सहस्थिति को प्राप्त कराता है।

नोट—शरीर को यहाँ द्रोण कहा है, यह सोम का पात्र है। 'द्रु गतौ' से बनकर यह द्रोण शब्द इस भावना को व्यक्त कर रहा है कि इसे सदा क्रियाशील रहना है। सोलह कलाओं से युक्त होने के कारण यह कलश कहलाया है। वेद में इसे **'चमस्'** नाम से भी स्मरण किया है। इस शरीर में सोम की रक्षा करनेवाला निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः उसका नाम ही 'अग्नि' हो जाता है, अतः अगला अध्याय इस अग्नि ऋषि के वर्णन से ही प्रारम्भ होता है।

इति षड्विंशोऽध्यायः॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अलौकिक दीप्ति (दिव्य रोचन)

समास्त्वाग्नऽऋतवो वर्द्धयन्तु संवत्सराऽऋषयो यानि सत्या।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वाऽआ भाहि प्रदिशश्चतस्त्रः॥१॥

१. प्रभु 'अग्नि' से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! या राष्ट्र को उन्नत करने-वाले अग्रेणी राजन्! **त्वा**=तुझे **समाः**=मास **ऋतवः**=ऋतुएँ तथा **संवत्सराः**=वर्ष **वर्द्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों, अर्थात् प्रतिमास प्रतिऋतु व प्रतिवर्ष तुझे आगे बढ़ा हुआ ही देखूँ। तू उन्नत और उन्नतर होता चले। २. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा वर्द्धयन्तु**=तुझे बढ़ानेवाले हों, तत्त्वद्रष्टाओं के सम्पर्क में आकर तेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। 'मास, ऋतुएँ व संवत्सर' अनुकूल होकर जहाँ इस अग्नि को शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बना रहे थे वहाँ ये तत्त्वद्रष्टा इसके ज्ञान को बढ़ाकर इसे बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. **यानि सत्या**=जो भी सत्य हैं, वे सब तेरे जीवन का अङ्ग बनकर तुझे बढ़ानेवाले हों। **'मनः सत्येन शुध्यति'** इस मनुवाक्य के अनुसार ये सत्य तुझे मानस स्वास्थ्य देनेवाले हों। ४. तू शरीर, मन व बुद्धि के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके **दिव्यने रोचनेन**=अलौकिक दीप्ति से **संदीदिहि**=चमकनेवाला बन। ५. प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार दीप्त होकर तू **विश्वा**=सब **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाओं को **आभाहि**=सब दृष्टिकोणों से दीप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—मासों, ऋतुओं व वर्षों की अनुकूलता हमें शारीरिक स्वास्थ्य दे। तत्त्वद्रष्टा लोग हमारी बौद्धिक प्रगति का कारण बनें। सत्य-व्यवहार हमारे मानस को पवित्र करे। इस प्रकार हम एक अलौकिक दीप्ति से चमकानेवाले बनें और अपने चारों ओर प्रकाश फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सामिधेन्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुरुषार्थ से सौभाग्य

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।

मा च रिषदुपसत्ता तेऽअग्ने ब्राह्मणास्ते यशसः सन्तु माऽन्ये॥२॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव से ही प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने!** तू **सं इध्यस्व च**=सम्यक् दीप्त होनेवाला बन। केवल शरीर का स्वास्थ्य, केवल मानस भद्रता व केवल मस्तिष्क की दीप्ति यह 'समिन्धन' नहीं है। तू तीनों को दीप्त करके समिद्ध हो। २. **च**=और **एनम्**=इन अपने समीपवर्ती बन्धुओं को भी **प्रबोधय**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाने का प्रयत्न कर। स्वयं ज्ञानी बन और ओरों को ज्ञान देनेवाला हो। ३. तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **उत् तिष्ठ च**=सदा उद्योग करनेवाला हो। आलस्य ही तो सौभाग्य को नष्ट करनेवाला है। उद्योग सौभाग्य का मूल है। ४. इस बात का तू सदा ध्यान रखना कि सौभाग्य तेरे मस्तिष्क को विकृत न कर दे और तेरी क्रियाएँ पड़ोसियों की

परेशानी का कारण न बन जाएँ। **ते उपसत्ता**=तेरा पड़ोसी (समीप रहनेवाला) **मा रिषत्**=तेरी किसी भी क्रिया से हिंसित न हो। ५. हे **अग्ने:**=प्रगतिशील जीव! **ब्राह्मणः**=ज्ञानी पुरुष तथा **यशसः**=यशस्वी व्यक्ति ही **ते सन्तु**=तेरे हों, अर्थात् ऐसे लोगों का ही तेरे यहाँ आना-जाना हो **मा अन्ये**=इनसे भिन्न अर्थात् (उज्जड) बदमाश लोग तेरे न हों, तेरा घर उन लोगों का अड्डा न बन जाए।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव वह है जो चमकता है, चमकाता है, पुरुषार्थ से सौभाग्यशाली होता है। पड़ोसियों से मधुरता से वर्त्तता है, उसके घर में ज्ञानी, यशस्वी पुरुषों का आना-जाना होता है।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृह में सतत जागरण

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्मणाऽइमे शिवोऽअ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः।
स॒प॒त्न॒हा नो॑ऽअभिमाति॒जिच्च॒ स्वे गये॑ जागृह्यप्र॑युच्छन्॥३॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इमे ब्राह्मणः**=ये ब्राह्मण **त्वा वृणते**=तेरा वरण करते हैं, अर्थात् 'कौन व्यक्ति हमारे जाने योग्य हैं?' ऐसा विचार होने पर ये ब्राह्मण लोग तेरा वरण करते हैं। तुझे इस योग्य समझते हैं कि तेरे अन्न को वे स्वीकार कर लें। २. **संवरणे**=इस संवरण के होने पर, अर्थात् जब ये ब्राह्मण तेरे घर पर आने-जानेवालें हों तब हे **अग्ने**=अग्नि के समान प्रकाशमय जीवनवाले! तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=हो। उत्तम संसर्ग तुझे अधिक प्रकाशमय जीवनवाला बनाये और तू लोगों का और अधिक कल्याण करनेवला हो। ३. तू **नः**=हमारे **सपत्नहा**=शत्रुओं का नाश करनेवाला बन। एक ज्ञानी, प्रगतिशील पुरुष ने अपने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर अपने सम्पर्क में आनेवालों के काम-क्रोधादि को, ज्ञान के प्रकाश के द्वारा नष्ट करने के लिए यत्नशील होना है, परन्तु इस सारे कार्य को करते हुए इसे **अभिमातिजित् च**=अभिमान को निश्चय से जीतनेवाला बनना है। इसके जीवन में अभिमान होगा, तो इसकी अपनी सारी उन्नति समाप्त हो जाएगी, औरों का क्या कल्याण करेगा? ४. अतः अग्ने! तुझे चाहिए कि **स्वे गये जागृहि**=तू अपने घर में सदा जागता रह। 'हमारे शरीर में रोग न आएँ, मन में वासनाएँ न आएँ, इसका एक ही उपाय है और वह यह कि हम अपने कर्त्तव्य व उद्देश्य का स्मरण करते हुए **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए अपने जीवनयात्रा के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते ही चलें।

भावार्थ—हम ब्राह्मणों के लिए वरणीय बनें। ब्राह्मणों से वृत होकर सबका कल्याण करनेवाले हों। काम-क्रोधादि को नष्ट करें, अभिमान को जीतें और इस शरीररूप गृह में सदा सावधान होकर जागरित रहें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देशज वस्तु का प्रयोग

इ॒हैवाग्ने॒ऽअधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ नि क्र॑न्पूर्व॒चितो॑ नि॒का॒रिणः॑।
क्ष॒त्रम॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु॒ तुभ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्द्धतां ते॒ऽअनि॑ष्टृतः॥४॥

१. हे **अग्ने**=अपने राष्ट्र को उन्नत करनेवाले जीव! **इह एव**=अपने राष्ट्र में ही **रयिम्**=धन को **अधिधारया**=आधिक्येन धारण कर। तू यथासम्भव अपनी देशज वस्तुओं का ही प्रयोग कर, जिससे रुपया विदेश में न जाए। २. तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो कि **पूर्वचितः**=

पूर्वनाम में, ब्रह्मचर्याश्रम में—तीन बार नाचिकेतस् अग्नि का चयन करनेवाले, अर्थात् सबसे पूर्व ५ वर्ष तक माता के शिक्षणालय में सच्चरित्रता की अग्नि का चयन करनेवाले, इसके बाद ८ वर्ष तक पिता के शिक्षाणालय में शिष्टाचार की अग्नि का चयन करनेवाले और अन्त में आचार्य के शिक्षणालय में ज्ञानादि का चयन करनेवाले पूर्वचित लोग, जो **निकारिणः**= नितरां यज्ञकरणशील हैं अथवा ज्ञान व कर्म के समुच्चय के अतिशय से जो औरों को नीचा दिखानेवाले हैं, अर्थात् जीत जानेवाले हैं। वे **त्वा**=तुझे **मा निक्रम्**=नीचा करनेवाले न हों, अर्थात् तू उनसे पराजित न किया जा सके, तू स्वयं 'सच्चरित्रता, शिष्टाचार व ज्ञानरूप अग्नियों' का चयन करनेवाला बन तथा तेरा जीवन नितरां यज्ञशील हो। ३. हे अग्ने! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सुयमम्**=उत्तम संयमवाला **क्षत्रम्**=बल **अस्तु** हो, संयम से उत्पन्न बल तुझे सब क्षत्रों से बचानेवाला हो। ४. तेरा व्यवहार सदा ऐसा हो कि **ते उपसत्ता**=तेरे समीप रहनेवाला तेरा पड़ोसी भी **अनिष्टृतः**=किसी प्रकार से हिंसित न होता हुआ **वर्धताम्**=बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—हम राष्ट्र का रुपया, स्वदेशी का प्रयोग करते हुए, राष्ट्र में ही रखने का प्रयत्न करें। हम 'सच्चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान में' आगे बढ़कर यज्ञशील हों, संयम के द्वारा बल की साधना करें तथा हमारा कोई भी व्यवहार पड़ोसी की हिंसा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सबल कर्म

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्थाऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥५॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि की भाँति शत्रुओं को भस्मसात् करनेवाले जीव! **क्षत्रेण**=बल के साथ **स्व आयुः**=अपने जीवन को **संरभस्व**=समारब्ध कर, अर्थात् अपने जीवन में सबल कार्यों का करनेवाला बन। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मित्रेण**=(मित्र=सूर्य) सूर्योदय के साथ ही, अर्थात् दिन के प्रारम्भ से ही **मित्रधेये यतस्व**=इस प्रकार यत्नशील हो कि तू अपने मित्रों का धारण करनेवाला बने ('यथा मित्राणि धार्यन्ते तथा यत्नं कुरु'—उ०)। अपने लिए तो कौवा भी जीता है, तू केवल अपने लिए जीनेवाला न बन। ३. तू **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का, हमउम्रवालों का, **मध्यमस्था एधि**=मध्यस्थ हो, अर्थात् यदि कभी किन्ही दो में संघर्ष हो जाए तो वे दानों तुझे मध्यस्थ बनाने के लिए सहर्ष उद्यत हों। यह होगा तभी जब तेरा जीवन यज्ञमय होगा। ४. हे अग्ने! पथप्रदर्शक! तेरा जीवन ऐसा सुन्दर हो कि तू **राज्ञाम्**=राजाओं का भी **विहव्यः**=विशिष्टरूप से पुकारने योग्य बने। ५. हे अग्ने! इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **दीदिहि**=खूब ही चमकनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे कार्य शक्तिशाली हों, हमारा सारा दिन ऐसे कार्यों में बीते जो मित्रों का धारण करनेवाले हों, उनके परस्पर के झगड़ों को हम निपटानेवाले बनें। राजाओं के भी पुकारने योग्य हों तथा देदीप्यमान जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दुष्ट-संग से दूर

अति निहोऽअति स्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳसहवीरꣳरयिं दाः॥६॥

१. हे **अग्ने**=जीवन में आगे बढ़ने के स्वभाववाले जीव! **निहः**=(निहन्तॄन्) हिंसकवृत्तिवालों

को **अति** =(अतिक्रम्य) अतिक्रमण करके, लाँघकर, अर्थात् इनके संग से सदा बचकर, २. **स्त्रिधः**=(स्त्रिध कुत्सावाक्) कुत्सित आचरणवालों को, अर्थात् संयम की मर्यादा के तोड़नेवालों को **अति**=लाँघकर ३. **अचित्तिम् अति**=अन्यमनस्कतावालों के, अध्ययन व संज्ञान की प्रवृत्ति के अभाववालों को लाँघ के तथा ४. **अरातिम् अति**=न दान की वृत्तिवाले, कृपण व अयज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को लाँघकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील! तू **विश्वा दुरिता**=सब पापों को **सहस्व**=अभिभूत कर, अपने से दूर कर। वस्तुतः दुरितों से दूर होने के लिए दुष्ट मनोवृत्ति व दुष्टाचरणवालों से दूर रहना आवश्यक है। ५. यह 'अग्नि' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अथ**=अब, जबकि हमने हिंसकों, कुत्सिताचरणों, अज्ञानियों व कृपणों से दूर रहकर अपनी वृत्तियों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है तो आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीराम्**=वीर-पुत्रों से युक्त **रयिम्**=धन को **दाः**=दीजिए। वस्तुतः जब हमारा जीवन सदाचार-सम्पन्न होता है तब हमें धन प्राप्त होता है और वह धन वीर सन्तानों से युक्त होता है।

भावार्थ—हम दुष्टाचारणों को त्यागें, जिससे उत्तम धन और वीर सन्तानों से युक्त हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अनाधृष्यो जातवेदाऽअनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वाऽआशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे॥७॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इह**=इस कर्म में वर्त्तमान हुआ-हुआ तू, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार उत्तम मार्ग में चलता हुआ तू **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **दीदिहि**=प्रकाशमय कर दे। २. तू स्वयं (क) **अनाधृष्यः**=काम-क्रोध आदि भावनाओं से धर्षित न होनेवाला बन, (ख) **जातवेदाः**=(जातं वेदो धनं ज्ञानम् यस्मात्) ज्ञानी बन तथा संसार के लिए आवश्यक धन को कमानेवाला बन, (ग) **अनिष्टृतः**=तू किन्ही भी रोगादि से हिंसित न हो। तेरे मन में क्रोधादि न आएँ और शरीर में रोग न हों, (घ) इस प्रकार तू **विराट्**=विशेषरूप से चमकनेवाला हो, और (ङ) अपने में **क्षत्रभृत्**=बल को धारण करनेवाला हो। उस बल का तू पोषण कर जो तुझे सब क्षतों से बचानेवाला हो। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवनवाला बनकर **मानुषीः**=मनुष्य-सम्बन्धिनी नीतियों को 'जन्म, जरा, मृति, दैन्य, शोक' आदि मनुष्य को प्राप्त होनेवाले भयों से ऊपर उठकर **नः**=हमारे दिये हुए इस शरीरादि को **अद्य**=आज **शिवेभिः**=कल्याणों के द्वारा, शुभकर्मों के द्वारा **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित करनेवाला हो। और **नः वृधे**=तू हमारे वर्धन के लिए हो, अर्थात् अपने आदर्श जीवन से लोगों पर यह प्रभाव डालनेवाला बन कि 'प्रभुभक्तों का जीवन इस प्रकार सुन्दर हुआ करता है'।

भावार्थ—प्रभुभक्त अपने सुन्दर जीवन से प्रभु के यश का वर्धन करनेवाला होता है। वह क्रोधादि से धर्षित नहीं होता, ज्ञानी बनता है, रोगों से अहिंसित होता है, चमकता है, बल का धारण करता है, सब दिशाओं को चमकानेवाला बनता है, मनुष्य के जीवन में आनेवाले भयों से ऊपर उठता है, शिव भावनाओं से युक्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आचार्य का कर्तव्य

बृहस्पते सवितर्बोधयैनꣳसꣳशितं चित्सन्तराꣳसꣳशिशाधि।
वर्धयैनं महते सौभगाय विश्वऽएनमनु मदन्तु देवाः॥८॥

१. 'अग्नि' गतमन्त्रों में वर्णित जीवन को बनाने के लिए आचार्य से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते, ज्ञान के स्वामिन्! **सवितः**=ज्ञान के बीज को विद्यार्थी के मस्तिष्क में बोनेवाले आचार्य! **एनम्**=इस तेरे समीप प्राप्त हुए-हुए विद्यार्थी को **बोधय**=तू उद्बुद्ध ज्ञानवाला कर, इसे ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देनेवाला तू हो। २. **संशितम् चित्**=माता-पिता के द्वारा शिक्षित किये हुए को भी **सन्तराम्**=अब खूब ही **संशिशाधि**=सम्यक्तया शिक्षित कर। इसक जीवन को संयत Disciplined बनाने का ध्यान कर। ३. **एनम्**=इसको **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। इसे इस प्रकार शिक्षित कीजिए कि यह संसार में आकर महनीय, पूजनीय, अर्थात् उत्तम मार्गों से कमाये गये ऐश्वर्य को अर्जित करनेवाला हो। ४. इसके जीवन को ऐसा बनाइए कि समावृत्त होने पर **देवाः**=सब विद्वान् **एनम् अनु**=इसका लक्ष्य करके **मदन्तु**=हर्ष को प्राप्त हों। इस ज्ञानपूर्ण, व्रती व अर्जनक्षम जीवन को देखकर सभी को प्रसन्नता हो।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में ज्ञान (Knowledge) शिक्षा (Education) व अर्जनक्षमता (सौभाग्य) को पैदा करना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

भय से मुक्ति

अमुत्रभूयादध यद्यमस्य बृहस्पतेऽअभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥९॥

१. हे **बृहस्पतेः**=ज्ञान के स्वामी आचार्य! आप अपने उपनीत इस शिष्य को **अमुत्रभूयात्** सदा परलोक में होने से **अमुञ्चः**=छुड़ाइए, अर्थात् यह प्रतिक्षण परलोक का ही ध्यान न करता रहे, यह इस लोक का भी ध्यान करे। २. **अध**=और **यत्**=जो **यमस्य**=यम का, मृत्यु की देवता का भय है उससे भी, आप इसे छुड़ाइए। यह मौत से ही न डरता रहे। ३. हे आचार्य! इसे आप (क) **अभिशस्तेः**=लोकापवाद से मुक्त कीजिए, (ख) साथ ही 'अभिशस्तेः अमुञ्चाः' का यह भी अर्थ है कि इसे लोकापवाद प्राप्त न हो। ४. **अश्विना**=प्रणापान जो **देवानाम् भिषजा**=देवों के वैद्य हैं, देवलोग दवाइयों पर आश्रय न करके प्राणापान की शक्ति का ही आश्रय करते हैं, वे प्राणापान **शचीभिः**=अपनी शक्तियों के द्वारा हे **अग्ने**=विद्यार्थी की उन्नति के साधक आचार्य! **अस्मात्**=इससे **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहताम्**=दूर करें। (प्रति प्रेरयताम् अन्यत्र नयताम्—उ०)।

भावार्थ—हम सदा परलोक का ही ध्यान न करते रह जाएँ, यमजनित मृत्यु से न डरते रहें, लोकापवाद के भय से मुक्त हों। प्राणापान ही हमारे वैद्य हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्+उत्तर+उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सदा डरते न रहकर **वयम्**=हम **उत् तमसः परि** उत्कृष्ट प्रकृति के बन्धन को छोड़कर, प्रकृति से ऊपर उठकर आगे बढ़ें। प्रकृति को पूर्णतया छोड़ने का देहवान् के लिए सम्भव नहीं, परन्तु इसमें उलझना भी सर्वथा हेय है। 'प्रकृति निकृष्ट हो' यह बात नहीं, भौतिक शरीर के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, परन्तु इससे ऊपर उठना ही ठीक है। २. इससे ऊपर उठकर **उत्तरम् स्वः**=तुलना में अधिक उत्कृष्ट

प्रकाशमय जीव को, अर्थात् आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए आगे बढ़ें। प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव उत्कृष्टतर है। प्रकृति जड़ है, जीव पूर्ण चैतन्य न होते हुए भी चैतन्य कर्त्ता तो है ही। ३. यह आत्मदर्शी पुरुष कहता है कि हम **देवत्रा देवम्** =देवों में भी देव, देवों को भी बल प्राप्त करानेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा को जो **सूर्यम्**=सूर्य की तरह देदीप्यमान है, **अगन्म**=प्राप्त हों। ४. मन्त्र में 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द प्रकृति, जीव व परमात्मा का संकेत कर रहे हैं। प्रकृति उत्कृष्ट है, जीव उत्कृष्टतर है और परमात्मा उत्कृष्टतम। प्रकृति 'सत्' है जीव 'सत्+चित्' है और परमात्मा 'सत्+चित्+आनन्द' है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट प्रकृति का उत्तम प्रयोग करते हुए इससे ऊपर उठें, अपने प्रकाशमयरूप को देखते हुए ज्योतियों में सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा के समीप पहुँचने के लिए यत्नशील हों। वही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चमकता हुआ (सुप्रतीक)

ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीꣳष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः॥११॥

१. **अस्य अग्नेः**=इस उत् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम की ओर जानेवाले अग्नि की **समिधः**=दीप्तियाँ **ऊर्ध्वा भवन्ति**=उत्कृष्ट होती हैं। इसकी एक-एक इन्द्रिय शक्ति-सम्पन्न होती है, सब इन्द्रियाँ दीप्त प्रतीत होती हैं। स्वास्थ्य की दीप्ति इसे चमकानेवाली होती है। ३. इस अग्नि की **शुक्रा**=अत्यन्त शुद्ध **शोचींषि**=मानस पवित्रताएँ, मानस संकल्पों की शुद्धता में **ऊर्ध्वा**=अत्यन्त उत्कृष्ट होती हैं। इसका शरीर नीरोग होता है तो इसका मन भी पूर्ण निर्मल होता है। ३. इस शारीरिक स्वास्थ्य व मानस निर्मलता के कारण **सुप्रतीकस्य सूनोः**=अत्यन्त प्रसन्नवदनवाले व्यक्ति का ज्ञान **द्युमत्तमा**=अत्यन्त द्युतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रगतिशील जीव की इन्द्रियाँ शक्तियों से चमकती हैं, इसकी मानस पवित्रताएँ, इसका ज्ञान अत्यन्त दीप्त होते हैं। इस प्रकार शरीर व चमकते हुए मस्तिष्कवाला यह अग्नि चमकते हुए मुखवाला व प्रसन्नवदन होता है।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥१२॥

१. यह 'अग्नि' **तनूनपात्**=अपने शरीर को न गिरने देनेवाला है। सात्त्विक व पौष्टिक भोजनों का सेवन करने से यह शरीर को ढीला नहीं होने देता। २. **असुरः**=(असुमान् प्राणवान्—उ०) यह प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है। यह प्राणशक्तिप्रद भोजनों का सेवन करता है और संयमी जीवन बिताता हुआ प्राणशक्ति में कमी नहीं आने देता। ३. **विश्ववेदाः**=सब आवश्यक धनों का अर्जन करता है और सम्पूर्ण ज्ञानवाला होता है। ४. **देवः**= दानादि गुणयुक्त होता है। 5. देवेषु देवः। यह **पथः**=अपने जीवन-मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से और **घृतने**=(घृ क्षरण) मलों के क्षरण, अर्थात् नैर्मल्य से तथा (घृ दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से **अनक्तु**=अलंकृत करे, अर्थात् इसके सारे कार्यों में माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति का पुट हो।

भावार्थ—हम शरीर को स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाएँ, ज्ञानी व धनी बनें, देववृत्ति-वाले, देवों के भी देव बनें। हमारे व्यवहार मुधर, निर्मल व समझदारी को लिये हुए हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

विश्वारः= सबसे वरणीय

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशꣳसो अग्ने। सुकृद्देवः सविता विश्ववारः॥१३॥

१. **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने श्रेष्ठतम कर्मों को **नक्षसे**=तू व्याप्त करता है अथवा माधुर्य से तू उत्तम कर्मों की ओर जाता है (नक्ष गतौ), सदा उन कर्मों में लगा रहता है। २. उन कर्मों को तू किसी के दवाब से नहीं करता। **प्रीणानः**=प्रियता व तृप्ति का अनुभव करता हुआ तू उन कर्मों की ओर जाता है और इसीलिए **नराशंसः**=मनुष्यों से तू स्तुति किया जाता है। प्रसन्नतापूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति क्यों लागों की प्रशंसा का पात्र न होगा? ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! इस प्रकार तू **सुकृत्**=सदा शोभन कर्मों को करनेवाला है। **देवः**=दीप्तिमान् होता है। **सविता**=ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले निर्माण के ही कार्यों में तू लगता है, राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाता है और **विश्ववारः**=सबका वरणीय बनता है और सबके हित के कार्यों का ही वरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—'अग्नि' वह है जो यज्ञादि कार्यों को प्रसन्नता व मधुरता के साथ करता है। सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, शोभनकारी, दीप्तिमान्, उत्पादक व विश्ववरणीय होता है।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**वह्निः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रभु—प्राप्ति के साधन

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा। अग्निꣳस्रुचोऽअध्वरेषु प्रयत्सु॥१४॥

१. **अयम्**=यह 'अग्नि' **अच्छ एति**=उस प्रभु की ओर जाता है। किन साधनों से? (क) **शवसा**=अपने बल से। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=यह आत्मा निर्बल से तो लभ्य नहीं है, (ख) **घृतेन**=मलों के क्षरण द्वारा निर्मल मन से। मलिन मन में प्रकाश नहीं दिखता, (ग) **घृतेन**=(दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से। सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही प्रभु का दर्शन होगा **'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्यया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**। (घ) **ईडानः**=(ईड् स्तुतै=स्तुति करता हुआ ही मनुष्य प्रभु का दर्शन करता है, (ङ) **वह्निः**=जो अपने नियत कर्म का ठीक वहन करता है। अकर्मण्य न बनकर प्रत्येक कर्म को फल-प्राप्तिपर्यन्त चलाता ही है, (च) **नमसा**=नमन के द्वारा। अभिमानी को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. यह प्रभु की ओर इस प्रकार जाता है जैसे **प्रयत्सु अध्वरेषु**=यज्ञों के प्रज्वलित होने पर **स्रुचः**=चम्मच आदि **अग्निम्**=अग्नि की ओर जाते हैं। यहाँ खाली चम्मच अग्नि की ओर नहीं जाता, घृत से भरा हुआ चम्मच ही अग्नि की ओर जाता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य, ज्ञान व नैर्मल्य की दीप्ति से परिपूर्ण मनुष्य ही प्रभु की ओर जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर जाने के लिए आवश्यक है कि (क) हम बलवान बनें, (ख) नैर्मल्य व दीप्तिवाले हों, (ग) कार्यभार का उठानेवाले हों, (घ) नम्र हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चेतिष्ठ बनना

स यक्षदस्य महिमानमग्नेः सऽईं मन्द्रा सुप्रयसः। वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च॥१५॥

१. **सः**=यह गत मन्त्र में वर्णित साधनों का प्रयोग करके प्रभु के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करनेवाला व्यक्ति **अस्य अग्नेः**=इस सर्वाग्रणी, सबकी उन्नतियों के साधक प्रभु की **महिमानम्**=महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। प्रभु-सम्पर्क से यह उपासक भी

प्रभु-जैसा बन जाता है। २. **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **सुप्रयसः** (प्रयस्=अन्न)=उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले की **मन्द्रा**=हर्षजनक वृत्तियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से उसके चित्तम में सदा आह्लादमयी वृत्ति बनी रहती है। राजसी भोजन उसके मन को राग-द्वेष से ही भरेगा और तामसी अन्न के सेवन के परिणामस्वरूप उसे आलस्य, प्रमाद व निद्रा के रोग घेरे रहेंगे। ३. इस प्रकार यह प्रभु- सम्पर्क से प्रभु की महिमा को अपने साथ जोड़नेवाला बनता है और सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस प्रसाद को पाने के लिए यनशील होता है, परिणामतः **वसुः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है **चेतिष्ठः**=अधिक-से-अधिक चेतनावाला होता है, **वसुधातमः च**=और (धनानाम् दातृतमः-उ०) धनों का अतिशयेन दान देनेवाला होता है।

भावार्थ-प्रभु-सम्पर्क से हम प्रभु की महिमा को प्राप्त करें। सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस आह्लाद का लाभ करें। उत्तम निवासवाले, ज्ञानी व धनों का खुब दान करनेवाले हों।

ऋषिः-**अग्निः**। देवता-**देव्यः**। छन्दः-**निचृदुष्णिक्**। स्वरः-**ऋषभः**।

देवों की अनुकूलता

द्वारो॑ दे॒वीरन्व॑स्य॒ विश्वे॑ व्र॒ता द॑दन्तेऽअ॒ग्नेः। उ॒रु॒व्यच॑सो॒ धाम्ना॒ पत्य॑मानाः॥१६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की महिमा को अपने साथ सम्पृक्त करनेवाले **अस्य अग्नेः**=इस प्रगतिशील जीव के **विश्वे**=सब देव **देवी द्वारः अनु**=दिव्य द्वारों के अनुकूल होते हैं। जैसे शरीर में अग्निदेव वाणी के रूप से रहता है, सूर्य चक्षु के रूप से तथा अन्य देव भी भिन्न इन्द्रिय-द्वारों के रूप में इस शरीर में रह रहे हैं, अतः इन देवों का शरीर के दिव्य द्वारों से किसी प्रकार का विरोध नहीं। इन दैवों का इस अग्नि के दिव्य द्वारों के साथ सदा आनुकूल्य बना रहता है। यह अनुकूलता ही इन इन्द्रियों का पूर्ण स्वास्थ्य है। यही 'सुख'=इन्द्रियों का ठीक होना है। इनकी प्रतिकूलता में इन्द्रियों की स्थितिविकृत होती है और यही 'दुःख' है। २. प्रगतिशील जीव **व्रता ददन्ते**=अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाले व्यक्ति ही उन्नत होते हैं। ३. ये व्रतों के धारण करनेवाले अग्नि **उरुव्यचसः**=बड़ी व्यापकतावाले होते हैं। इनके जीवनों में संकुचितता नहीं होती और ४. वे **धाम्ना पत्यमानाः**=तेजों से ऐश्वर्यशाली बनते हैं। इनको प्रत्येक इन्द्रिय की तेजस्विता प्राप्त होती है। ये धनों से ऐश्वर्यशाली बनने की बजाय तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

भावार्थ- 'अग्नि' को देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है, ये व्रतों को धारण करते हैं, व्यापक मनोवृत्तिवाले व तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

ऋषिः-**अग्निः**। देवता-**यज्ञः**। छन्दः-**विराडुष्णिक्**। स्वरः-**ऋषभः**।

यज्ञ की अहिंसकता (अध्वरता)

तेऽअ॑स्य॒ योष॑णे दि॒व्ये न योना॑ऽउ॒षासा॒नक्ता॑। इ॒मं य॒ज्ञम॑वतामध्व॒रं नः॥१७॥

१. **अस्य**=इस 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव के **योना**=घर में **ते**=वे **दिव्ये न योषणे न**=दिव्य पत्नियों के समान **उषासानक्ता**=दिन और रात **इमम् यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अवताम्**=रक्षित करें। उस यज्ञ को रक्षित करें जो **नः**=हमारी **अध्वरम्**=न हिंसा होने देनेवाला है। २. घर में पत्नी 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र के अनुसर यज्ञ में संयोग देने के लिए ही तो है। 'दिव्ये' विशेषण पत्नी की अभौतिक वृत्ति का संकेत देता है। संसार के भोगों में अनासक्ति हाने पर ही यज्ञियवृत्ति का विकास सम्भव है। 'दिन-रात' हमारी दिव्य

पत्नियों के समान हों और ये हमारे घरों में निरन्तर यज्ञ को अविच्छिन्न रक्खें, अर्थात् हमारे घरों में प्रातः-सायं यज्ञ अवश्य चले। ३. अथर्ववेद के अनुसार, **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता'** १९।५५।३ सायंकाल किया हुआ अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य को देनेवाला होता है और **'प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'** १९।५५।४ प्रातःकाल में किया हुआ अग्निहोत्र सायंकाल तक सौमनस्य देनेवाला होता है। इस प्रकार ये **उषासानक्ता**=दिन-रात दिव्य पत्नियों को कहते हैं कि **'वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम'** १९।५५।४=हे अग्ने! तू सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक वसुओं को देनेवाला है। हम तेरा समिन्धन करते हुए सौ वर्षपर्यन्त वृद्ध हों, फूलें-फलें।

भावार्थ—हम घरों में दिन-रात यज्ञ करनेवाले हों। ये यज्ञ हमारे लिए अहिंसक बनें। हमें अहिंसित करके ये हमारे फूलने-फलने का कारण बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दैव्य होता

दैव्या॑ होता॑राऽ ऊ॒र्ध्वम॑ध्व॒रं नो॑ऽग्नेर्जि॒ह्वाम॒भि गृ॑णीतम्। कृ॒णु॒तं नः॒ स्वि॑ष्टिम्॥१८॥

१. हे प्राणापानो! **दैव्या होतारा**=प्राणापान **नः**=हमारे **अध्वरम्**=हिंसा न करनेवाले यज्ञ को **ऊर्ध्वभ् कृणुतम्**= उत्कृष्ट करें, अर्थात् हमारे जीवन में यज्ञ को प्रधानता प्राप्त हो। **अग्नेः**=मुझ प्रगति के पथ पर प्रस्थान की कामनावाले की **जिह्वाम्**=जिह्वा को **अभिगृणीतम्**=स्तुति करनेवाला बनाओ। मेरी जिह्वा दिन-रात (अभि=दोनों ओर, जगारित में व स्वपन में भी) प्रभु का स्तवन करनेवाली हो। ३. हे प्राणपानो! **नः**=हमारी **स्विष्टिम्**=उत्तम इष्टि को, इच्छा व गति को **कृणुतम्**=करो। हमारे मनों में सदा शुभ इच्छाएँ ही उत्पन्न हों, हमारे संकल्प शिव ही हों। ४. हमारे प्राणापान ''दैव्य होता'' बनें—देव को प्राप्त करानेवाले हों और हममें त्याग की वृत्ति को पनपानेवाले हों, ये सदा त्यागपूर्वक ही अदन करें। वस्तुतः होतृत्व ही इन्हें दैव्य बनाता है। जो जितना त्याग की वृत्तिवाला बनता है उतना ही प्रभु के समीप पहुँचनेवाला होता है। प्रभु की प्राप्ति के लिए भौतिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक है। शरीर में अन्य इन्द्रियों की तुलना में प्राणापान का होतृत्व उत्कृष्ट है, अतः ये प्राणापान **दैव्य**=देव को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम में यज्ञियवृत्ति हो, हमारी जिह्वा प्रभु का नामोच्चारण करे और हमारी इच्छाएँ व क्रियायें उत्तम हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

तीन देवियाँ

ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दꣳ स॑द॒न्त्विडा॒ सर॑स्वती॒ भार॑ती। म॒ही गृ॒णा॒ना॥१९॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तिस्रः देवीः**=ये तीन देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **इदं बर्हिः**=इस मेरे वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**=आसीन हों। वस्तुतः दिव्य भावनाओं के बीज बोने के लिए हृदयक्षेत्र को तैयार करना नितान्त आवश्यक है। कोई भी बीज खेत को तैयार करके ही बोया जाता है। इस हृदयक्षेत्र में भी मन्थन=चिन्तनरूप हल चलाके वासनारूप घास-फूस को निकाल देने पर ही उत्तम गुणों के बीज बोये जा सकते हैं। २. ये तीन देवियाँ क्रमशः **इडा**=पृथिवीस्थानीय

देवता है, **सरस्वती**=अन्तरिक्षस्थानीय है और **भारती**=द्युलोकस्थानीय देवता है। 'इडा' निघण्टु में 'अन्न' का नाम है (२.६) जीवनयज्ञ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग 'इडा' का है। वस्तुतः इस अन्न पर ही जीवन का निर्माण निर्भर करता है—"जैसा अन्न वैसा मन' =You are what you eat ३. मन सरस्वान् है और उस मन की शक्ति 'सरस्वती' है। इसके बाद 'भारती' 'भरत आदित्यः तस्य भाः भारती' नि० ८।१'=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान है। एवं, अग्नि चाहता है कि उसके हृदय में ये तीन बातें अङ्कित हो जाएँ कि (क) मैं सदा यज्ञिय सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला बनूँगा, (ख) मैं अपनी मानस शक्ति को सदा प्रबल बनाऊँगा तथा (ग) मेरा ज्ञान सूर्य के समान चमकनेवाला होगा। ४. मेरी ये सब देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **मही**=(मह पूजायाम्) महनीय-पूजनीय हों तथा **गृणाना**=प्रभु का स्तवन करनेवाली हों। 'यज्ञिय अन्न' मेरे शरीर को स्वस्थ बनाए, मानस संकल्प मन को परिष्कृत करे तथा ज्ञान मुझे पवित्र बनाकर प्रभु-प्रवण करे।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'यज्ञिय अन्न', 'मानस शक्ति' व 'सूर्यसम देदीप्यामान ज्ञान' तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**त्वष्टाः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

कैसा धन?

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु त्वष्टा सुवीर्यम्। रायस्पोषं वि ष्यतु नाभिमस्मे ॥२०॥

१. जीवन के उत्थान में धन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः अग्नि=प्रगतिशील जीव इस मन्त्र में प्रार्थना करता है कि **त्वष्टा**=देवशिल्पी=सब धनों का निर्माण करनेवाला प्रभु **नः**=हमें **तत्**=उस **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **विष्यतु**=विशेषरूप से दे, छोड़े, अर्थात् हमपर उस धन की वर्षा करे जो (क) **तुरीपम्**=(तुरा वेगेन आप्नोति प्रापयति) शीघ्रता से कार्यों को सिद्ध करनेवाला है अथवा **तुर**=(Great strength), वेद में प्रबलशक्ति का वाचक हो, उस 'तुरीं पाति' तुरी की रक्षा करनेवाला है। प्रभु हमें वह धन दें जोकि हमारी शक्ति की रक्षा करता है। (ख) **अद्भुतम्**=यह धन अभूतपूर्व हो, महान् हो। ऐसा हो जैसाकि पहले किसी ने प्राप्त नहीं किया। (ग) **पुरुक्षु**=यह धन 'पुरुक्षु' पालन-पूरण करनेवाला हो अथवा यह 'पुरूणां क्षु' बहुत के निवास का कारण हो, अर्थात् जो केवल हमारे अपने लिए ही विनियुक्त न हो जाए। (घ) **सुवीर्यम्**=यह हमें उत्तम पराक्रमवाला बनाए। इसके द्वारा हम अपना आहार-विहार इतना सुन्दर बना सकें कि हम उत्तम वीर्य सम्पन्न हो पाएँ और (ङ) अन्त में यह धन **अस्मे**=हमारे लिए **नाभिम्** (नह बन्धने)=परस्पर बन्धन का कारण हो। हमें एक-दूसरे के साथ बाँधनेवाला हो, हमारे बन्धुत्व को करनेवाला हो, हमें परस्पर लड़ा न दे। २. इन गुणों से युक्त धन को प्राप्त करके ही हम अपने जीवनों को धन्य बना पाते हैं। अन्यथा विपरीत धन हमारे निधन का कारण हो जाता है। इस उत्तम धन को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें, आगे बढ़नेवाले बनें। इस बात का सबसे अधिक ध्यान करें कि यह हमारा धन 'पुरुक्षु' बहुत को निवास देनेवाला हो। ऐसा होने पर यह धन हमें 'प्रजापति' बनाएगा और इस प्रजापति को प्रभु अगले मन्त्र में दान देने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें, वह धन जो कार्यसाधक है, शक्ति की रक्षा करनेवाला है, अभूतपूर्व है, बहुत का निवासक है और उत्तम वीर्यवान् बनाता है। प्रभु हमें वह धन दें जो हमें परस्पर बाँधनेवाला हो, न कि लड़ानेवाला।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रजापति की दानवृत्ति

वन॑स्पतेऽव॑ सृजा॒ ररा॑ण॒स्त्मना॑ दे॒वेषु॑। अ॒ग्निर्ह॒व्यꣳश॑मि॒ता सू॑दयाति॥२१॥

१. प्रभु प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि प्रजापति से कहते है, हे **वनस्पते**=(वन संभक्ति) सम्भजनीय धन के रक्षक! तू इस धन का रक्षक है, धन तो मेरा (प्रभु का) है, तू इसका स्वामी नहीं, रक्षकमात्र है, यह धन तुझे सम्भजन-सम्यक् रीति से बाँटने के लिए दिया गया है, **अवसृज**=तू इसको भिन्न-भिन्न स्थानों में देनेवाला बन। **रराणः**=देना तेरा स्वभाव हो (रादाने) २. **त्मना**=तू स्वयं देनेवाला बन। तुझे औरों से प्रेरणा दिये जाने की आवश्यकता न हो। **देवेषु**=तेरी यह दानक्रिया देवों के विषय में हो। तू देवों के प्रति देनेवाला बन। जिससे इस धन का विनियोग ठीक ही हो। बिना सोचे अपात्र में दिया गया धन तुझे भी 'तामसदाता' बना देगा। ३. प्रभु प्रजापति से कहते हैं कि तूने यह भी ध्यान करना कि **शमिता**=रोगों को शान्त करनेवाला **अग्निः**=यह यज्ञ की अग्नि **हव्यम्**=तुझसे होमे गये हव्य पदार्थों को सूदयाती सब देवों में क्षरित करता है, सूक्ष्म कणों में विभक्त करके इस हव्य को सब देवों में फैला देता है (द०) और इस प्रकार इस सारे वायुमण्डल को रोगकृमियों से शून्य कर देता है।

भावार्थ—हम धनों को देवों को देनेवाले बनें। यज्ञों में हव्य-पदार्थों का प्रयोग करके वायुमण्डल को रोगकृमिशून्य करते हुए प्रजापति बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दान के तीन स्थान

अग्ने॒ स्वाहा॑ कृणुहि जातवेद॒ऽइन्द्रा॑य ह॒व्यम्। विश्वे॑दे॒वा ह॒विरि॒दं जु॑षन्ताम्॥२२॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **स्वाहा कृणुहि**='अग्नये स्वाहा' आदि स्वाहाकार मन्त्रों से स्वाहा करनेवाला बन। यह ध्यान रख कि अपना त्याग 'स्वस्य हा' अपने लिये त्याग है, अर्थात् इस त्याग से हमारा अपना ही लाभ है। २. हे **जातवेद**=उत्पन्न धनवाले व्यक्ति! तू **इन्द्राय**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करेनवाले राजा के लिए **हव्यम्**=कर (Tax) को **कृणुहि**=स्वयं देनेवाला हो, अर्थात् तूने धन कमाया है, तू जातवेद (विद् लाभे) बना है, तो इस धन में से राष्ट्रकार्य के सञ्चालन के लिए उचित कर तुझे देना ही चाहिए। ३. तुझसे दी हुई **इदम् हविः**=इस हवि को **विश्वेदेवाः**=सब देव, दिव्य वृत्तिवाले लोग **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् तेरे घर में 'अतिथियज्ञ' नियमपूर्वक चले। 'अग्ने स्वाहा कृणुहि' शब्दों से देवयज्ञ का निर्देश हुआ है, 'इन्द्राय हव्यम्' से ब्रह्मयज्ञ का, चूँकि करमें दिये गये धन से ही राष्ट्र में ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रचार होगा तथा 'विश्वदेवाः जुषन्ताम्' शब्दों से अतिथियज्ञ ध्वनित हुआ है। एवं, इन तीन यज्ञों में हमारा धन उदारतापूर्वक व्ययित हो। 'विश्वेदेवाः' शब्दों में माता-पिता भी देव होने से आ जाते हैं, अतः पितृयज्ञ भी यहाँ सङ्कलित हो जाता है।

भावार्थ—हम धन को कमाएँ और उस धन को देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व अतिथि आदि यज्ञों में विनियुक्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वसिष्ठ का सुन्दर जीवन

पीवो॑ऽअन्ना रयि॒वृधः॑ सु॒मे॒धाः श्वे॒तः सि॑षक्ति नि॒युता॑मभि॒श्रीः।
ते वा॒यवे॒ सम॑नसो॒ वि त॑स्थु॒र्विश्वे॒न्नरः॑ स्वप॒त्यानि॑ चक्रुः॥२३॥

१. **पीवो अन्नाः**=(पुष्टान्नम् यस्य) पुष्टिकम अन्नवाला, अर्थात् जो सदा पौष्टिक अन्न का ही सेवन करता है, जिसके भोजन का मापक पौष्टिकता है, नकि स्वाद। २. **रयिवृधः** धन का वर्धन करनेवाला, संसार-यात्रा के लए आवश्यक धन जुटानेवाला ३. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला ४. **श्वेतः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गतिशीलता व क्रिया द्वारा अपनी शक्तियों का वधर्न करनेवाला ५. **नियुताम्**=(अश्वानाम्) इन्द्रियरूप घोड़ों की **अभिश्रीः**=दोनों ओर शोभावाला, जिस समय ज्ञानवाहिनी नाड़ियों से प्रभाव अन्दर जा रहे होते हैं और इसके बाद जब क्रियावाहिनी नाड़ियों से ये प्रभाव बाहर की ओर आते हैं-इन दोनों अवसरों पर (अभि) इन्द्रियों की क्रिया को बड़ी शोभा से करनेवाला यह **वसिष्ठ**=उत्तम निवासवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ही **सिषक्ति**=(सेवते) प्रभु का सेवन व उपासन करता है। ६. **ते**=इस प्रकार के उपासक ही **वायवे**=उस सारे ब्रह्मण्ड को गति देनेवाले प्रभु के लिए **समनसः**=(सहमनसः) सदा मन के साथ होते हुए, अर्थात् मन को न भटकने देते हुए, **वितस्थुः**=विशेषरूप से स्थित होते हैं, अर्थात् वे ही प्रभु के सच्चे उपासक बनते है। ७. **नरः**=ये अपने को उन्नति-पथ पर प्राप्त करानेवाले लोग **इत्**=निश्चय से **विश्वा**=सब **स्वपत्यानि**=उत्तम सन्तानों के निर्माण करनेवाले कर्मों को **चक्रुः**=करते हैं। स्वयं अपने जीवनों को सुन्दर बनाते हुए ये सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ-'वसिष्ठ' का अपना जीवन उत्तम होता है, वह सन्तानों को भी उत्तम बनाता है। यह अन्न का पौष्टिकता के दृष्टिकोण से सेवन करता है, धन का उचित वर्धन करनेवाला होता है, उत्तम बुद्धिवाला, क्रियाशीलता से अपना वर्धन करनेवाला, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शोभायुक्त बनानेवाला होता है। यही इसकी 'उपासना' होती है।

ऋषिः-**वसिष्ठः**। देवता-**वायुः**। छन्दः-**त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**॥

धनार्जन व धन का दान

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम्।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वाऽउत श्वेतं वसुधितिं निरेके॥२४॥

१. **इमे रोदसी**=ये द्यावापृथिवी, मस्तिष्क तथा शरीर **नु**=अब **यम्**=जिसको **राये**=धन के लिए **जज्ञतुः**=(उत्पादयामासतुः, म०) विकसित शक्तिवाला करते हैं, अर्थात् स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क, इस वसिष्ठ को धन-उत्पादन के योग्य बनाते हैं। २. इस **देवम्**=(दिव=व्यवहार) व्यवहार को उचित प्रकार से करनेवाले पुरुष को **देवी**=प्रकाशमयी **धिषणा**=बुद्धि अथवा व्यवहारकुशल वाणी **राये**=ऐश्वर्य के लिए **धाति**=स्थापित करती है। यह बुद्धि से तथा वाणी के ठीक प्रयोग से उचित धन कमानेवाला बनता है। ३. **अध**=अब धन कमाने के बाद इसके **स्वाः**=आत्मा के वश में हुए-हुए, अपने बने हुए ये **नियुतः**=इन्द्रियरूप घोड़े **वायुम्**=आत्मतत्त्व को **सश्चत्**=सेवित करते हैं, अर्थात् यह पुरुष धन में नहीं फँस जाता, धन कमाते हुए भी यह अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है **उत**=और **निरेके**=निश्चितरूप से इस धन के विरेचन, दान करने पर उस **श्वतेम्**=गति के द्वारा वर्धन करनेवाले **वसुधितिम्**=सब वसुओं को धारण करनेवाले, सब धनों के देनेवाले उस प्रभु को ये सेवित करते हैं। संक्षेप में, यह 'वसिष्ठ' धन तो कमाते हैं, परन्तु धन को कमाते समय भी उसमें फँसते नहीं, कुछ अध्यात्मवृत्ति के बने रहते हैं और धन का दान करके प्रभु के सच्चे उपासक बन जाते है। इनको यह भूलता नहीं कि सब वसुओं का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं, वे प्रभु ही **श्वेत**=गति द्वारा हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ– 'वसिष्ठ' अपने मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाता है, अपनी बुद्धि व वाणी को व्यवहारकुशल करता है और इस प्रकार धन का अर्जन करता है, परन्तु इस धनार्जन को करते हुए भी अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है और इस धन का दान करके प्रभु का ही बन जाता है। उस प्रभु को ही सब धनों का दाता व वर्धन करनेवाला मानता है।

ऋषिः–**हिरण्यगर्भः**। देवता–**प्रजापतिः**। छन्दः–**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

देवों का प्राण

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानाꣳसमवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२५॥

१. गतमन्त्र का वसिष्ठ प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु को सम्पूर्ण प्रकृति के गर्भ में देखता है और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पिण्डों को प्रभु के गर्भ में। इस प्रकार प्रभु की हिरण्यगर्भ रूप में उपासना करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यगर्भ' ही हो जाता है। यह ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है कि **यत्**=अब **बृहतीः**=ये अत्यन्त बढ़े हुए महान् **आपः**=व्यापक तत्त्व (साम्यावस्थारूप में प्रकृति) इस जगत् का उपादानकारणभूत एक फैला हुआ मेघ (Nebula=नभस्), **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु को **गर्भं दधाना**=अपने गर्भ में धारण करते हुए **अग्निम्**=अग्नि आदि देवों को–द्युलोक में सूर्यरूप से रहनेवाली, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथिवी पर अग्निरूप से रहनेवाली इस अग्नि को **जनयन्तीः**=पैदा करता हुआ **आयन्**=गति करता है। **ततः**=उस समय **देवानाम्**=इन सब देवों का **असुः**=प्राण **एकः**=यह अद्वितीय परमात्मा ही **समवर्त्तत**=होता है। वस्तुतः शरीर का वर्धन जैसे अन्तःस्थित आत्मतत्त्व पर निर्भर है, इसी प्रकार इस संसार के उपादानकारणभूत उस **आपः**=व्यापकतत्त्व का वर्धन अन्तःस्थित प्रभु पर निर्भर है। इन **आपः**=साम्यवस्थावाली प्रकृति से बने हुए इन सूर्यादि देवों का प्राण यह अद्वितिय परमात्मा ही है। उस प्रभु की दीप्ति से ही सूर्यादि ये सब देव दीप्त होते रहे हैं। २. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय महिमावाले **दैवाय**=दीप्तरूप प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से अथवा आत्मसमर्पण से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले हों।

भावार्थ–सृष्टि के मूल व्यापक तत्त्व में प्रभु गर्भरूप से स्थित न होते तो उस मूलतत्त्व से अग्नि आदि देवों की उत्पत्ति ही न होती। वे प्रभु ही इन सूर्यादि देवों के देवत्व का कारण हैं। उस अनिर्वचनीय महिमावाले देव के प्रति हम समर्पण द्वारा आराधना करनेवाले हों।

ऋषिः–**हिरण्यगर्भः**। देवता–**प्रजापतिः**। छन्दः–**त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

प्रभु की अध्यक्षता में

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देवऽएकऽआसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सृष्टि का मूलतत्त्वभूत व्यापक प्रकृति प्रभु की अध्यक्षता में इस संसार को जन्म देती है। **यः चित्**=जो निश्चय से **महिना**=अपनी महिमा से **आपः**=उस व्यापक मूलतत्त्व का **पर्यपश्यत्**=सम्यक्तया Supervise देखता है, जो तत्त्व **दक्षं दधानाः**=अपने अन्दर उस शक्ति के पुञ्ज प्रजापति प्रभु को धारण कर रहे हैं और **यज्ञम्**=इस संगत (not disunited) संसार को **जनयन्तीः**=जन्म दे रहे हैं। प्रकृतिगर्भ में प्रभु का निवास न हो तो प्रकृति इन चराचर पदार्थों को जन्म नहीं दे सकती, उस समय प्रकृति एक जड़ तत्त्व

(Inert matter) के रूप में ही पड़ी रह जाएगी, संसार न बनेगा। उस चेतन प्रभु की सर्वव्यापकता का ही यह परिणाम है कि यह सारा संसार एक संगत सृष्टि के रूप में उत्पन्न होता है, २. परमात्मा वह है **यः**=जो **देवेषु**=इन सूर्यादि देवों में **एकः**=अद्वितीय **अधिदेवः**=अधिष्ठातृ देव **आसीत्**=है। इन देवों को उसी से तो देवत्व प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। ३. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय, आनन्दस्वरूप **देवाय**=द्युतिमय प्रभु के लिए हम **हविषा**=समर्पण द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति से सम्बद्ध यह सृष्टि होती है। प्रभु देवों के भी देव हैं, उस प्रभु के प्रति समर्पण से हम प्रभु की पूजा करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुभोजस रयि

प्र याभिर्यासि दाश्वाꣳसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे।
नि नो रयिꣳसुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः॥२७॥

१. **वायो**=(वा गतिगन्धन्योः) सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले व सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **याभिः नियुद्भिः**=जिन नियुत् नामक अश्वों से **दावांसम्**=दान की वृत्तिवाले यजमान की **अच्छा**=ओर **इष्टये**=यज्ञों की सिद्धि के लिए **दुरोणे**=गृह में **प्रयासि**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हो। इन नियुतों के द्वारा **नः**=हमें **सुभोजसम्**=उत्तमता से हमारा पालन करनेवाले **रयिम्**=धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए तथा **वीरम्**=हमें वीर सन्तान **नि**=(युवस्व) प्राप्त कराइए, और **गव्यम्**=उत्तम गौवोंवाले **अश्व्यं च**=और उत्तम घोड़ोंवाले **राधः**=कार्यसाधक धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए। २. यहाँ मन्त्र में इन्द्रियाश्वों को 'नियुत्' कहा गया है, इन्हें निश्चयपूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' बुराई से दूर करना और अच्छाई में लगाना चाहिए। ३. घर के लिए 'दुरोण' शब्द का प्रयोग हुआ है, दुर्=बुराई का उसमें से 'ओण् अपनने' अपनयन करना है। घर वही है जिसमें से बुराई को दूर किया गया है। इस बुराई को दूर करने के लिए ही 'इष्टि' यज्ञों का घर में प्रचलन आवश्यक है। यज्ञिय वृत्ति उसी की बनती है जो 'दाश्वान्' देनेवाला होता है। इस देनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते है। ४. रयि व धन वही है जो हमारा उत्तमता से पालन करता है, 'सुभोजस्' है। दान की वृत्तिवाले होने पर पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। इन्हें वह सम्पत्ति प्राप्त होती है जो इनके घर में गौवों व अश्वों की कमी नहीं होने देती तथा इनके सब कार्यों को सिद्ध करनेवाली होती है 'राध् सिद्धौ'। ५. 'गव्यं व अश्व्यं' का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाती है तथा कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है। उस समय 'वीर' की भी भावना सन्तान न लेकर 'वीरता' ही लेना चाहिए। हम वही धन चाहते हैं जो (क) हमें वीर बनाये (ख) हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम करे तथा (ग) हमें उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला बनाये। इस प्रकार अपने निवास को उत्तम बनानेवाला यह व्यक्ति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त कराएँ (ख) हम घरों में यज्ञशील व दान देनेवाले बनें, (ग) हमें पालक धन प्राप्त हों, (घ) उस धन को प्राप्त हों, जो हमें वीर बनाये, हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को उत्तम करे। अथवा हमें वह धन चाहिए जिससे हमारे सन्तान वीर हों और हमारा घर गौवों व अश्वों से भरा-पूरा हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतिनी-सहस्त्रिणी (नियुत्)

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरꣳसहस्त्रिणीभिरुप याहि यज्ञम्।
वायोऽअस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥२८॥

१. हे **वायो**=संसार के सञ्चालक प्रभो! आप **शतिनीभिः**=सौ वर्षपर्यन्त अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाली तथा **सहस्त्रिणीभिः**=सदा प्रसन्नता (स+हस्) के साथ रहनेवाली **नियुद्भिः**=इन अश्वरूप इन्द्रियों के साथ **नः**=हमारे **अध्वरम्**=कुटिलता व हिंसा से रहित जीवन-यज्ञ को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होओ, अर्थात् प्रभुकृपा से हमें इस जीवन-यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए वे इन्द्रियाँ प्राप्त हों जो सौ वर्ष तक कार्य करनेवाली हों तथा सदा आनन्द के साथ अपने कार्य में लगी रहनेवाली हों। इन इन्द्रियों को प्राप्त करके हम अपने इस जीवन-यज्ञ को सचमुच 'अध्वर' कुटिलता व हिंसा से रहित बना सकें। २. **हे** वायो! **अस्मिन् सवने**=इस यज्ञात्मक जीवन में **मादयस्व**=हमें हर्ष को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यज्ञों में हम आनन्द का अनुभव करें। ३. **यूयम्**=आप **नः**=हमें **सदा**=सर्वदा **स्वस्तिभिः**=इन यज्ञों से सिद्ध होनेवाले अविनाशों व उत्तम स्थितियों द्वारा **पात**=पालित करो।

भावार्थ—(क) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम जीवनयज्ञ में शतवर्षपर्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कार्य की क्षमतावाली इन्द्रियों को प्राप्त करें। (ख) आप हमें यज्ञ में आनन्द को अनुभव करनेवाला बनाइए, हमारी रुचि यज्ञप्रवण हो, (ग) यज्ञों से हमारी स्थिति उत्तम हो और हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सुन्वन् का घर

नियुत्वान्वायवा गह्ययꣳशुक्रोऽअयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥२९॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र में आनन्द का अनुभव करता हुआ 'गृत्समद' बनता है 'गृणाति, माद्यति' स्तुति करता है और हर्षित होता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=सब गतियों को सिद्ध करनेवाले प्रभो! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले आप **आगहि**=मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त करूँ। २. **अयम्**=यह मैं **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुच गतौ) और गतिशीलता से दीप्त जीवनवाला होकर (शुच दीप्तौ) **ते अयामि**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। प्रभु को प्राप्त करने का यही मार्ग है कि वह गतिशील हो, गतिशीलता से शुद्ध जीवनवाला हो। ३. वे प्रभु **सुन्वतः**=यज्ञशील के अथवा अपने शरीर में सोम का (शक्ति का) सवन करनेवाले के **गृहम्**=घर को **गन्तासि**=प्राप्त होते हैं। मैं यज्ञशील बनूँगा व शक्ति का अपने में उत्पादन करनेवाला होऊँगा तो फिर क्यों न आपको प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ, (ख) हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करें, (ग) प्रभु यज्ञशील व शक्ति सम्पादन करनेवाले को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**पुरुमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

माधुर्य का शिखर

वायो शुक्रोऽअयामि ते मध्वोऽअग्रं दिविष्टिषु।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता॥३०॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' जब लोकहित में प्रवृत्त होता है तब वह 'पुरुमीढ'=बहुत पर सुखों की वृष्टि करनेवाला व 'अजमीढ' (अज गतिक्षेपणयोः)=क्रियाशीलता से बुराइयों को दूर करके कल्याण की वृष्टि करनेवाला बनता है और प्रभु से कहता है कि हे **वायो**= गतिशील प्रभो! **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुक गतौ) मैं **ते अयामि**=आपको प्राप्त होता हूँ। २. आपकी उपासना से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) ज्ञानयज्ञों में **मध्वाः अग्रम्**=माधुर्य के अग्रभाग को **अयामि**=प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् अत्यन्त माधुर्य से जनहित के लिए ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता हूँ, प्रजाओं में ज्ञान को फैलाने का प्रयत्न करता हूँ और इस ज्ञानविस्तार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को स्थिर बनाये रखता हूँ। ३. हे **देव**=सब ज्ञानदीप्तियों के देनेवाले प्रभो! आप ही **स्पार्हः**=स्पृहणीय हैं। चाहिए तो यही कि हम आपको प्राप्त करने का प्रयत्न करें, आपको प्राप्त कर लेने पर सब-कुछ प्राप्त हो ही जाता है। हे देव! **नियुत्वता**=उत्तम इन्द्रियोंवाले इस 'शरीर-रथ' के हेतु से **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइए। आपकी प्राप्ति में, आपकी उपासना में ही इन इन्द्रियाश्वों को निर्मल करने की शक्ति है। आप हमें इसलिए प्राप्त होओ कि हम **सोमपीतये**=सोम का पान कर सकें, शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रख सकें। आपके प्राप्त होने पर वासनाओं का सहज विनाश हो जाता है और यह वासना-विनाश शक्ति की रक्षा में सहायक होता है।

भावार्थ—हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों। ज्ञान प्रचार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को बनाये रक्खें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों।

ऋषिः—**अजमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुरुमीढ का प्रभु-स्तवन

वायुर॑ग्रेगा य॑ज्ञप्रीः सा॒कं ग॒न्मन॑सा य॒ज्ञम्। शि॒वो नि॒युद्भिः॑ शि॒वाभिः॑॥३१॥

१. **वायुः**=वे प्रभु सम्पूर्ण गति का स्रोत हैं। २. **अग्रेगाः**=वे प्रभु हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। हमारी सब प्रकार की उन्नति प्रभुकृपा से ही तो सिद्ध होती है। ३. **यज्ञप्रीः**=यज्ञों के द्वारा वे प्रभु प्रीणित होते हैं। हम यज्ञशील बनकर प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं। ४. वे प्रभु **मनसा साकम्**=मन के साथ **यज्ञम् गत्**=यज्ञ को प्राप्त हों, अर्थात् जब हम यज्ञ करें तब प्रभुकृपा से हमें ऐसा उत्तम मन प्राप्त हो कि हमारी यह यज्ञिय वृत्ति और बढ़ती जाए। ५. वे प्रभु **शिवाभिः नियुद्भिः**=सदा शुभ कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों से **शिवः**=हमारा कल्याण करेनवाले हैं। इन्द्रियों की उत्तमता में ही सुख है, सु+ख।

भावार्थ—प्रभु की आराधना के लिए हम यज्ञशील हों। 'यज्ञप्रीः' प्रभु को हम यज्ञ से ही आराधित कर सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

नियुत्वान्

वायो॒ ये ते॑ स॒ह॒स्रिणो॒ रथा॑स॒स्तेभि॒रा ग॑हि। नि॒यु॒त्वा॒न्त्सोम॑पीतये॥३२॥

१. प्रभु का स्तवन करता हुआ गृत्समद प्रार्थना करता है—**वायो**=हे सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **सहस्रिणः**=(स+हस्) प्रसन्नता से युक्त **रथासः**=ये शरीररूप रथ हैं **तेभिः**=उनके साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए, अर्थात् आपकी कृपा से हम उन शरीर-रथों को प्राप्त करें, जिनमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि सभी का विकास (हास) दीखता है, शरीर मुर्झाया-सा लगे, इन्द्रियाँ दुर्बल हों, मन मरा-सा हो और बुद्धि कुण्ठित

हो तो ऐसे शरीररूप रथ को प्राप्त करके हम क्या करेंगे? २. **नियुत्वान्**=हे प्रभो! आप प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले, अर्थात् हमें उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ों को प्राप्त करानेवाले होकर **सोमपीतये**=हमारे सोम की रक्षा के लिए होइए। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों, विषय-वासनाओं में विचरनेवाली न हों, और इस प्रकार हमारे सोम (वीर्य) की रक्षा हो सके। इस सोम की रक्षा से हमारा शरीर-रथ 'सहस्री' होगा, हास व विकासवाला होगा।

भावार्थ– हे प्रभो! आप हमें सब शक्तियों के विकास से युक्त शरीररूप रथ प्राप्त कराइए, हमारे इन्द्रियरूप अश्व भी उत्तम हों, वे वासनाओं के शिकार न हों, जिससे हम शक्ति को सुरक्षित कर सकें।

ऋषिः–**गृत्समदः**। देवता–**वायुः**। छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

ग्यारह, बाईस व तेतीस

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च ॥३३॥

१. हे **स्वभूते**=सम्पूर्ण जगद्रूपी स्वकीय विभूतिवाले प्रभो! यह सम्पूर्ण जगत् आपकी ही तो विभूति है। आप जिन **एकया च दशभिः च**=एक और दस, अर्थात् ग्यारह पार्थिव दिव्य शक्तियों से तथा **द्वाभ्याम् विंशती (त्या) च**=जिन बाइस (ग्यारह पार्थिव तथा ग्यारह अन्तरिक्षलोक की) दिव्य शक्तियों से तथा **तिसृभिः च त्रिंशता च**=जिन तेतीस (ग्यारह पार्थिव, ग्यारह अन्तरिक्ष तथा ग्यारह द्युलोकस्थ) दिव्य शक्तियों से **वहसे**=इस सृष्टियज्ञ को चला रहे हो, हे **वायो**=सृष्टि-सञ्चालक प्रभो! आप **ता**=उन शक्तियों को **इष्टये**=जीवन-यज्ञ के उत्तमता से सञ्चालन के लिए **इह**=यहाँ हमारे शरीर में **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के रूप से **विमुञ्च**=देनेवाले होओ। २. सृष्टि में तेतीस देव काम कर रहे हैं, वे सबके सब देव इस शरीर में भी रहते है, ये देव जब तक शरीर में ठीक कार्य करते रहते हैं तब तक मनुष्य पूर्ण स्वस्थ चलता है। जीवन-यज्ञ के ठीक चलने के लिए उन देवों का शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ठीक रूप से रहना आवश्यक है। 'अग्निदेव' शरीर में रूप से रहता है तो सूर्य चक्षुरूप से, दिशाएँ श्रोत्ररूप से और वायु प्राण के रूप से। इसी प्रकार इन सब देवों के निवास से ही यह शरीर-यज्ञ चल रहा है। ३. ब्रह्मण्ड की त्रिलोकी शरीर में इस रूप से है कि शरीर पृथिवी है, हृदय अन्तरिक्ष और मस्तिष्क द्युलोक है। इनमें ग्यारह-ग्यारह देवों का निवास है और वे देव इस शरीर में होनेवाले जीवनयज्ञ को चला रहे हैं। ये देव शरीर में नियुत् रूप से हैं, इन्द्रियाश्वों के रूप से हैं। इन्द्रियाश्व नियुत् हैं, क्योंकि इन्हें निश्चय से गुणों से युक्त व अवगुणों से वियुक्त करना है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। प्रभु हमें देवों को इन नियुतों के रूप में देनेवाले हों, जिससे हमारा निवास यहाँ उत्तम हो और हम मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

भावार्थ–प्रभुकृपा से हमारे शरीर में तेतीस देवों का उत्तम निवास हो, उस उत्तम निवासवाले हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः–**अङ्गिरसः**। देवता–**वायुः**। छन्दः–**निचृद्गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**।

त्वष्टा के जामाता का रक्षण

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। अवांश्स्या वृणीमहे॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे शरीर में तेतीस देव नियुतों के रूप में रह रहे होंगे तब हमारा अंग-प्रत्यंग सबल, स्वस्थ व सुन्दर बन जाएगा और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि

'अंगिरस' बनेंगे। यह अंगिरस प्रभुरक्षण की प्रार्थना इस रूप में करता है कि हे **वायो**=सम्पूर्ण सृष्टि के सञ्चालक! **ऋतस्पते**=सृष्टि के नियमों के स्वामिन्! **त्वष्टुः**='तूर्णमश्नुते'–नि० ८।१४। शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले तथा ('त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः'–नि० ८।१४) स्वाध्याय के द्वारा मस्तिष्क की दीप्ति का सम्पादन करनेवाले, (त्वष्टा देवशिल्पी) दिव्य गुणों के निर्माण के लिए यत्नशील जीव की **जामातः**=(जायाम् मिमीते) बुद्धिरूपी जाया (पत्नी) का निर्माण करनेवाले! **अद्भुत**=अभूतपूर्व, अनुपम प्रभो! **तव**=तेरे **अवांसि**=रक्षणों का **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरण करते हैं। प्रभु सृष्टि के सञ्चालक हैं (वायु), प्रभु ने ही सृष्टि के अन्दर कार्य करनेवाले नियमों को बनाया है। ये नियम ही 'ऋत' हैं। प्रभु इन ऋतों के स्वामी हैं। प्रभु की अध्यक्षता में ये ऋत अपना कार्य कर रहे हैं। ३. ये प्रभु ही जीव को बुद्धि देनेवाले हैं। यह बुद्धि आत्मा की पत्नी के समान है, परन्तु यह बुद्धि प्राप्त तभी होती है जब जीव क्रियाशील होता है, स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा अपने जीवन में दिव्यता लाने की कोशिश करता है, एक शब्द में जब यह 'त्वष्टा' बनता है। ५. वे प्रभु अद्भुत हैं, प्रभु के समान न कोई हुआ न होगा, अतः प्रभु की किसी से उपमा देना सम्भव नहीं, वे सचमुच अनुपम हैं।

भावार्थ—संसार के सञ्चालक, सृष्टि-नियमों के स्वामी स्वाध्यायशील की बुद्धि का निर्माण करनेवाले उस अनुपम प्रभु के रक्षण हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अभि-नमन

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाऽइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥३५॥

१. गतमन्त्र का अंगिरस प्रभु-स्तवन करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है तो यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' हो जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शूर**=हमारे सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपकी **अभि नोनुमः**=दोनों ओर खूब स्तुति करते हैं। यही सन्ध्या है। २. हम आपका स्मरण **अदुग्धा इव धेनवः**=अदुग्ध गौवों के समान करते हैं। 'हम दुग्धदोह=गौवों की तरह अत्यन्त जीर्ण होकर आपका स्मरण करते हों' ऐसा नहीं। यौवन में ही हम आपके स्मरण में तत्पर होते हैं और आपका यह स्मरण हमें सदा युवा बनाये रखता है। ३. हम आपका स्मरण इस रूप में करते हैं कि आप (क) **अस्य जगतः**=इस जंगम संसार के **ईशानम्**=ईशान हैं, आपके स्वामित्व में ही सम्पूर्ण चर संसार चल रहा है। (ख) आप **स्वर्दृशम्**=(स्वः=सूर्य) सूर्य के समान देदीप्यमान हैं और (ग) **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **तस्थुषः**=स्थावर जगत् के **ईशानम्**=ईशान हैं। आपके आधार में ये सब पदार्थ स्थिरता से ठहरे हुए हैं। आप ही सबके आधार हैं।

भावार्थ—वसिष्ठ इसीलिए वसिष्ठ है कि वह यौवन से ही प्रभु-स्तवन में लगा है। वह चराचर का आधार प्रभु को ही जानता है, प्रभु को सूर्य के समान देदीप्यमान रूप में देखता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्वायन्तः गव्यन्तः

न त्वावाँ२॥ऽअन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥३६॥

१. प्रभु का उपासन करता हुआ 'वसिष्ठ' शान्त जीवनवाला बनता है, अतः 'शंयु' हो जाता है। यह ऊँचा ज्ञानी बनता है, अतः 'बार्हस्पत्यः' कहलाता है। यह कहता है कि हे प्रभो! **त्वावान्**=(त्वत्सदृशः) आप-जैसा **अन्यः**=कोई और **न**=न तो **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला और **न पार्थिवः**=न ही पृथ्वीलोक में होनेवाला है। आपके समान भी कोई नहीं अधिक तो हो ही कैसे सकता है? **न जातः**=न भूतकाल में आपके समान कोई हुआ, **न जनिष्यते**=न भविष्य में आपके समान कोई होगा। २. **मघवन्**=परमपूजित (पापशून्य) ऐश्वर्यवाले! **इन्द्र**=सर्वदुःखविनाशक प्रभो! **अश्वायन्तः**=उत्तम अश्वों को, कार्यों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को चाहते हुए **वाजिनः**=शक्ति का सम्पादन करनेवाले हम **गव्यन्तः**=गौवों को, पदार्थों का निश्चय से ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को चाहते हुए आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से (क) हमें उत्तम सशक्त कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों, (ख) हम शक्ति-सम्पन्न बनें तथा (ग) विषयों का निश्चयात्मक ज्ञान देनेवली ज्ञानेन्द्रियाँ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'एकमेवाद्वितीयम्' इन शब्दों के अनुसार एक ही अद्वितीय हो। आप हमें सशक्त कर्मेन्द्रियों को, शक्ति को व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'शंयु' की प्रार्थनत्रयी

त्वामिद्धि हवा॑महे सा॒तौ वाज॑स्य का॒रवः॑।
त्वां वृ॒त्रेष्वि॑न्द्र॒ सत्प॑तिं॒ नर॒स्त्वां काष्ठा॒स्वर्व॑तः॥३७॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं व कष्टों के निवारण करनेवाले प्रभो! **कारवः**=प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण तरीके से करनेवाले हम ('कारुः शिल्पिनि कारके') **वाजस्य**=शक्ति की **सातौ**=प्राप्ति के निमित्त **हि**=निश्चय से **त्वाम् इत्**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही तो हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे। हाँ, यह ठीक है कि आप शक्ति प्राप्त कराते तभी हैं जब हम आपके निर्देश के अनुसार पुरुषार्थी बनते हैं। २. हे प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान पर आवरण डाल देनेवाली कामादि वासनाओं के साथ संग्राम में विजय के लिए भी **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वा**=आपको पुकारते हैं। आपके साहाय्य के होने पर ही तो हम इन वासनाओं को जीत पाएँगे। ३. **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे प्राप्त कराने की कामनावाले हम **अर्वतः काष्ठासु**=(Race-ground, course goal) घोड़ों के घुडदौड़ के मैदानों में **त्वा**=आपको पुकारते हैं। 'हमारे ये इन्द्रियरूप घोड़े उद्देश्य तक, उद्दिष्टस्थल तक पहुँच सकें' इसके लिए हम आपको ही पुकारते हैं। 'अर्वत' शब्द यहाँ छठी विभवक्ति में प्रयुक्त हुआ है। घोड़े की काष्ठा, उसका लक्ष्यस्थान ही है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम (क) शक्ति प्राप्त करें (ख) वासना-संग्राम में विजय हों। ३. इन्द्रियरूप घोड़ों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

शत्रुओं का धर्षण व विजय

स त्वं न॑श्चित्र वज्रहस्त धृष्णु॒या म॒हः स्त॑वा॒नो॑ऽअद्रिवः।
गामश्वं॑ र॒थ्य॒मिन्द्र॒ सं कि॑र स॒त्रा वाजं॒ न जि॒ग्युषे॑॥३८॥

१. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप जोकि **चित्रः**=अन्दुत हैं, जिनके समान न कोई है और न होगा, **वज्रहस्त**=(वजगतौ) सदा क्रियाशील हाथोंवाले है, अर्थात् स्वाभाविक क्रियावाले

हैं, और जो आप **धृष्णुया महः**=शत्रुओं के धर्षक तेजवाले हो **अद्रिवः** (न) अपने मार्ग से विदीर्ण न किये जानेवाले हैं—अच्युत हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली आप! **स्तवानः**=स्तुति किये **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को **अश्वः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को जो **रथ्यम्**=शरीररूप रथ के लिए अत्यन्त हितकर हैं, उनको **नः संकिर**=हमारे लिए दीजिए। २. आप हमे **जिग्युषे**=विजयशील पुरुष के लिए **न**=जैसे **वाजम्**=बल को प्राप्त कराते है, उसी प्रकार **सत्रा**=सचमुच शक्ति प्राप्त कराइए, जिससे जीवन-संग्राम में हम विजयी बनें। ३. 'चित्र' शब्द की भावना 'चित् र'=ज्ञान देनेवाले की है। वे प्रभु ज्ञान देकर ही तो हमें इस संसार में विजयी बनाते हैं। ४. उस प्रभु का स्तवन यही है कि हम भी **वज्रहस्त**=क्रियाशील बनें, **धृष्णुया महः**=शत्रुधर्षक तेजस्विता का सम्पादन करें, **अद्रिवः**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले व दृढ़निश्चयी बनें, तभी हम प्रभु से उस शक्ति की याचना के अधिकारी बनते हैं, जो शक्ति हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराइए। हमें वह शक्ति दीजिए जोकि हमें विजयी बनाए।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सदावृधः सखा

कया॑ नश्चि॒त्रऽआ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शरीर को प्राप्त करके यह 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है और प्रभु-स्तवन करते हुए कहता है कि **चित्रः**=वह ज्ञान देनेवाले अद्भुत परमात्मा **कया ऊती**=किस कल्याणकारक रक्षण के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः**=सदा वर्धन करनेवाला **सखा**=मित्र **आभुवत्**=होता है। वास्तव में ज्ञान देकर ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं, प्रभु द्वारा सतत चलनेवाला रक्षण हमारे लिए कल्याणकर होता है, इस रक्षण के द्वारा प्रभु हमारा वर्धन करते हैं और हमारे सच्चे मित्र होते हैं। २. हमारे मित्र प्रभु **कया**=अत्यन्त आनन्दमय **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन से हमारा सदा वर्धन करनेवाले होते हैं। 'दिन-रात' का एक आवर्तन (चक्र) चल रहा है, दिन में कार्य करने से शक्ति का क्षय होता है तो रात्रि हमारी टूट-फूट को ठीक-ठाक करके हमें फिर से तरोताज़ा कर देती है। इसी प्रकार शुक्ल व कृणपक्षों का आवर्तन है। फिर वर्ष में मासों व ऋतुओं का आवर्तन है। ये सब आवर्तन हमारे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होते हुए हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण व मास, ऋतु आदि के परिवर्तन से शक्ति का वर्धन—ये दोनों हमारे लिए कल्याणकर हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

मदानां मंहिष्ठः

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मꣳहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ढा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॥४०॥

१. वामदेव अपने को ही सम्बोधन करते हुए कहते हैं **त्वा**=तुझे **कः**=अनिर्वचनीय व आनन्दमय प्रभु, **सत्यः**=जो सत्यस्वरूप हैं तथा **मदानाम्**=ज्ञानानन्दों व उल्लासों के **मंहिष्ठः**=(दातृतम) अधिक-से-अधिक देनेवाले हैं, **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। आनन्द-प्राप्ति का कारण मन की शुद्धता है 'आनन्द व

मनःप्रसाद' पर्यायवाची से हो गये हैं। एवं, मन की शुद्धि तो सत्य से होती है और शरीर-शुद्धि के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है। मन व शरीर की शुद्धि होने पर आनन्द-प्राप्ति का न होना असम्भव है। संक्षेप में यह आवश्यक है कि हम (क) सत्य बोलें (ख) प्रसन्न रहें (ग) सोम की रक्षा द्वारा स्वस्थ शरीरवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **दृढा चित् वसु**=बड़े दृढ़ व कठोर भी कनक (स्वर्ण) आदि धनों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न कर देते हो, उन्हें चूर्ण करके सबमें बाँटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वे अनिर्वचनीय, आनन्दमय, सत्यस्वरूप, सर्वाधिक आनन्द के दाता प्रभु सोमरक्षा के द्वारा हमारे जीवन को उल्लास से युक्त करते हैं। वे कठोर स्वर्णादि धनों को बाँट-बाँटकर सबके लिए देते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जरितॄणाम् अविता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतये॥४१॥

१. हे प्रभो! आप **नः सखीनाम्**=हम मित्रों के **अभि**=आभिमुख्येन के **अविता**=उत्तम रक्षक होते हो और २. **जरितॄणाम्**=हम स्तोताओं के **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **ऊतये**=रक्षा के लिए **भवासि**=होते हैं। ३. प्रभु का रक्षण हमें तब प्राप्त होता है जब हम प्रभु के सखा व स्तोता बनते हैं। प्रभु के सखा बनने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति-प्रवण होकर हम प्रभु को भूल न जाएँ। स्तोता बनने का अभिप्राय भी यही है कि प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए हम उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। प्रभु के गुणों को धारण करके यह सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के सखा व स्तोता बनें, हमें प्रभुरक्षण प्राप्त होगा।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अमृत-जातवेदस्

यज्ञायज्ञा वोऽअग्नये गिरागिरा च दक्षसे।

प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥४२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का सखा व स्तोता बनकर प्रभु का रक्षण प्राप्त करनेवाला यह शान्त जीवनवाला बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनकर लोकहित के दृष्टिकोण से कार्यप्रवृत्त हुआ कहता है कि हे मनुष्यो! **यज्ञायज्ञा**=प्रत्येक यज्ञ के द्वारा **वः**=तुम्हारे **अग्नये**=आगे ले-चलनेवाले उस प्रभु के लिए **वयम्**=हम इस प्रभु को **प्रियम् मित्रम् न**=जो हमारे प्रिय मित्र के समान हैं, **अमृतम् प्रशंसिषम्**=वह अमृत है, इस रूप में प्रशंसित करता हूँ। प्रभु तो अमृत हैं ही, वे यज्ञों के द्वारा हमें भी मृत्यु से बचाते हैं। २. **च**=और **गिरागिरा**=एक-एक ज्ञान की वाणी के द्वारा **दक्षसे**=योग्यता को बढ़ानेवाले उस प्रभु को जो **प्रियं मित्रं न**=हमारे प्रिय मित्र के समान है, **जातवेदसं प्रशंसिषम्**=वह सम्पूर्ण ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाला है, इस प्रकार प्रशंसित करते हैं। ये प्रभु तो सर्वज्ञ हैं ही, वे हमें भी इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा योग्य बनाते हैं। ३. इस प्रकार यज्ञों द्वारा हमें अमृत (नीरोग) व ज्ञान की वाणियों से हमें योग्य बनाते हुए वे प्रभु यह प्रेरणा दे रहे हैं कि तुम्हारी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में व्याप्त हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों के ग्रहण में।

भावार्थ—प्रभु अमृत हैं, यज्ञों द्वारा उन्नत होते हुए हम भी अमर बनने का प्रयत्न करें। प्रभु जातवेदाः हैं, प्रभु से दी गई इन ज्ञान की वाणियों से हम भी अपनी योग्यता को बढ़ानेवाले हों। संक्षेप में 'अमृत व जातवेदाः' बनकर ही हम 'शंयु'=शान्ति को प्राप्त होनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार वाणियाँ

पाहि नोऽअग्नऽएकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥४३॥

१. गतमन्त्र में 'गिरागिरा च दक्षसे' इस वाक्य में जिस ज्ञान की वाणी का उल्लेख था, उसी का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=विज्ञान के द्वारा अग्निवत् हमारे जीवन को प्रकाशित व उन्नत करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **एकया**=अपनी इस प्रथमस्थानीय ऋग्रूप विज्ञान की वाणी से **पाहि**=रक्षा प्राप्त कराइए। २. **उत**=और हे प्रभो! आप हमें **द्वितीयया**=इस यजुरूप—यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली द्वितीय वेदवाणी के द्वारा भी **पाहि**=रक्षण प्राप्त कराइए। इसमें प्रतिपादित यज्ञ हमारे जीवन का भाग बनकर हमें नीरोग बनानेवाले हों। प्रथम विज्ञान की वाणी से ऐश्वर्य का अर्जन करके हम उस ऐश्वर्य का इन यज्ञों में ही विनियोग करें। ३. हे **ऊर्जाम्पते**=बल व प्राणशक्तियों के स्वामिन्! आप हमें **तिसृभिः गीर्भिः**=ऋग्यजुः के साथ इन तीसरी सामवाणियों के द्वारा **पाहि**=रक्षित कीजिए। इनके द्वारा आपकी उपासना करते हुए हम सचमुच आपकी शक्ति को अपने में प्रवाहित करनेवाले हों। हम भी ऊर्जाम्पति बनें। उपासना से हमें शक्ति प्राप्त हो। ४. हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चतसृभिः**=ऋग्यजुः साम के साथ चौथी इस अथर्व की वाणी से आप हमें **पाहि**=इस संसार में सुरक्षित कीजिए। इस वाणी के मौलिक उपदेश को कि 'वाचस्पति बनो' हम ग्रहण करें। जिह्वा के संयम से भोजन को मात्रा में सेवन करते हुए हम अपने बल को बढ़ाएँ व रोगों को दूर भगाएँ। वाणी का संयम हमें मितभाषी बनाये और हम व्यर्थ के कलहों को उत्पन्न न होने दें। जिह्वा का संयम रोगों से बचाये और वाणी का संयम हमें झगड़ों से बचाये।

भावार्थ—हम ऋग्, यजुः साम व अथर्वरूप चारों वाणियों से चतुष्पाद् धर्म का सेवन करें। ऋचाओं द्वारा प्राप्त विज्ञान हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाए, यजुः में प्रतिपादित यज्ञ हमारी पवित्रता का कारण बनें। साम द्वारा की गई उपासना हमारे बल व प्राण का वर्धन करनेवाली हो तथा अथर्व के उपदेश से वाचस्पति बनकर हम इस शरीर व जगत् में अपने निवास को उत्तम बनाएँ। थोड़ा खाएँ—थोड़ा बोलें। इन वाणियों के द्वारा अपने ज्ञान का परिपाक करके हम मन्त्र के ऋषि 'भार्गव' बनें, 'भ्रस्ज पाके' अपना परिपाक करनेवाले।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के प्रति अर्पण

ऊर्जो नपातꣳस हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्ववि॒ता भुवद् वृधऽउत त्राता तनूनाम्॥४४॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'ऊर्जाम्पते' इस प्रकार सम्बोधन किया था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि **सः**=वह तू **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले उस प्रभु को **हिन**=अपने उत्तम कर्मों व उपासनों से प्रीणित कर (तर्पय—उ०) (हि

गतौ वृद्धौ च)। उत्तम कर्मोपासनाओं से प्रभु की ओर जा और उस प्रभु की महिला को बढ़ानेवाला बन। २. **अयम्**=ये प्रभु निश्चय से **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं, हमें चाहते हैं, हमें प्यार करते हैं। ३. **हव्यदातये**=हव्य पदार्थों के दान के लिए **दाशेम**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दें, तो वे प्रभु हमें **वाजेषु**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में **अविता भुवत्**=हमारे रक्षक होते हैं। वे प्रभु इस शरणागत की **वृधे**=वृद्धि व उन्नति के लिए **भुवत्**=होते हैं। प्रभु के प्रति अर्पण करने पर, वे जिधर चलाएँ, उधर ही चलने पर हमारी उन्नति-ही-उन्नति होगी। **उत**=और वे प्रभु हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के भी **त्राता**=रक्षक होते हैं। वे हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं और हमें आधि-व्याधियों से बचाते हैं। ५. इस प्रकार प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके यह व्यक्ति अत्यन्त शान्त जीवनवाला होता हुआ मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनता है।

भावार्थ—हम अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करें। वे हमारा भला-ही-भला चाहते हैं। उनके प्रति हम अपना अर्पण कर दें, वे वासना-संग्राम में हमारी रक्षा करेंगे, हमारी वृद्धि का कारण होंगे, हमें आधि-व्याधियों से बचाएँगे।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

पूर्ण जीवन

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताᳬसंवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्याऽएत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद॥४५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारे शरीरों के रक्षक होंगे तब हमारा जीवन निश्चय से सुन्दर बनेगा। प्रभु 'शंयु' से कहते हैं कि तू **संवत्सरः असि**=(संवसति) उत्तम निवासवाला है। २. **परिवत्सरः असि** (परिवसति) सम्पूर्ण कोशों में निवासवाला है, केवल अन्नमयकोश में ही रहा। तेरी दुनिया केवल खाने-पीने की ही दुनिया नहीं है। तेरा जीवन अधूरा न होकर समूचा (पूर्ण) है। ३. **इदावत्सरः असि** (इदा=इदनीम्)=तू वर्त्तमान काल में रहनेवाला है, तू भूत-भविष्य की बातें नहीं करता रहता। न तो तू भूत का राग अलापता रहता है और ना ही भविष्य के स्वप्न लेते रहता है। तू सदा वर्त्तमान को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता है। ४. **इद्वत्सरः असि**=तू निश्चय से निवास करनेवाला है। तेरे जीवन में विकल्पों व संशयों का स्थान नहीं। ५. इस प्रकार तू **वत्सरः असि**=निवासवाला है, तेरा निवास सब प्रकार की जटिलता व संकरता (Complexes) से रहित है। यहाँ 'वत्सर' का पाँच बार प्रयोग इस बात का भी संकेत कर रहा है कि तू ने पाँचों भूतों से बने इस पाँचभौतिक शरीर में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों प्राणशक्तियों का विकास करते हुए अपने 'पञ्चजन' नाम को चरितार्थ किया है। ६. **ते**=इस उत्तम निवासवाले तेरे लिए **उषसः कल्पन्ताम्**=सामार्थ्य को बढ़ानेवाले हों। इसी प्रकार **ते**=तेरे लिए **अहोरात्राः**=दिन व रात **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली हों, तेरे लिए **अर्धमासाः**=अर्धमास, शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य का वर्धन करनेवाले हों। **मासाः ते कल्पन्ताम्**=वैशाख-ज्येष्ठ आदि मास भी तेरे लिए सामर्थ्य को दें। **ऋतवः ते कल्पन्ताम्**='ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर व वसन्त' ये ऋतुएँ भी तुझे शक्तिशाली बनाएँ और इन ऋतुओं से बना हुआ यह **संवत्सरः**=वर्ष **ते**

कल्पताम्=तेरे लिए शक्ति व सामर्थ्य को करनेवाला हो। ७. प्रभु कहते हैं कि अब तू **प्रेत्या**=खूब गतिशील बनकर (प्र इ) **च**=और **एत्यै**=मेरे समीप पहुँचने के लिए **सम् अञ्च**=सम्यक् गतिवाला हो, अर्थात् उत्तम कर्मों को करनेवाला बन **च**=तथा **प्रसारय**=अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रसार कर, शक्तियों को फैलानेवाला बन। ८. **सुपर्णचित् असि**=तू अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला तथा ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है (पर्ण पृ पालनपूरणयोः चित् ज्ञान) ९. इस प्रकार **तया देवतया**=उस देवता, अर्थात् प्रभु के साथ सम्पर्क में रहकर **अंगिरस्वत्**=एक-एक अंग में रस के सञ्चारवाला होकर **ध्रुवः**=मर्यादा में चलनेवाला बनकर **सीद**=इस संसार में निवास कर। इस प्रकार के निवास में ही जीवन की शान्ति है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शंयु' बन पाते है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन पाञ्चों भूतों, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों के दृष्टिकोण से पूर्ण हो। सब काल-विभाग हमें शक्ति देनेवाले हों। उत्तम गतिवाले होकर हम अपनी शक्ति को फैलानेवाले बनें। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु-संग से रसमय-जीवनवाले होकर मर्यादामय जीवनवाले हों।

नोट—प्रभुसंग से ही जीवन रसमय होता है, अतः अगले अध्याय में इस प्रभु के सम्पर्क के साधनों व परिणामों के वर्णन से ही मन्त्रों का प्रारम्भ होता है। ये मन्त्र 'बृहदुक्थ वामदेव' ऋषि के हैं। बृहत् उत्कर्षवाला, अर्थात् वृद्धि के कारणभूत स्तोत्रोंवाले तथा सुन्दर दिव्य गुणोंवाले इस ऋषि के द्वारा निम्न मन्त्रों में प्रभु-प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन किया जाता है—

इति सप्तविंशोऽध्यायः॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः।** देवता—**इन्द्रः।** छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्।** स्वरः—**धैवतः।**

चर्षणीसहाम् ओजिष्ठः

होता यक्षत्सुमिधेन्द्रमिडस्पदे नाभा पृथिव्याऽअधि।
दिवो वर्ष्मन्त्समिध्यतऽओजिष्ठश्चर्षणीसहां वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥१॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला, **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) त्यागवृत्तिवाले बनें, दानपूर्वक अदनवाले हों, सदा यज्ञशेष का सेवन करें तथा (ख) अपने ज्ञान को दीप्त करें। २. 'प्रभु का सम्पर्क कहाँ होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इडस्पदे**=वाणी के स्थान में, अर्थात् जब हम ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करेंगे, तथा (ख) **पृथिव्याः**=इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **नाभौ अधि** =केन्द्र में। शरीर का केन्द्र 'हृदय' है। एक ओर अन्नमयकोश व प्राणमयकोश हैं तो दूसरी ओर विज्ञानमय व आनन्दमयकोश हैं, ठीक मध्य में मनोमयकोश है। इस मनोमयकोश को वेद में **'विकोशं मध्यमं युव'** इन शब्दों में मध्यमकोश कहा है। इस मध्यमकोश में ही प्रभु का दर्शन होना है (ग) **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के वर्षिष्ठ प्रदेश में। द्युलोक मस्तिष्क है, इसका वर्षिष्ठ सर्वोत्तम प्रदेश 'सहस्रारचक्र' है, इसी स्थल में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की उत्पत्ति होती है और प्रभु का साक्षात्कार होता है। एवं, **समिध्यते**=वे प्रभु दीप्त किये जाते हैं (क) ज्ञान की वाणियों की चर्चाओं में (ख) हृदयदेश में, तथा (ग) ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर मस्तिष्करूप द्युलोक के सर्वोत्तम प्रदेश में। ३. प्रभु-दर्शन होने पर यह भक्त **चर्षणीसहाम्**=श्रमशील (चर्षणयः कर्षणयः) तथा शत्रुओं का पराभव करनेवालों में **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम बनता है, अर्थात् यह सर्वाधिक श्रमशील व कामादि का विजेता होता है। वस्तुतः ये दोनों बातें ही इसके ओजस्वी बनने का रहस्य हैं। ४. **आज्यं वेतु**='तेजो वा आज्यम्' तां० १२।१०।१२ 'रेतः आज्यम्' श० १।३।१।१८ यह प्रभुभक्त शक्ति का पान करनेवाला हो। प्रायः सोम के पान का उल्लेख होता है, यहाँ सोम के स्थान में 'आज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। आज्य की भी भावना 'शक्ति' ही है। प्रभुभक्त आज्य का, शक्ति का पान करनेवाला बनता है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=प्रभु से मेल कर। यह मेल ही तेरी शक्ति का स्रोत बनेगा।

भावार्थ—होता बनकर, ज्ञान की वाणियों की चर्चा करते हुए हम हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। इससे हमें शक्ति प्राप्त होगी, हम श्रमशील व शत्रु-विजेताओं के अग्रेणी बनेंगे।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मधुमत्तम मार्ग

होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम्।
इन्द्रं देवꣳ स्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमैर्नराशꣳसेन तेजसा वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=उस प्रभु का अपने साथ सम्पर्क करता है जो **तनूनपातम्**=शरीर को न गिरने देनेवाले हैं, **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा शरीर को व्याधियों से बचानेवाले हैं, **जेतारम्**=सदा हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतनेवाले हैं और **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होते। **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व परमैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं, **देवम्**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान व सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं (देवः दीव्यति, द्योतनाद् दानाद्वा), **स्वर्विदम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। २. वे प्रभु 'स्वर्विद्' हैं—सुख प्राप्त कराते हैं, परन्तु कब? जबकि हम (क) **मधुमत्तमैः पथिभिः**=अत्यन्त मधुर मार्गों से जीवनयात्रा में गति करते हैं। जब हमारे सब कर्मों में माधुर्य होता है तथा (ख) **नराशंसेन**=(नरैः आशंसनीयेन) मनुष्यों से प्रशंसा करने योग्य **तेजसा**=तेज के द्वारा। जब हम तेजस्वी बनते हैं, और हमारा यह तेज प्रशंसनीय होता है। (ग) इसीलिए भक्त को चाहिए कि **आज्यस्य वेतु**=तेज का पान करने का प्रयत्न करे। तेज को अपने में सुरक्षित करे। इस प्रकार वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हुए **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु का अपने साथ मेल कर।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर को नीरोग बनानेवाले हैं। हमारे शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। हम मधुर मार्गों से चलते हैं और प्रशंसनीय तेजवाले होते हैं तो वे प्रभु हमें सुखी करते हैं। हमें चाहिए कि हम वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हुए दान की वृत्तिवाले बनें और प्रभु से अपना मेल करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

वज्रहस्त पुरन्दर

होता यक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्यम्।
देवो देवैः सवीर्यो वज्रहस्तः पुरन्दरो वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली **इडाभिः ईडितम्**=वेदवाणियों से स्तुति किये गये प्रभु को, **अजुह्वानम्**=जो सभी से पुकारा जाता है। सज्जन तो प्रातः-सायं शक्ति व शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु का आराधन करते ही हैं, दुर्जन भी कष्ट आने पर प्रभु को ही पुकारते हैं। **अमर्त्यम्**=वे प्रभु अमरणधर्मा हैं। २. **देवः**=वे प्रभु देव हैं। **देवैः**=सब देवों के साथ उनका निवास है, और सब देव उस प्रभु के कारण ही देवत्व को प्राप्त हुए हैं। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह होता भी 'देवः'=देव बनता है, **देवैः**=दिव्य गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करता है। **सवीर्यः**=यह पराक्रमशाली बनता है, **वज्रहस्तः**=क्रियाशील हाथोंवाला होता है और **पुरन्दरः**=इन शरीररूप पुरियों का विदारण करता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाता है। ३. इसी उद्देश्य से जीव को चाहिए कि वह **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करनेवाला बने, सोम, अर्थात् वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रक्खे। इस प्रकार सोम का पान करनेवाले **होतः**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=दान देनेवाला बन और

उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणियों से स्तुत होते हैं। उन प्रभु से मेल बनाकर जीव भी देव बनता है। जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है, अतः जीव को चाहिए कि शक्ति की रक्षा करे और दानशील बनकर प्रभु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**रुद्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'वसु, रुद्र व आदित्य' बनना

होता यक्षद् बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम्।
वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥४॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदयाकाश में **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। जो प्रभु **निषद्वरम्**=(निषदः उपवेष्टाः तेषां वरम्) हृदय में आसीन होनेवालों में सबसे श्रेष्ठ हैं, **वृषभम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले व शक्तिशाली हैं और **नर्यापसम्**=नरहितकारी कर्मोंवाले हैं, उनका कोई भी कार्य मनुष्य का अहित करनेवाला नहीं। २. ये प्रभु जो **वसुभिः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले **रुद्रैः**=(रोरुयमाणो द्रवति) अपने हृदयों में प्रभु-नामोच्चारण करते हुए कार्यों में लगे रहनेवाले **आदित्यैः**=सब ज्ञान-विज्ञान का आदान करके सूर्य की भाँति चमकनेवाले **सयुग्भिः**=मिलकर कार्य करनेवाले (सह युञ्जन्ति) पुरुषों से **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदत्**=(आसाद्यते) आसीन किये जाते हैं। प्रभु का निवास वसु, रुद्र व आदित्य जोकि परस्पर मेलवाले होते हैं उन्हीं के हृदयों में होता है, अतः हम भी इन्हीं में से एक बनने का प्रयत्न करें। प्रभु इनके साथ ही वासनाशून्य हृदय में बैठते हैं, (आसदत्) अतः मैं शरीर को नीरोग बनकार 'वसु' बनूँगा, सदा प्रभुस्मरणपूर्वक क्रिया में लगकर वासनाशून्य बनता हुआ 'रुद्र' बनूँगा और अपने हृदय को पवित्र बनाऊँगा, ज्ञान-विज्ञान का आदान करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाला 'आदित्य' बनूँगा। ३. उपासक को चाहिए कि वह **'आज्यस्य'**=तेज का **वेतु**=अपने अन्दर पान करे। शक्ति को अपने में सुरक्षित रक्खे और इस प्रकार सब उत्तमताओं की अपने में नींव डाले। हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु के साथ अपना मेल बना। इसी उद्देश्य से दानी बन।

भावार्थ—प्रभु 'नर्यापस्' हैं, उनके सब कार्य जीव के लिए हितकर हैं। हम भी वसु, रुद्र व आदित्य बनकर प्रभु से मिलकर कार्य करनेवाले हों (सयुज्)। अपने में शक्ति का व्यापन करते हुए होता बनें और खूब दान देनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

ओजस्, वीर्य व सहस्

होता यक्षदोजो न वीर्यꣳसहो द्वारऽइन्द्रमवर्द्धयन्। सुप्रायणाऽअस्मिन् यज्ञे वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारऽइन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥५॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला अथवा प्रभु का आह्वान करनेवाला (आह्वाता) **ओजः**=ओज को **न**=और **वीर्यम्**=वीर्य को, **सहः**=सहनशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करे, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए तथा त्याग की वृत्ति को अपने में पनपाते हुए हम 'ओज, वीर्य व सहस्' को अपने में धारण करें। ३. ऐसा करने पर **द्वारः**=हमारे सभी इन्द्रियद्वार **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ानेवाले होते हैं, अर्थात् सब इन्द्रियद्वारों

से प्रभु-पूजन चलता है और ये विषय-प्रवणता से दूर हो जाते हैं। ३. ये इन्द्रियद्वार **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट गमनवाले होकर **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **विश्रयन्ताम्**=विशिष्टिरूप से (श्रि=सेवायाम्) सेवा करनेवाले हों। ४. **ऋतावृधः**=ये सदा ऋत का वर्धन करनेवाले **द्वारः**=नव इन्द्रियद्वार **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली **मीढुषे**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=शक्ति का पान करें, शक्ति को शरीर में सुरक्षित रक्खें। ५. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **यज**=उस प्रभु को अपने साथ संगत कर, खूब देनेवाला बन।

भावार्थ—हम अपने में ओजस्विता को धारण करें। हमारे इन्द्रियद्वार उस प्रभु का वर्धन करनेवाले हों। इनसे सत्य का ही पोषण हो और शक्ति का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उषासानक्ता—दोनों सन्ध्याकाल

होता यक्षदुषेऽइन्द्रस्य धेनू सुदुघे मातरा मही।
सवातरौ न तेजसा वत्समिन्द्रमवर्द्धतां वीतामाज्यस्य होतर्यज॥६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला अथवा प्रभु का आह्वाता पुरुष **उषे**=(नक्तोषासा) दोनों सन्ध्याकालों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। ये दोनों उषःकाल **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **धेनू**=आप्यायन करनेवाले हैं (धेट् अप्यायने) ये सब दोषों का दहन करके उसका वर्धन करते हैं (उष दाहे)। **सुदुघे**=इस प्रकार ये उत्तमता से उसका प्रपूरण करनेवाले हैं। **मातरा**=उसका निर्माण करनेवाले हैं। उसके जीवन को सुन्दर बनाते हैं। **मही**=ये उसके जीवन को महिमा-सम्पन्न करते हैं। २. ये उषःकाल इसके लिए **तेजसा**=तेजस्विता के द्वारा **सवातरौ न**=(स=समान, वात=वायु, र=गति) वायु के समान गतिवाले हैं, इसे वायु की भाँति क्रियाशील बनाते हैं। ३. इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा **वत्सम्**=प्रभु के प्रिय अथवा वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय—असुरों का संहार करनेवाले पुरुष को **अवर्धताम्**=ये उषःकाल बढ़ाते हैं। ३. ये इसके लिए **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करनेवाले बनें और हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **यज**=तू अपने साथ प्रभु का मेल कर, अथवा इन उषःकालों को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—दोनों उषःकाल जीव का वर्धन, पूरण व निर्माण करनेवाले हों। ये इसे वायु के समान क्रियाशील बनाएँ। इसके लिए शक्ति का पान करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो गोतमः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्राणापान (दैव्या होतारा)

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजा सखाया हविषेन्द्रं भिषज्यतः।
कवी देवौ प्रचेतसाविन्द्राय धत्तऽइन्द्रियं वीतामाज्यस्य होतर्यज॥७॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=प्राणापानों को (ऐ० २।४) **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। ये प्राणापान इसके **भिषजा**=वैद्य होते हैं, इसके रोगों को दूर करके **सखाया**=इसके मित्र बनते हैं अथवा ये प्राणापान परस्पर स्नेहवाले होते हैं। दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर कार्य करते हैं। २. ये प्राणापान **हविषा**=अग्निहोत्र के साथ— अग्निहोत्र में आहुत किये गये हव्य पदार्थों को श्वास द्वारा सूक्ष्मरूप में अपने अन्दर

लेने के द्वारा **इन्द्रम्**=जीव को **भिषज्यतः**=नीरोग करते हैं। ३. **कवी**=ये नीरोगता के द्वारा जीव को क्रान्तदर्शी बनाते हैं **देवौ**=दिव्य गुणोंवाला करते हैं, **प्रचेतसौ**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाते हैं। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये प्राणापान **इन्द्रियम्**=वीर्य को **धत्त**=धारण करते हैं। इस प्रकार ये प्राणापान इस जीवात्मा के लिए **आज्यस्य**=रेतस् का **वीताम्**=पान करें, इसकी शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले हों। ४. **होता**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=इन प्राणापानों को अपने साथ संगत कर अथवा दान देनेवाला बन और प्रभु को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—प्राणापान साधक को नीरोग करते हैं। ये उसे क्रान्तदर्शी, दिव्य गुणोंवाला और ज्ञानी बनाते हैं। प्राणापान हमारे रेतस् की ऊर्ध्वगति का साधन हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

हविष्मती इन्द्र पत्नियाँ

होता॑ यक्ष॒त्तिस्रो॑ दे॒वीर्न भे॑ष॒जं त्रय॑स्त्रि॒धात॑वो॒ऽपस॒ऽइडा॒ सर॑स्वती॒ भार॑ती म॒हीः।
इन्द्र॑पत्नीर्ह॒विष्म॑ती॒र्व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥८॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्त्रः देवीः**=तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जो देवियाँ **भेषजम्**=औषध हैं। **त्रयः**=(तिस्त्र) ये तीनों **त्रिधातवः**=शरीर, मन व बुद्धि को धारण करनेवाली हैं। **अपसः**=कर्मशील हैं, अर्थात् ये हमारे जीवन को क्रियाशील बनानेवाली हैं। २. ये देवियाँ क्रमशः **इडा-सरस्वती-भारती**=श्रद्धा, वाणी व मस्तिष्क में रहनेवाली विद्या की अधिदेवता तथा 'भारती' शरीर का सम्यक् भरण करने-वाली पोषण की देवता हैं। इनका क्रमशः मन, मस्तिष्क व शरीर में निवास है। ये सब **महीः**=महनीय हैं, हमारे जीवन को भी ये महनीय बनाती हैं। ३. **इन्द्रपत्नीः**=ये इन्द्र की पत्नियाँ, जीवात्मा की शक्तियाँ हैं। **हविष्मतीः**=हविवाली हैं। इनके कारण मनुष्य में देकर खाने की वृत्ति पैदा होती है। ४. ये तीनों देवियाँ **आज्यस्य व्यन्तु**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाली हों। **होतः**=देकर खानेवाले जीव! तू **यज**=इन देवियों को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—मन में श्रद्धा, मस्तिष्क में सरस्वती और शरीर में भारती—ये तीनों देवियाँ हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क का धारण करनेवाली हों। ये शरीर में शक्ति का पान करनेवाली हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

त्वष्टा

होता॑ यक्ष॒त्त्वष्टा॑र॒मिन्द्रं॑ दे॒वं भि॒षज॑ꣳसु॒यजं॑ घृत॒श्रिय॑म्।
पु॒रु॒रूप॑ꣳ सु॒रेत॑सं म॒घोन॒मिन्द्रा॑य॒ त्वष्टा॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॒ वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥९॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **त्वष्टारम्**=देवशिल्पी, दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले ज्ञान की दीप्तिवाले (तक्षतेः करोति कर्मणः) उत्तम कर्मों को करनेवाले प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जोकि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं। **देवम्**=दिव्य गुणों का पुञ्ज हैं। **भिषजम्**=हमारे सब रोगों के चिकित्सक हैं, प्रभु के नाम-स्मरण से रोगों का प्रतीकार होता है, इस नाम-स्मरण से रोग आते ही नहीं। **सुयजम्**=सुगमता से उपास्य व संगतिकरण योग्य हैं। **घृतश्रियम्**=दीप्तश्रीवाले हैं, **पुरुरूपम्**=विश्वरूप हैं, वेद में 'विश्वतश्चक्षुः' आदि शब्दों में इस पुरुरूपता का वर्णन द्रष्टव्य है। **सुरेतसम्**=उत्तम रेतस्वाले हैं तथा उनके

स्मरण से हमारा रेतस् पवित्र बना रहता है। **मघोनम्**=मघवान् हैं, सम्पूर्ण धनोंवाले हैं अथवा जो सम्पूर्ण यज्ञोंवाले हैं (मघ=मख)। २. **त्वष्टा**=यह दीप्त प्रभु **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को **दधत्**=धारण करते हैं। होता बनकर जीव त्वष्टा को अपने साथ संगत करता है तो त्वष्टा उसे शक्तियाँ प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः यह त्वष्टा इस उपासक के हित के लिए **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, अर्थात् इस प्रभु-नाम-स्मरण से वासनाओं का विनाश होकर शक्ति का हममें सुरक्षण हो। हे **होतः**=प्रभु का आह्वान करनेवाले उपासक **यज**=तू यज्ञशील बन और प्रभु को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—वे प्रभु त्वष्टा हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं और सृष्टिनिर्माण आदि यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले हैं। उनके संग से सुरेतस् बनकर हम भी दिव्य गुण-सम्पन्न, ज्ञानदीप्त व यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

वनस्पति

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्द्रियम्। मध्वा समञ्जन् पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥१०॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **वनस्पतिम्**=ज्ञान-किरणों के रक्षक को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, **शमितारम्**=जो शम-प्रधान हैं, अपने उपासक को भी शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले हैं। **धियः जोष्टारम्**=बुद्धि व कर्म को प्रेरित करनेवाले हैं (सवितारम्—उ०)। **इन्द्रियम्**=जो वीर्यात्मक हैं 'वीर्यमसि'। २. ये प्रभु उपासक के **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **सुगेभिः पथिभिः**=शोभनगमनवाले मार्गों से **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करते हुए **मधुना घृतेन**=माधुर्य व दीप्ति से **स्वदाति**=स्वादवाला कर देते हैं, रसमय बना देते हैं। प्रभु-उपासक सदा सरल, कुटिलताशून्य, माधुर्ययुक्त और ज्ञान की दीप्तिवाला होता है। ३. ये वनस्पति—ज्ञानरश्मियों का पति प्रभु इस जीव के हित के लिए **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान कराएँ। प्रभु नाम-स्मरण से हमारी शक्ति की ऊर्ध्वगति हो। हे **होतः**=प्रभु का आह्वान करनेवाले उपासक! **यज**=तू उस प्रभु के साथ अपना मेल बना।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की किरणों के पति हैं, हमारे जीवनों को शान्त बनानेवाले हैं। जीवन में माधुर्य, दीप्ति व सरलता का सञ्चार करनेवाले हैं। उस प्रभु के स्मरण से हम शक्ति को अपने में सुरक्षित करें और जीवन को मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

आज्य-मेदस्

होता यक्षदिन्द्रꣳस्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳस्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳस्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवाऽआज्यपा जुषाणाऽइन्द्रऽआज्यस्य व्यन्तु होतर्यज॥११॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करे। २. इस प्रभु से मेल करनेवाले के जीवन में **स्वाहा**=(स्व=हा) स्वार्थ त्याग करनेवाले **देवाः**=देव, अर्थात् प्राणादि पाँच मरुत् जो **आज्यपाः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले हैं। **जुषाणाः**=ये आत्मा का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, इनके साथ **इन्द्रः**=

स्वयं जीवात्मा **आज्यस्य**=शक्ति का **व्यन्तु**=पान करे, इसलिए हे **होत:**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=प्रभु से मेल कर। ३. ये सब देव **आज्यस्य**=घृत का **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना के साथ **व्यन्तु**=पान करें। **मेदस: स्वाहा**=औषध के गुणोंवाले (medicinal properties) या शरीर को कुछ स्थूल करनेवाले पदार्थों को **स्वाहा**=स्वार्थत्याग के साथ **व्यन्तु**=पान करें, अर्थात् सारे घृत व मेदस् को स्वयं ही न खालें, अपितु त्याग करके बचे हुए को खानेवाले बनें। ४. **स्तोकानाम्**=सोम के कणों का **स्वाहा**=स्व में–अपने में आहुति देते हुए पान करें। इन वीर्यकणों को नष्ट न होने दें। **स्वाहाकृतीनाम्**=(प्राणा यै स्वाहाकृतय:। –कौ० १०।५) प्राणों का **स्वाहा**=स्व में आहुति देते हुए **व्यन्तु**=पान करें अथवा अपने में प्राणाशक्ति का विकास करें (वी=प्रजनन)। **हव्यसूक्तीनाम्**=प्रभु को पुकारने के लिए मधुर वचनों का **स्वाहा**=अपने में आहुति देते हुए पान करें, अर्थात् वीर्यकणों को, प्राणशक्ति को तथा प्रभु को पुकारने के पवित्र पदों को अपने में धारण करें।

भावार्थ–होता प्रभु के साथ अपना मेल करें। घृत आदि पदार्थों का त्यागभावना से उपभोग करें। अपने में वीर्यकणों को, प्राणाशक्ति को तथा मधुर प्रार्थना व शक्तियों को आहुत करे, अर्थात् इनको धारण करें।

सूचना–ये ११ मन्त्र 'प्रयाजप्रैष' कहाते हैं, अर्थात् वे प्रैष=प्रकृष्ट प्रेरणा के मन्त्र जो प्रयाज=जीव व प्रभु के महान् संगतिकरण का उल्लेख करते हैं। अब ११ अनुयाजप्रैषों का उल्लेख है। इनमें 'वसुवने' धन के सेवन का उल्लेख है और साथ ही यह भी कहा है कि वसुधेय=वसुओं के आधारभूत उस प्रभु के साथ यज=मेल बनाना आवश्यक है।

ऋषि:–**अश्विनौ**। देवता–**इन्द्र:**। छन्द:–**निचृदतिजगती**। स्वर:–**निषाद:**।

देवं बर्हि:=दिव्य हृदय

देवं बर्हिरिन्द्रꣳसुदेवं देवैर्वीरवत् स्तीर्णं वेद्यामवर्द्धयत्।
वस्तोर्वृतं प्राक्तोर्भृतꣳराया बर्हिष्मतोऽत्यगाद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥१२॥

१. **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **बर्हि:**=वासनाशून्य हृदय **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **सुदेवम्**=जो दिव्य गुणोंवाला बना है, **अवर्धयत्**=बढ़ाता है, अर्थात् दिव्य, वासनाशून्य हृदय जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बनता है। २. कैसा हृदय? (क) **वस्तो:**=दिन में **वेद्याम्**=यज्ञवेदि में **वृतम्**=जिसका वरण किया गया है, अर्थात् सम्पूर्ण दिन जो यज्ञात्मक कर्मों की भावना से ही युक्त रहा है। (ख) **अक्तो:**=रात्रि में जो **प्रभृतम्**=प्रकृष्ट रूप से धारण किया गया है, अर्थात् रात्रि के समय सुषुप्ति में पहुँचकर जो आनन्द की स्थिति में स्थापित हुआ है और जो **राया**=दान दिये जानेवाले धन के द्वारा **बर्हिष्मत:**=अन्य वासनाशून्य हृदयवालों को **अत्यगात्**=लाँघ गया है, अर्थात् वासनाशून्य हृदयवालों में भी जो अधिक वासनाशून्य बना है। ३. ऐसा यह दिव्य, क्रीडक की भावना sportsman like spirit वाला हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का भी **वेतु**=(वी=प्रजनन) अपने में विकास करें, प्रभु का भी स्मरण करें। यह संसार धन के बिना तो चलता ही नहीं, अत: यह धन का सेवन बेशक करे, परन्तु धन के आधारभूत प्रभु को भूल न जाए। ४. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू इस प्रकार धन के साथ उस प्रभु को भी याद करता हुआ अपने जीवन को यज्ञशील बना, प्रभु से तेरा संगतिकरण हो (यज=संगतिकरण)। ५. इन 'अनुयाजप्रैष' मन्त्रों के ऋषि 'अश्विनौ' हैं, पति-पत्नी। स्पष्ट है कि गृहस्थ में धनार्जन करते हुए इन्होंने प्रभु को भूलना नहीं और प्रभु-स्मरण के साथ (अश् व्याप्तौ) उत्तम कर्मों

में लगे रहना है।

भावार्थ—हम अपने हृदयों को दिव्य बनाएँ। यह हृदय धनार्जन का ध्यान करता हुआ प्रभु का भी स्मरण करे।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवीः द्वारः=दिव्य इन्द्रियद्वार

देवीर्द्वारऽइन्द्रꣳसङ्घाते वीड्वीर्यामन्नवर्द्धयन्। आ वत्सेन तरुणेन कुमारेण च मीवतापार्वाणꣳरेणुककाटं नुदन्तां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥१३॥

१. **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले, जीवन-यात्रा में सारे व्यवहारों के साधक (दिव् व्यवहार), **द्वारः**=इन्द्रियद्वार, जो अलग-अलग भी बड़े प्रबल हैं, परन्तु **संघाते**=एक समूह के रूप में हो जाने पर तो **वीड्वीः**=अत्यन्त प्रबल हैं, हमें कुचल डालनेवाले हैं। ये इन्द्रियद्वार **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **यामन्**= जीवन-यात्रा में **अवर्धयन्**=बढ़ानेवाले होते हैं। 'अजितेन्द्रिय पुरुष' इन इन्द्रियों से कुचला जाता है तो जितेन्द्रिय को ये इन्द्रियाँ सिद्धि प्राप्त करानेवाली होती हैं। २. ये इन्द्रियाँ **वत्सेन**=(वदति इति) प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले, **तरुणेन**=वासनाओं व विघ्नों को तैर जानेवाले, **कुमारेण**=(कु-मार) सब कुत्सित वृत्तियों को नष्ट कर डालनेवाले अथवा (कुमार क्रीडायाम्)=एक क्रीडक की मनोवृत्तिवाले **मीवता**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (मी=हिंसायाम्) इस इन्द्र के साथ ये इन्द्रियाँ **अर्वाणम्**=(अर्व् to kill) नष्ट कर डालनेवाले अथवा 'अर्यते यत्र' जिसकी ओर अज्ञानवश जाया जाता है, उस **रेणुककाटम्**=धूलि से आच्छादित विषयकूप को **अपनुदन्ताम्**=अपने से दूर कर दें, अर्थात् संसार के ये विषय उस कुएँ के समान हैं जोकि ऊपर धूलि से आच्छन्न होने के कारण सामान्य भूमि के रूप में दिखता है और आकर्षक होने के कारण इन्द्रियों की उधर आने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और उधर जाने पर हम इस कुएँ में गिरते हैं और समाप्त हो जाते हैं। चाहिए यह कि हम इस कुएँ से बचें—हमारे इन्द्रियद्वार इस ओर न जाएँ। यह होगा तभी जबकि इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव सदा प्रभु-नाम का उच्चारण करे (वत्स), वासनाओं को तैरने के लिए यत्नशील हो (तरुण), संसार में एक क्रीडक की मनोवृत्ति को अपने में विकसित करे (कुमार) तथा सदा बुराइयों के संहार में लगा रहे (मीवता) ३. विषयवासनारूप कूप को दूर से ही छोड़नेवाले ये इन्द्रियद्वार **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **व्यन्तु**=विकास करें, अर्थात् प्रभु का खूब ही स्मरण करें। ४. इस प्रकार हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन, उस प्रभु से मेल करनेवाला बन, इसीलिए तू धन का दान कर। दान ही यज्ञ का उत्कृष्ट रूप है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, विषय-वासनाओं के तृणाच्छन्न कूप के समान हैं। हम प्रभु-नामस्मरण करते हुए इन्द्रियों को इस कूएँ में गिरने से बचाएँ। धन कमाएँ, परन्तु प्रभु को न भूलें और धन का दान करनेवाले हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अहोरात्रे**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवी उषासानक्ता

देवीऽउषासानक्तेन्द्रं यज्ञे प्रयत्यह्वेताम्।
दैवीर्विशः प्रायासिष्टाꣳसुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१४॥

१. **उषासानक्ता**=उषःकाल व रात्रि दोनों **देवी**=हमारे लिए दिव्य गुणों को लिये हुए हों और ये **प्रयति यज्ञे**=इस चल रहे जीवन-यज्ञ में, अर्थात् वर्त्तमान जीवनयात्रा में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अह्वेताम्**=पुकारें, अर्थात् हम प्रातः-सायं उस प्रभु का स्मरण करें, वस्तुतः तभी यह जीवनयात्रा सुचारुरूपेण चलती है। २. इस जीवनयात्रा में **दैवीर्विशः**=दिव्य गुणोंवाली, प्रभु की ओर चलनेवाली अथवा ज्ञान से दीप्त दानशील प्रजाओं की ओर ही **प्रायासिष्टाम्**=प्रकर्षेण जानेवाले हों, अर्थात् हम सदा उत्तम संगवाले हों, जैसा हमारा संग होगा वैसे ही तो हम बनेंगे। ३. हमारे ये दिन-रात **सुप्रीते**=अत्यन्त सन्तोष से युक्त हुए-हुए (अतितुष्टे) **सुधिते**=(सुतारां हिते) अत्यन्त हितकारी बने हुए **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=विकास व प्रादुर्भाव करें, अर्थात् हम दिन-रात सन्तोष की वृत्तिवाले बनकर हितकर कार्यों में लगे हुए धनार्जन करें, परन्तु उस धनों के स्वामी को भूल न जाएँ। ४. हे जीव! तू **यज**=उस प्रभु से मेल करनेवाला बन।

भावार्थ—हम दिन-रात इस जीवनयात्रा को चलाते हुए उस प्रभु का स्मरण करें। उत्तम वृत्तिवाले लोगों से ही अपना मेल बनाएँ, सन्तुष्ट बनकर हितकारी कार्यों में लगे हुए धनार्जन करें, परन्तु प्रभु को भूलें नहीं। यज्ञशील हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवी जोष्ट्री (अहोरात्रे)

दे॒वी जोष्ट्री॒ वसु॑धिती दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धताम्। अया॑व्य॒न्याघा द्वेषा॒ꣳस्यान्या व॑क्ष॒द्वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥१५॥

१. यहाँ 'जोष्ट्री' शब्द अहोरात्र के लिए आया है। ये अहोरात्र परस्पर एक-दूसरे का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, दोनों के लिए 'दिन व रात' अलग-अलग शब्दों का प्रयोग भी होता है—'रात्रिन्दिवं, नक्तन्दिवं, अहोरात्र' आदि शब्दों में द्वन्द्वात्मक प्रयोग तो इनका है ही। ये दोनों **देवी**=दिव्य गुणोंवाले हैं, इस दिव्यता का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में ही आगे है। ये **वसुधिती**=सब निवासक तत्त्वों का धारण करनेवाले हैं। ये **देवम्**=देव वृत्तिवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं, उसकी उन्नति का कारण बनते हैं। आसुर वृत्तिवाले तो इन दिन-रोतों में भोगमय जीवन बिताते हुए अपना ह्रास कर बैठते हैं। २. इनमें से **अन्या**=एक 'रात्रि' **अघा**=पापों को व **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अयावि**=हमसे पृथक् करती है। रात्रि में सो जाने पर पाप व द्वेष विस्मृत हो जाते हैं। महानिद्रा व मृत्यु की व्यवस्था भी इन राग-द्वेषों को भुलाने के लिए ही हुई है। हम महानिद्रा में जाकर इन द्वेषों व पापवृत्तियों को बिल्कुल भूल जाते हैं। ३. **अन्या**=दूसरा यह 'दिन' **वार्याणि वसु**=(वसूनि) वरणीय धनों को **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए, उत्तम कर्मों में लगे हुए पुरुष के लिए **आवक्षत्**=प्राप्त कराता है। दिन में हम सुपथ से, उत्तम मार्ग से धन कमानेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **शिक्षिते**=द्वेष व पाप के अपनयन (दूर करने में) में तथा वरणीय वसुओं के प्रापण में सधे हुए (trained) ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा को **वीताम्**=प्रकाशित करें, आविर्भूत करें, अर्थात् हम प्रभु को भूलें नहीं। ५. हे जीव! तू **यज**=इस प्रकार प्रभु से अपना मेल बना, यज्ञशील बन, दान दे।

भावार्थ—रात्रि हमें सब द्वेषों व पापों को भुला देती है। दिन हमें वरणीय धनों के प्रापण में सहायक होता है। ये हमें धन प्राप्त कराते हुए प्रभु का भी स्मरण कराएँ।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

देवी ऊर्जाहुती (द्यावापृथिव्यौ)

देवीऽऊर्जाहुति दुघे सुदुघे पयसेन्द्रमवर्द्धताम् । इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिꣳसपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमाने पुराणेन नवमधातामूर्जमूर्जाहुतीऽऊर्जयमाने वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥१६॥

१. यहाँ 'ऊर्जाहुती' शब्द द्युलोक व पृथिवीलोक के लिए आया है (नि० ९।४२)। ये हममें 'ऊर्ज्' की आहुति देनेवाले हैं। इन्हीं से अन्न व रस के द्वारा बल व प्राणशक्ति प्राप्त करायी जाती है, अतएव ये **देवी**=दिव्य गुणोंवाले अथवा बल व प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। वे **दुघे**=अन्न व रस के द्वारा हमारा पूरण करनेवाले हैं (दुह प्रपूरणे), **सुदुघे**=बड़ी उत्तमता से ये हमारा पूरण करनेवाले हैं। ये दोनों **पयसा**=आप्यायन व वर्धन के कारणभूत रस से **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. इनमें से **अन्या**=दूसरा पितृस्थानापन्न द्युलोक **सग्धिम्**=सहभोजन को तथा **सपीतिम्**=सहपान को प्राप्त कराता है। पृथिवी से उत्पन्न हुए-हुए अन्न को उस-उस भूमि के स्वामी अपना समझते हैं और स्वयं खाते हैं, परन्तु द्युलोक से होनेवाली वृष्टि पर व्यक्ति का अधिकार नहीं, इसमें बहनेवाली हवा को सभी श्वासवायु के साथ अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार द्युलोक सपीति व सग्धि को प्राप्त कराता है। ३. ये द्यावापृथिवी **नवेन**=नव अन्न से **पूर्वं ऊर्जम्**=पुराने अन्न की **दयमाने**=रक्षा करते हैं और **पुराणेन**=पुराने से **नवं ऊर्जम्**=नये अन्न को **अधाताम्**=धारण करते हैं। कई बार चावल इत्यादि कुछ देर तक रखने आवश्यक हो जाते हैं, उसे पुराने अन्न में कुछ औषधगुणों की अधिकता हो जाती है, परन्तु नये चावल न आएँ तो पुराने को समाप्त करना पड़ जाता है, परन्तु द्युलोक व पृथिवीलोक नये धान्य को पैदा करके पुराने का रक्षण कर देते हैं और यह तो स्पष्ट ही है कि पुराने को बोकर हम नये धान को प्राप्त करते हैं। ४. इस प्रकार **ऊर्जयमाने**=ऊर्जा को बढ़ाते हुए **ऊर्जाहुती**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वार्याणि वसु**=वरणीय धनों को (अधाताम्) धारण करते हैं। ५. इस प्रकार **शिक्षिते**=नव से पुराने की रक्षा व पुराने से नव का धारण तथा यजमान के लिए वरणीय वसुओं के प्रापण की शिक्षा को पाये हुए ये द्यावापृथिवी **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=सब धनों के आधारभूत उस प्रभु का **वीताम्**=अपने में प्रजनन व प्रादुर्भाव करें। हे जीव! तू **यज**=उस प्रभु को अपने साथ संगत करनेवाला बन। धन को प्राप्त कर तथा उस धन का दान देनेवाला बन।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए उत्तम अन्नों का दोहन करनेवाले हों। ये यज्ञशील को वार्य वसु प्राप्त कराएँ। इनसे धनों को प्राप्त करते हुए हम धनों के आधारभूत प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

दैव्या होतारौ

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रमवर्द्धताम्। हताघशꣳसावाभार्ष्टां वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षितौ वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१७॥

१. ऐ० २।४ के अनुसार प्राणापान 'दैव्य होता' हैं। ये **देवाः**=दिव्य गुणयुक्त व शरीर के सारे व्यवहारों के साधक हैं। ये दोनों **दैव्या होतारा**=प्राणापान **देवम्**=दिव्य गुणोंवाले,

काम-क्रोधादि की विजिगीषावाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं। सब प्रकार की उन्नति का निर्भर इन्हीं पर है। इनकी साधना से ही मन की वृत्ति को भी हमने वश में करना है। वशीभूत मन हमारे मोक्ष तक का साधक बनता है, अतः प्राणापान सचमुच हमारा उत्तम वर्धन करते हैं। २. **हता अघशंसौ**=अघ व पाप के शंसन (प्रशंसन) को जिन्होंने नष्ट किया है। प्राणासाधना होने पर पाप पाप के रूप में दिखते हैं। उनका चमकीला रूप हमें लुब्ध नहीं कर पाता। ऐसे ये प्राणापान **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वार्याणि वसु**=(वसूनि) वरणीय धनों को **आभार्ष्टाम्**=प्राप्त कराएँ (आहृतवन्तौ)। ३. **शिक्षितौ**=इस प्रकार यज्ञशील के लिए उत्तम धन देने के लिए अभ्यस्त ये प्राणापान **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=अपने में विकास करें और हे जीव! तू **यज**=इन प्राणापान को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमारे दृष्टिकोण को शुद्ध करे। हम पाप को पाप के ही रूप में देखें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

तीन देवताएँ

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्। अस्पृक्षद्भारती दिवꣳरुद्रैर्यज्ञꣳ सरस्वतीडा वसुमती गृहान्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥१८॥

१. **तिस्रः देवीः**=भारती, सरस्वती व इडा नामक तीन देवियाँ, जो **तिस्रः**=तीनों की तीनों **देवीः**=द्युति—ज्ञानदीप्ति व दानवृत्ति को हमें प्राप्त करानेवाली हैं, ये देवियाँ **पतिम् इन्द्रम्**=काम-क्रोधादि को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयन्**=बढ़ाती हैं। २. इस रक्षक जीव को **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **भारती**=(भरत आदित्यः, तस्य भा भारती) हमारा धारण करनेवाली ये सूर्य की किरणें **अस्पृक्षत्**=छूती हैं ३. **रुद्रैः**=(रोरुयमाणो द्रवति—नि०) उस प्रभु के नामोच्चारण के साथ क्रिया में लगे रहने के साथ **सरस्वती**=शिक्षा की अधिदेवता **यज्ञम्**=आत्मा के इन्द्रियों के साथ संगतिकरण करानेवाले मन को (हृदयान्तरिक्ष को) छूती है तथा ४. यह **वसुमती**=सब वसुओं को देनेवाली **इडा**=श्रद्धा **गृहान्**=हमारे इन शरीररूपी घरों को छूती है, अर्थात् इन तीन देवियों के अनुग्रह से हमारा मस्तिष्क, मन व गृहरूप शरीर सब सुन्दर बन जाते हैं। ५. ये तीनों देवियाँ **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=उस धन के आधारभूत प्रभु को **व्यन्तु**=विकसित करें, उसकी भावना को अपने में जागरित करें, अर्थात् प्रभु को भूलें नहीं। **यज**=हे जीव! तू इन देवियों को अपने साथ संगत कर अथवा प्रभु के साथ अपना मेल बना और उसके लिए दानशील बन।

भावार्थ—हम 'भारती, सरस्वती व इडा' इन देवियों के पति बनें। इनसे हमारे मस्तिष्क, मन व शरीररूप गृह सुभूषित हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

त्रिवरूथ-त्रिबन्धुर

देवऽइन्द्रो नराशꣳसस्त्रिवरूथस्त्रिबन्धुरो देवमिन्द्रमवर्द्धयत्। शतेन शितिपृष्ठानामाहितः सहस्रेण प्र वर्त्तते मित्रावरुणेदस्य होत्रमर्हतो बृहस्पति स्तोत्रमश्विनाध्वर्यवं वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥१९॥

१. **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली, **नराशंसः**=मनुष्यों से स्तुति करने योग्य, **त्रिवरूथः**=शरीर (इन्द्रियाँ), मन व बुद्धि को सुरक्षित करनेवाला (वरूथ=cover) अथवा भौतिक सम्पत्ति–शारीरिक बलरूप सम्पत्ति तथा मस्तिष्क के ज्ञानरूप धन को देनेवाला (वरूथ=wealth) **त्रिवन्धुरः**=पृथिवीलोक, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को परस्पर बाँधनेवाला वह प्रभु **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। २. यह प्रभु **शितिपृष्ठानां शतेन**=(शितयः तीक्ष्णाः पृष्ठः=प्रच्छ जिज्ञासायाम्') तीव्र जिज्ञासाओं के सैकड़ों से **आहितः**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के हृदय में स्थापित होता है, अर्थात् जब हमें निरन्तर प्रभु की जिज्ञासा होती है तभी हमें हृदयों में उस प्रभु का आभास मिलता है। ३. **सहस्त्रेण प्रवर्त्तते**=वे प्रभु हज़ारों प्रकार से अपने कार्य को कर रहे हैं। ४. **मित्रावरुणा इत्**=मित्र और वरुण ही, अर्थात् सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के निवारणवाले पुरुष ही **अस्य**=इस प्रभु के **होत्रम्**=होतृकार्य के **अर्हतः**=योग्य होते हैं। इन्हीं को इस प्रभु के आह्वान का अधिकार है। प्रभु की सच्ची प्रार्थना वही करता है जो सबके साथ स्नेह से रहता है और द्वेष नहीं करता। ५. **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति ही **स्तोत्रम्**=इस प्रभु के स्तवन का अधिकारी है तथा **अश्विनौ**=प्राणापान **आध्वर्यवम्**=इस जीवनयज्ञ के कार्य-सञ्चालन के सम्यक्तया योग्य होते हैं। प्राणापान के ठीक होने पर ही जीवन सुचारुरूपेण चलता है। ६. **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु को **वेतु**=मनुष्य अपने में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करे। **यज**=हे जीव! इस प्रकार तू उस प्रभु से अपना मेल कर, उसके लिए दान देनेवाला बन।

भावार्थ—हम 'त्रिवरूथ-त्रिबन्धुर' प्रभु का स्मरण करें। विज्ञान के अध्ययन में जिज्ञासाओं के द्वारा प्रभु-भावना का हममें उदय हो। धन का सञ्चय करते हुए वस्तुतः धनों के स्वामी उस प्रभु को हम न भूलें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मधुशाखः सुपिप्पलः (यह संसार-वृक्ष)

दे॒वो दे॒वैर्वन॒स्पति॒र्हिर॑ण्यपर्णो॒ मधु॑शाखः सुपिप्प॒लो दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत्।
दिव॒मग्रे॑णास्पृक्ष॒दान्तरि॑क्षं पृथि॒वीम॑दृꣳहीद्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु यज॑॥२०॥

१. **देवः**=सब व्यवहारों का साधक, **हिरण्यपर्णः**=हितरमणीय पालन व पूरण करनेवाला (सुनहले पत्तोंवाला), **मधुशाखः**=माधुर्यमयी शाखाओंवाला **सुपिप्पलः**=उत्तम फलवाला **वनस्पतिः**=सौन्दर्य, यश व धन (loveliness, glory, wealth) का रक्षक यह संसार-वृक्ष **देवैः**=अपने 'अग्नि, वायु सूर्य' आदि देवों से **देवम्**=ज्ञान की दीप्ति प्राप्त करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। यह संसार एक वृक्ष है। यह हमें सब आवश्यक वस्तुओं को देकर (देवो दानात्) हमारे सब जीवन-व्यवहारों का साधक है (व्यवहार=दिव्), अतः 'देव' है। यह सुन्दरता व हितपूर्वक हमारा पालन करने से 'हिरण्यपर्ण' है। इसकी विविध योनिरूप शाखाओं में हमारे लिए माधुर्य निहित है। गौ हमें दूध देती है। घोड़ा हमारे व्यायाम व आने-जाने का साधन बनता है, भेड़ हमें ऊन प्राप्त कराती है, बकरी सर्वरोगापहारी दूध देती हुई पशम देती है। इस प्रकार ये विविध शाखाएँ हमारे जीवन को मधुर बना रही हैं। मधुर फलोंवाला तो यह वृक्ष है ही। इस संसार-वृक्ष के सूर्यादि सब देव जितेन्द्रिय पुरुष की उन्नति का कारण बनते हैं। २. यह संसार-वृक्ष **अग्रेण**=अग्रभाग से **दिवम्**=द्युलोक को **अस्पृक्षत्**=छूता है, अर्थात् इसका एक प्रान्त (सिरा)

द्युलोक है तो यह **आ अन्तरक्षिम्**=चारों ओर इस अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है और **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अदृंहीत्**=दृढ़ बना रहा है। इसका मध्यभाग अन्तरिक्ष है और इसका (उपरेण) दूसरा सिरा यह दृढ़ पृथिवीलोक है। इस प्रकार त्रिलोकी से बना हुआ यह संसारवृक्ष है। ३. यह संसार-वृक्ष **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य वेतु**=धन के आधारभूत उस प्रभु का प्रजनन=प्रादुर्भाव करनेवाला हो। **यज**=हे जीव! तू उस प्रभु से अपना मेल करनेवाला बन। एतदर्थ तू यज्ञशील हो, दान देनेवाला बन।

भावार्थ—यह 'हिरण्यपर्ण मधुशाख, सुपिप्पल' संसारवृक्ष हमारे लिए वर्धन का कारण बने। धन के सेवन में धन के आधारभूत प्रभु का प्रादुर्भाव करनेवाला हो।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवं बर्हिः

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रमवर्द्धयत्।

स्वासस्थमिन्द्रेणासन्नमन्या बर्हीᳬष्यभ्यभूद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥२१॥

१. **वारितीनाम्**='वे प्रभु वरणीय हैं, उस प्रभु में (वारि इतिर्गतिर्येषां) **इति**=गतिवाले, विचरनेवाले, प्रभुभक्तों का **देवम् बर्हिः**=दिव्य गुणों से पूर्ण प्रकाशमय, वासनाशून्य हृदय **देवम्**=दानशील, द्युतिवाले, अपनी ज्ञानज्योति से औरों का दीपन करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। वस्तुतः वासनाशून्य हृदय हमारी सब उन्नतियों का साधक है। २. यह वासनाशून्य हृदय उस जीव को बढ़ाता है जो **स्वासस्थम्**=(सुखेन आसनेन तिष्ठति) सदा सुखासन पर स्थित होने का अभ्यास करता है, सब इन्द्रियों को उत्तम बनानेवाले (सु) आसनों को करता है (आस+स्थ), और इन आसनों का अभ्यास करते हुए **इन्द्रेण आसन्नम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का समीपस्थ उपासक बनता है। ३. इस प्रकार 'आसनों का अभ्यास' व 'प्रभु का उपासन' करने से यह **अन्या बर्हीषि**=अन्य निर्वासन हृदयों को **अभ्यभूत्**=जीत लेता है, उनका अभिभव करनेवाला होता है, अर्थात् इसका हृदय सबसे अधिक वासनाशून्य हो जाता है। ४. यह वासनाशून्य हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=प्रजानन व प्रादुर्भाव करे, अर्थात् धन के अन्दर विचरण करते हुए भी प्रभु को भूल न जाए। **यज**=हे जीव! तू यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना सम्पर्क बना।

भावार्थ—आसनों के अभ्यास व उपासना से हमारा हृदय वासनाशून्य हो। यह हृदय प्रभु को कभी भुलानेवाला न हो।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

स्विष्टकृद् अग्निः

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रमवर्द्धयत्।

स्विष्टं कुर्वन्त्स्विष्टकृत् स्विष्टमद्य करोतु नो वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥२२॥

१. यह **अग्निः**=यज्ञ में समाहित किया गया अग्नि **देवः**=हमें सब कुछ देनेवाला है, रोगादि के निवारण से दिव्य गुणोंवाला है। **स्विष्टकृत्**=यह हमारे सब उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला है (एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्)। यह यज्ञाग्नि **देवम्**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है, उसकी उन्नति का कारण बनता है। २. **स्विष्टम् कुर्वन्**=हमारे उत्तम इष्टों को सिद्ध करता हुआ **स्विष्टकृत्**=यह कल्याण

करता हुआ अग्नि **अद्य**=आज हमारे **स्विष्टम्**=उत्तम इष्ट को **करोतु**=सिद्ध करे, यह हमें नीरोगता व सौमनस्य को देनेवाला हो। ३. **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत, सब धनों के स्वामी उस प्रभु को **वेतु**=हममें प्रादुर्भूत करे। **यज**=हे जीव! तू उस प्रभु के साथ सम्पर्क बनानेवाला हो, यज्ञशील बन, दान देनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्रतिदिन अग्निहोत्र में अग्न्याधान करते हुए अपने इष्ट नैरोग्य व सौमनस्य को सिद्ध करें। संसार में विचरते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। सदा यज्ञशील बने रहें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

छाग बन्धन

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मान॒ः पच॒न् पक्तीः॒ पच॑न् पुरो॒डाशं॑ ब॒ध्नन्निन्द्रा॑य छाग॑म्। सू॒प॒स्थाऽअ॒द्य दे॒वो व॒न॒स्पति॑रभव॒दिन्द्रा॑य॒ छागे॑न। अघ॒त्तं मेद॒स्तः प्रति॑ पच॒ताग्र॑भी॒दवी॑वृधत्पुरो॒डाशे॑न॥ २३॥

१. **अयम्**=इस **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति ने **अद्य**=आज **होतारम्**=इस सृष्टि के सर्वोत्तम पदार्थों को देनेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **अवृणीत**=वरण किया है। यह **पंक्तिः पचन्**=पक्तव्य पदार्थों का परिपाक कर रहा है। इसने शरीर को दृढ़ बनाया है और मस्तिष्क को ज्ञान से परिपक्व किया है। **पुरोडाशम् पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः। —कौ० १३.५) इसने अपनी आत्मा का भी ठीक परिपाक किया है। आध्यात्मिकता का पोषण ही आत्मा का परिपाक है। **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के विकास के लिए **छागम् बध्नन्**=वासनाओं के छेदन-भेदन का प्रबन्ध किया है। वासनाओं के छेदन से ही आत्मशक्ति का विकास होता है। ३. **छागेन**=इस वासनाओं के छेदन-भेदन में **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अद्यः** आज=वासना विनाश हो जाने पर **देवः**=वह ज्योतिर्मय **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति प्रभु **सूपस्था**=सुगमता से उपस्थान के योग्य **अभवत्**=हो गया है। वासनाओं ने ही वस्तुतः ज्ञान पर वह परदा डाला हुआ था, जिससे हमें उस प्रभु की ज्योति का दर्शन नहीं हो रहा था। ४. आज वासना-विनाश द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर यह भक्त **तम्**=उस प्रभु को **मेदस्तः**=बड़े स्नेह से **अघत्**=खाता है, अर्थात् अपने अन्दर ग्रहण करता है। वस्तुतः यह प्रभु का, ब्रह्म का भक्षण ही 'ब्रह्मचर्य' है, ब्रह्म का चरना। ५. **प्रतिपचता**=इसी उद्देश्य से इसने एक-एक शक्ति का ठीक से परिपाक किया है। **अग्रभीत्**=उन शक्तियों का इसने ग्रहण किया है और **पुरोडाशेन**=आत्मभाव से **अवीवृधत्**=बढ़ा है।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष प्रभु का ही वरण करता है। वासना-विनाश से वह प्रभु सुगमता से उपस्थान के योग्य होता है। वह अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करता है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि गौः

होता॑ यक्षत्स॒मिधा॒नं म॒हद्यश॒ः सुस॑मिद्धं॒ वरे॑ण्यम॒ग्निमिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। गा॒य॒त्रीं छन्द॑ऽइ॒न्द्रि॒यं त्र्यविं॒ गां वयो॒ दध॒द्वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥ २४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वासना को विनष्ट करनेवाला व्यक्ति ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है। विद्या की अधिदेवता को अपनानेवाला यह व्यक्ति 'सरस्वती' नामवाला हो जाता है। यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता

है, जो (क) **समिधानम्**=सूर्यादि सब लोक-लोकान्तरों को दीप्त कर रहे हैं, (ख) **महद्यशः**=महनीय यशवाले हैं, (ग) **सुसमिद्धम्**=ज्ञान से सम्यक् दीप्त हैं, (घ) **वरेण्यम्**=वरने के योग्य हैं, प्रकृति की तुलना में प्रभु का ही वरण ठीक है प्रकृति-वरण से प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु प्रभु-वरण से प्रकृति तो मिल ही जाती है, (ङ) **अग्निम्**=वे प्रभु हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (छ) **वयोधसम्**=हममें उत्कृष्ट आयु को धारण करनेवाले हैं। २. इस होता को चाहिए कि (क) **गायत्रीम् छन्दः**=प्राणरक्षा की (गयाः प्रणाः, तान् तत्रे) प्रबल इच्छा को, (ख) **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को, (ग) **त्र्यविम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को, (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, शक्ति को अपने में सुरक्षित करे। शक्ति की रक्षा से ही प्राणरक्षा होगी, इन्द्रियों का सामर्थ्य प्राप्त होगा, शरीर, मन व बुद्धि तीनों का रक्षण होगा और जीवन उत्कृष्ट बनेगा। ४. **होतः**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! **यज**=तू यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हम होता बनकर देदीप्यमान प्रभु से अपना मेल बनाएँ। प्राणरक्षा की हमारी प्रबल कामना हो, शरीर, मन व बुद्धि की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को हम अपनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

दित्यवाट् गौः

होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम्।
उष्णिहं छन्दऽइन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२५॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, उस प्रभु को, जो—(क) **तनूनपातम्**=हमारे शरीर व शक्तियों के विकास को न गिरने देनेवाले हैं, प्रभु स्मरण से शरीर स्वस्थ बना रहता है, (ख) **उद्भिदम्**=वे प्रभु सब विघ्नों को विदीर्ण करके हमारा उत्थान करनेवाले हैं, (ग) ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अदितिः**=न खण्डित होनेवाला, अपने शरीर व मन को रोगों व वासनाओं से आक्रान्त न होने देनेवाला **गर्भं दधे**=अपने में गर्भरूप से धारण करता है, अर्थात् प्रभु का निवास अदिति में होता है, उस पुरुष में जोकि रोगों व वासनाओं से खण्डित न हो, (घ) **शुचिम्**=वे प्रभु पूर्ण पवित्र हैं, हमें पवित्र बनानेवाले हैं, (ङ) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (च) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. यह होता (क) **उष्णिहं छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की प्रबल कामना को, (ख) **इन्द्रियम्** =प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को, (ग) **दित्यवाहं गाम्**=वासनाओं का खण्डन करनेवाली वेदवाणी को, (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, वीर्य को अपने अन्दर ही सुरक्षित करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हम होता बनकर सब उन्नतियों के साधक प्रभु को धारण करें। हमारा स्नेह प्रकृति से न होकर प्रभु से हो। हम वासनाओं का खण्डन करनेवाले वेदज्ञान को अपनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

पञ्चावि गौः

होता यक्षदीडेन्यमीडितं वृत्रहन्तममिडाभिरीड्यꣳसहः सोममिन्द्रं वयोधसम्।
अनुष्टुभं छन्दऽइन्द्रियं पञ्चाविं गां वयोदधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **ईडेन्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, (ख) **इडाभिः ईडितम्**=सब वेदवाणियों से स्तुति किये गये हैं **'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति'** (ग) **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं का सर्वाधिक विनाश करनेवाले हैं, (घ) **ईड्यम् सहः**=स्तुत्य शक्ति के पुञ्ज हैं, (ङ) **सोमम्**=अत्यन्त शान्त है, अर्थात् शक्ति के साथ शान्ति का प्रभु में पूर्ण समन्वय है, इसी से उनकी शक्ति प्रशंसनीय है, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (छ) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. होता को चाहिए कि उसमें (क) **अनुष्टुभम् छन्दः**=(अनुस्तौति) प्रत्येक सफलता के साथ प्रभु-स्तवन की भावना हो, जिससे उस सफलता का गर्व न हो जाए, उस सफलता को प्रभु से होता हुआ समझकर हम अहंकार न करें, (ख) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को (ग) **पञ्चाविम् गाम्**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं से बचाकर इस पाञ्चभौतिक शरीर की, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधद्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, अपने में शक्ति को सुरक्षित करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन, दान देनेवाला बनकर प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ— हम होता बनकर वासनाओं को नष्ट करनेवाले 'वृत्रहन्तम' प्रभु का अपने से मेल बनाएँ। हम प्रत्येक सफलता को प्रभु की शक्ति से होता हुआ समझें। हम उस वेदवाणी को अपनाएँ जो पाँचों इन्द्रियों की रक्षा करनेवाली है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

त्रिवत्स गौः

होता यक्षत्सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यꣳसीदन्तं बर्हिषि प्रियेऽमृतेन्द्रं वयोधसम्। बृहतीं छन्दऽइन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२७॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **सुबर्हिषम्**=उत्तमता से हृदय को वासनाशून्य बनानेवाले हैं, प्रभु नाम-स्मरण के साथ ही हृदय से वासनाएँ नष्ट होनी प्रारम्भ हो जाती हैं, (ख) **पूषण्वन्तम्**=वे प्रभु हमारा उत्तम पोषण करनेवाले हैं (ग) **अमर्त्यम्**=अमरणधर्मा हैं और (घ) **प्रिये**=प्रेम से युक्त, द्वेषादि से शून्य **अमृता**=(अमृते) विषयों के पीछे न मरनेवाले **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **सीदन्तम्**=निवासन करते हुए (ङ) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, (च) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. इस होता को चाहिए कि (क) **बृहतीं छन्दः**=सब प्रकार की वृद्धि की प्रबल भावना को (ख) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को (ग) **त्रिवत्सं गाम्**=प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का प्रतिपादन करनेवाली वेदवाणी को (त्रीन् वदति) अथवा ज्ञान, कर्म व उपासना का प्रतिपादन करनेवाली वेदवाणी को (घ) तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन। दान देनेवाला बनकर प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—होता उस प्रभु को अपने साथ संगत करता है जो प्रभु प्रिय, अर्थात् द्वेष से शून्य तथा अमृत, विषयों के पीछे न मरनेवाले वासनाशून्य हृदय में निवास करते हैं।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

तुर्यवाड् गौः

होता यक्षद्व्यचस्वतीः सुप्रायणाऽऋतावृधो द्वारो देवीर्हिरण्ययीर्ब्रह्माणमिन्द्रं वयोधसम्। पङ्क्तिं छन्दऽइहेन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥२८॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **देवीः द्वारः**=दिव्य इन्द्रियों को—जीवनयात्रा के विविध कार्यों व व्यवहारों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रियरूप द्वारों को, जो (क) **व्यचस्वतीः**=(अञ्चु गतौ) विशिष्टरूप से अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले हैं तथा (ख) **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट गमनवाले हैं (ग) **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का वर्धन करनेवाले हैं, उन इन्द्रियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जो (क) **हिरण्ययीः**=हितरमणीय ज्ञान को प्राप्त करानेवाली हैं। २. इस प्रकार यह होता इन इन्द्रियों को सम्यक्तया नियमित करता हुआ इनके द्वारा उस प्रभु को अपने साथ **यक्षत्**=संगत करता है, जोकि (क) **ब्रह्माणम्**=(परिवृढं) अत्यन्त बढ़े हुए हैं और इस संसार को बढ़ानेवाले हैं, (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, तथा (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. यह होता (क) **पंक्तिम् छन्दः**='पाँचभौतिक शरीर को मैं बड़ा ठीक रक्खूँगा, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों को पूर्ण सशक्त बनाऊँगा', इस प्रबल इच्छा को, (ख) **इह**=इस शरीर में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को (ग) **तुर्यवाहं गाम्**= उस वेदवाणी को जो कि उसे तुरीयावस्था तक पहुँचाती है, अर्थात् उसे पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक के विजय के बाद ब्रह्मलोक में पहुँचने के योग्य बनाती है तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से यह प्रयत्न करे कि इसके इन्द्रियद्वार **आज्यस्य व्यन्तु**=तेज को पान करनेवाले बनें, इस शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करें। ये इन्द्रियद्वार संयत होने पर विषय-वासनाओं में न जाएँगे और इस प्रकार शक्ति का रक्षण करनेवाले हो सकेंगे। ४. हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु को अपना और इसी उद्देश्य से यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष अपने इन्द्रियद्वारों को ज्योतिर्मय बनाकर, इनके द्वारा प्रभु की महिमा को देखता हुआ, प्रभु को अपने साथ संगत करे।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अहोरात्रे**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पष्ठवाड् गौः

होता यक्षत्सुपेशसा सुशिल्पे बृहतीऽउभे नक्तोषासा न दर्शते विश्वमिन्द्रं वयोधसम्। त्रिष्टुभं छन्दऽइहेन्द्रियं पष्ठवाहं गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज॥२९॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदनशील पुरुष **नक्तोषासा**=उन 'दिन और रात' को अपने साथ **यक्षत्**=संगत करता है जो (क) **सुपेशसा**=(शोभनं पेशो याभ्याम्) उत्तम रूप को देनेवाले हैं, दिन क्रिया द्वारा शक्ति देकर रूप का वर्धन करता है तो रात्रि रमयित्री होती हुई सारी तोड़-फोड़ को फिर से ठीक करके सौन्दर्य प्रदान करती है। (ख) **सुशिल्पे**=(यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्) एक-दूसरे की प्रतिरूप हैं, दिन प्रकाशमय है तो रात्रि अन्धकारमय, दिन क्रिया करने का समय है तो रात्रि विश्रामस्थली है, दिन का ईश 'सूर्य' है तो रात्रि का ईश 'चन्द्र' है। (ग) **बृहती**=ये दिन-रात दोनों ही हमारा वर्धन करनेवाले हैं, **न**=और (च) ये **उभे**= दोनों ही **दर्शते**=दर्शनीय हैं, 'दिन' सूर्य के प्रकाश से देदीप्यामान है तो 'रात्रि' को चन्द्र

व तारे दर्शनीय बना रहे हैं। २. ऐसे दिन और रात को होता अपने साथ संगत करता है और साथ ही इन दिन व रात में उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ उस प्रभु को भी अपने साथ संगत करता है, जो प्रभु (क) **विश्वम्**=(विशति) इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में प्रविष्ट होकर इस संसार-यन्त्र का सञ्चालन कर रहे हैं, (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं तथा (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करानेवाले हैं। ३. यह होता (क) **त्रिष्टुभम् छन्दः**=(त्रि स्तुभ) मैं 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोक दूँगा, इस प्रबल भावना को, (ख) **इह इन्द्रियम्**=इस मानव-जीवन में इन्द्रियों के सामर्थ्य को, (ग) **पष्ठवाहम् गाम्**=उस वेदवाणी को जो अपनी पीठ पर कर्म के भार को उठाये हुए है, अर्थात् **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** इस वाक्य के अनुसार सारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली है तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से प्रयत्न करता है कि उसके लिए ये दिन और रात **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करानेवाले हों, अर्थात् होता दिन-रात शक्ति के पान का ध्यान करता हुआ ही अपने जीवन को उत्कृष्ट बना पाएगा। ५. **हे होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु के साथ संग बना और यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष के लिए दिन-रात बड़े सुन्दर होते हैं, ये उसे सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यह इनके चक्र में प्रभु के रचना-सौन्दर्य को देखता हुआ प्रभु को पूजता है, उसके साथ अपना सम्पर्क बनाता है और उसके प्रति अपना अर्पण कर देता है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अनड्वान् गौः

होता यक्षत्प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम्। जगतीं छन्दऽइन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज॥३०॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है। उन प्राणापानों को जोकि (क) **प्रचेतसा**=उसे प्रकृष्ट ज्ञानी बनानेवाले है, (ख) **कवी**=जो क्रान्तदर्शी हैं। वस्तुतः प्राणापान की साधना से बुद्धि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वह गहरे-से-गहरे विषय को भी समझने के योग्य होता है और साधक प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनता है, (ग) ये प्राणापान **देवानाम्**=विषयों को ग्रहण करानेवाली इन्द्रियों के **उत्तमं यशः**=उत्तम यश हैं। इनके ही कारण ये इन्द्रियाँ अपने कार्यों को कर पाती हैं, (घ) **सयुजा**=ये प्राणापान सयुज हैं। प्राण अपान के साथ मिलकर चलता है और अपान प्राण के साथ। ये शरीर में सदा साथियों की भाँति 'सयुज्' हैं। २. यह होता इन दैव्य होताओं, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा उस प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है जोकि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं और **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. **जगतीं छन्दः**=क्रियाशीलता की इच्छा को, **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **अनड्वाहम् गाम्**=उस वेदवाणी को, जो संसार-शकट का वहन करनेवाली है। मनुष्य **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण के हेतु से **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करे। प्राणापान के द्वारा शक्ति का संयम होने पर ही 'जगती छन्द' इत्यादि सब बातों का सम्भव होगा। ४. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **यज**=तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष के लिए प्राणापान प्रकृष्ट ज्ञान को देनेवाले होते हैं। ये उसके अन्दर क्रियाशीलता को उत्पन्न करते हैं, इन्द्रियों के सामर्थ्य को देते है, जीवन-यात्रा को

पूर्ण करने की क्षमता देते हैं और उसके जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**वाण्यः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

धेनु गौः

होता यक्षत्पेशस्वतीस्तिस्रो देवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्महीः पतिमिन्द्रं वयोधसम्। विराजं छन्दऽइहेन्द्रियं धेनुं गां न वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥३१॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रो देवीः भारतीः**=भारती, सरस्वती व इडा नामक तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है जो देवियाँ—(क) **पेशस्वतीः**=उत्तम रूपवाली हैं, जिनकी स्थिति से मनुष्य का स्वरूप बड़ा उत्तम प्रतीत होता है, (ख) **हिरण्ययीः**=जो अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं, इनमें से एक मस्तिष्क को दीप्त करती है (भारती) तो दूसरी मन को (सरस्वती) तथा तीसरी शरीर को ठीक रखती है (इडा), (ग) **बृहतीः**=ये उसका वर्धन करनेवाली हैं और **महीः**=उसको महत्त्व प्राप्त कराती हैं। २. यह होता इन देवियों के सम्पर्क के द्वारा उस प्रभु को अपने साथ संगत करता है जो (क) **पतिम्**=हम सबके स्वामी व रक्षक हैं (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, और (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. **विराजं छन्दः**='मैं इस जीवन में खूब देदीप्यामान होऊँ (राज् दीप्तौ, अथवा राज् To regulate) अथवा जीवन को बड़ा व्यवस्थित करूँ', इस इच्छा को, **इह**=इस जीवन में **इन्द्रियम्** =प्रत्येक इन्द्रिय के सामथर्य को, **धेनुम् गाम्**=ज्ञानदुग्ध के द्वारा वर्धन करनेवाली वेदवाणी को, **न**=और **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**='धारण करता हुआ यह होता बने' इसके लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=ये तीनों देवियाँ शक्ति का पान करें, अर्थात् इनके द्वारा शक्ति का शरीर में ही व्यय हों। अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होकर यह शक्ति उसे सुन्दर रूप दे। ४. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—होता का जीवन 'भारती, सरस्वती व इडा' के कारण बड़ा सुन्दर हो जाता है। ये देवियाँ उसके जीवन को ज्योतिर्मय बना देती हैं।

ऋषि—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

उक्षा गौः

होता यक्षत्सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्द्धनꣳरूपाणि बिभ्रतं पृथक् पुष्टिमिन्द्रं वयोधसम्। द्विपदं छन्दऽइन्द्रियमुक्षाणं गां न वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥३२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **सुरेतसम्**=वासना-विनाश के द्वारा हमारे **रेतस्**=(वीर्य) को शोभन बनाये रखते हैं, उस प्रभु के नामस्मरण से रेतस् में वासनाजनित उष्णता उत्पन्न नहीं होती, (ख) **त्वष्टारम्**=जो हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं अथवा हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाले हैं, (ग) **पुष्टिवर्द्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं, (घ) **रूपाणि बिभ्रतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य को धारण करनेवाले हैं (ङ) **पृथक् पुष्टिम्**=अलग-अलग एक-एक अङ्ग को पुष्ट करनेवाले हैं, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, और (छ) **वयोधसम्** =उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. **द्विपदम् छन्दः**=(द्वाभ्यां पद्यते) 'मैं ज्ञानमार्ग व कर्ममार्ग दोनों का समन्वय करके चलूँगा', इस प्रबल इच्छा को, **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सम्पर्क को, **उक्षाणं गाम्**=सुखों का सेचन करनेवाली वेदवाणी को **न**=और **वयः**=उत्कृष्ट जीवन

को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=यह त्वष्टा देव इस होता में सोम का (शक्ति का) पान कराए। इसके शरीर में ही रेतस् का व्यापन हो। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ–त्वष्टादेव हमें सुरेतस् बनाएँ, हमारे जीवनों को सुन्दर व पुष्ट करें।

ऋषिः–**सरस्वती**। देवता–**इन्द्रः**। छन्दः–**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः–**गान्धारः**।

वशा वेहत् गौः

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुꣳहिरण्यपर्णमुक्थिनꣳरशनां बिभ्रतं वशिं भगमिन्द्रं वयोधसम्। ककुभं छन्दऽइहेन्द्रियं वशां वेहतं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस विद्वान को संगत करता है, जोकि **वनस्पतिम्**=ज्ञान की किरणों का पति है, **शमितारम्**=शान्ति प्रदाता व शान्तस्वभाव है, **शतक्रतुम्**=सैकड़ों प्रज्ञानों व कर्मोंवाला है, **हिरण्यपर्णम्**=हितरमणीय ज्ञान से पालन व पूरण करनेवाला है, **उक्थिनम्**=स्तोत्रोंवाला है, प्रभु का स्तवन करनेवाला है, **रशनां बिभ्रतम्**=मेखला को धारण करनेवाला है, अर्थात् दृढ़ निश्चयी है, **वशिम्**=अपनी वासनाओं को वशीभूत करनेवाला है, **भगम्**=ऐश्वर्यशाली है अथवा (भज सेवायाम्) सेवा की वृत्तिवाला है, **इन्द्रम्**=शक्तिशाली है और आसुर भावनाओं का विद्रावण करनेवाला है। **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला है। ऐसे विद्वान् के सम्पर्क में आकर वह होता भी इसी प्रकार के जीवनवाला बनता है। २. **ककुभं छन्दः**='मैं शिखर पर पहुँचूँगा', इस इच्छा को, **इह**=इस मनाव-जीवन में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **वशां वेहतं गाम्**=उस वेदवाणी को जो वशा व वन्ध्या है, अर्थात् मनुष्य को फल की इच्छा से ऊपर उठकर कार्य करनेवाला बनाती है तथा **वेहतम्**=गर्भोपधातिनी, सब बुराइयों को गर्भवास्था में ही समाप्त करनेवाली है (to nip the evil in the bud) तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण के हेतु से यह होता **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, शक्ति को अपने शरीर में व्याप्त करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपने को संगत कर।

भावार्थ–विद्वान्, शान्त, यज्ञशील पुरुषों का संग हमारे जीवन को भी उत्कृष्ट बनाये। हम उन्नति के शिखर पर पहुँचने की कामना करें। फल की इच्छा से ऊपर उठकर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करें और बुराई को गर्भ में ही समाप्त करने का ध्यान करें।

ऋषिः–**सरस्वती**। देवता–**अग्निः**। छन्दः–**अतिशक्वरी**। स्वरः–**पञ्चमः**।

ऋषभ गौः

होता यक्षत् स्वाहाकृतीरग्निं गृहपतिं पृथग्वरुणं भेषजं कविं क्षत्रमिन्द्रं वयोधसम्। अतिच्छन्दसं छन्दऽइन्द्रियं बृहदृषभं गां वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३४॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। किन बातों को? (क) **स्वाहाकृतीः**=(सु आह कृति) वाणी से उत्तम शब्दों को बोलने की क्रियाओं को, या (स्व+हा=कृति) स्वार्थत्याग के कर्मों को, (ख) **गृहपतिं अग्निं पृथक्**=रोगादि के निवारण से तथा वायु-शुद्धि से घरों के रक्षक यज्ञियाग्नि को अलग-अलग, अर्थात् होता के घर का प्रत्येक सभ्य अपने-अपने अंश को अग्निहोत्र में डाले, (ग)

वरुणम्=द्वेष-निवारण की देवता को जोकि द्वेषजन्य विषों को पैदा न होने देने के कारण शरीर के रोगों का **भेषजम्**=औषध है तथा मस्तिष्क में **कविम्**=क्रान्तदर्शिता को प्राप्त करानेवाला है, (घ) **इन्द्रः**=सब आसुरवृत्तियों का विद्रावण करनेवाले इन्द्र को जो **क्षत्रम्**=सब क्षतों से बचानेवाला है और इस प्रकार **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाला है। २. **अतिच्छन्दसं छन्दः**=भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठने की इच्छा को, **बृहद्**=वृद्धि के कारणभूत **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **ऋषभं गाम्**=(ऋष गतौ) 'गति की प्रेरणा देनेवाली वेदवाणी को **दधत्**=धारण करनेवाला यह होता बने' इसलिए 'वरुण, इन्द्र' आदि इसके लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=सोमशक्ति का शरीर में ही व्यापन करनेवाले बनें। ३. हे **होतः**=दानशील पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हममें स्वार्थत्याग की भावना हो, हमारे घर का प्रत्येक सभ्य यज्ञ के स्वभाववाला बने। हम द्वेष से दूर रहकर स्वस्थ व ज्ञानी बनें, भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गायत्री छन्द

दे॒वं ब॒र्हिर्व॑यो॒धसं॑ दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत् ।

गा॒य॒त्र्या छन्द॑से॒न्द्रि॒यं चक्षु॒रिन्द्रे॒ वयो॑ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥३५॥

१. **देवम् बर्हिः**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाला वासनाशून्य हृदय **वयोधसम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करनेवाला है। हृदय के अच्छा होने पर जीवन भी अच्छा होता है। २. यह हृदय **देवम्**=ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। हृदय की पवित्रता ही सब प्रकार की वृद्धि का मूल है। ३. **गायत्र्या छन्दसा**=प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा के द्वारा **इन्द्रियम्** =वीर्य व इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=स्थापित करता हुआ, यह पवित्र हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु को **वेतु**=प्रजनन करे 'प्रभु-भावना' को अपने में विकसित करे। ४. हे **होतः**=दानशील पुरुष! तू **यज**=इस पवित्र हृदय के द्वारा उस प्रभु का अपने-आप संगम कर, प्रभु की पूजा करनेवाला बन, उसके प्रति अपना अर्पण कर दे।

भावार्थ—दिव्य हृदय प्रभु-प्राप्ति का प्रथम साधन है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना का प्रारम्भ वहीं से होता है कि हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उष्णिक् छन्द

दे॒वीर्द्वारो॑ वयो॒धस॒ꣳशुचि॒मिन्द्र॑मवर्द्धयन् ।

उ॒ष्णिहा॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यं प्रा॒णमिन्द्रे॒ वयो॑ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥३६॥

१. **देवीः द्वारः**=दिव्य गुणोंवाले, व्यवहारों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाले (दिव व्यवहार) ये इन्द्रियद्वार **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **शुचिम्**=पवित्र **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयन्**=बढ़ाते हैं। सब इन्द्रियाँ—ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ पवित्र जीवनवाले पुरुष को बढ़ानेवाली होती है। २. **उष्णिहा छन्दसा**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की प्रबल कामना के साथ-साथ (क) **इन्द्रियम्**=वीर्य को **प्राणम्**=पाँचों इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=स्थापित

करते हुए (दधतः) **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत उस प्रभु को **व्यन्तु**=प्रादुर्भूत करें, सब द्वार उस प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु के साथ अपना मेल बना, इसके लिए तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—सब इन्द्रियद्वारों की पवित्रता तथा हीन स्नेह से ऊपर उठना, हमें प्रभु की ओर ले-आता है। प्रकृति व प्रभु में हमारा स्नेह प्रभु के लिए हो, हम प्रकृति की ओर झुकाववाले न हों।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अनुष्टुप् छन्द

देवीऽउषासानक्ता देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
अनुष्टुभा छन्दसेन्द्रियं बलमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३७॥

१. **उषासानक्ता**=उषा और रात **देवी**=हमारे सब व्यवहारों के साधक हैं, ये **देवी**=देदीप्यमान होते हुए **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=ज्ञान से देदीप्यमान **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. **अनुष्टुभा छन्दसा**=प्रत्येक कार्य में उस-उस सफलता के लाभ के साथ प्रभु-स्तवन (अनु-स्तु) की प्रबल कामना से **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **बलम्**=बल को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=(दधत्यौ-म०) धारण करते हुए ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा का **वीताम्**=प्रजनन करें, प्रभु-भावना को जागरित व विकसित करें। हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=दानशील बनकर उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—'दिन-रात को ज्ञान-प्राप्ति द्वारा दीप्त बनाना और प्रत्येक कर्म में सफलता के साथ प्रभु का स्मरण करना, जिससे उस सफलता का गर्व न हो जाए' यह प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

बृहती छन्द

देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
बृहत्या छन्दसेन्द्रियꣳश्रोत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३८॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त **जोष्ट्री**=सब व्यवहारों के साधक दिन व रात **वसुधिती**=सब वसुओं के निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों का धारण करनेवाले हैं। ये **देवी**=देदीप्यामान होते हुए **देवम्**=ज्ञान से दीप्त **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ानेवाले हों। २. **बृहत्या छन्दसा**=(बृहि वृद्धौ) बढ़ने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रियम्**=वीर्य को **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=(दधत्यौ) धारण करते हुए ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धनों के आधारभूत उस प्रभु का **वीताम्**=प्रजनन करें, उस प्रभु की भावना को इस पुरुष के हृदय में विकसित करें। हे **होतः**=दानशील! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बढ़ा।

भावार्थ—'दिन-रात आगे बढ़ने की भावना' हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाली होती है। हम अपने कानों से दिन-रात प्रभु की महिमा का श्रवण करें और वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

पंक्ति छन्द

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
पङ्क्त्या छन्दसेन्द्रियꣳशुक्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३९॥

१. **देवी**=ये दिव्य गुणयुक्त **ऊर्जाहुती**=अन्न व रस की आहुति देनेवाले, सब अन्न-रसों को प्राप्त करानेवाले **दुघे**=अन्न-रस के द्वारा हमारा पूरण करनेवाले **सुदुघे**=अन्न का उत्तमता से पूरण करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **पयसा**=अन्न आदि के द्वारा आप्यायन से (पयसा= अप्यायनेन) **इन्द्रं देवम्**=इस ज्ञानदीप्त जितेन्द्रिय पुरुष को **देवी**=सब अन्नों के देनेवाले होकर **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. **पङ्क्त्या छन्दसा**=पाँचों इन्द्रियों व प्राणों को सुरक्षित करने की प्रबल कामना के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **शुक्रम्**=वीर्य को तथा **वयः**= उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करती हुई **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधरभूत परमात्मा का **वीताम्**=प्रादुर्भाव करें, प्रभु-भावना को जागरित करें। ३. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित कर।

भावार्थ—द्यावापृथिवी से उत्तम अन्न-रस को प्राप्त करके हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को पुष्ट करते हुए संसार में आवश्यक धन का अर्जन करें और प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

त्रिष्टुप् छन्द

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रं वयोधसं देवौ देवमवर्द्धताम्।
त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रियं त्विषिमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥४०॥

१. **देवाः**=दिव्य गुणों से युक्त **दैव्या होतारा**=प्राणापान (ऐ० २।४) **देवौ**=नीरोगता इत्यादि से दीप्ति को प्राप्त करानेवाले होकर **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। ३. **त्रिष्टुभा छन्दसा**='काम, क्रोध, लोभ' तीनों को रोक देने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **त्विषिम्**=दीप्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करते हुए ये प्राणापान **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=प्रजनन व प्रादुर्भाव करें। इस व्यक्ति के हृदय में प्रभु के स्मरण की भावना बनी रहे और यह भावना उसे सदा धन में आसक्त होने से बचानेवाली हो। ४. हे प्राण साधना करनेवाले पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु से अपना मेल बना। प्रभु ही तो तुझे काम, क्रोध व लोभ की विजय में समर्थ करेगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा कामादि वासनाओं पर विजय पाएँ और प्रभु-प्राप्ति के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

जगती छन्द

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्।
जगत्या छन्दसेन्द्रियꣳशूषमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४१॥

१. **देवीः तिस्रः**=दिव्य गुणोंवाली तीनों 'भारती, सरस्वती, इडा' **तिस्रः**=तीनों ही **देवीः**=जीवन को प्रकाशमय बनानेवाली हैं। भारती मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है, तो सरस्वती वाणी को दीप्त करती है और इडा (=श्रद्धा) हृदय को जगमगा देती हैं। २. ये सब **पतिम्**=इन देवियों की अपने जीवन में रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयन्**=बढ़ाती हैं। ३. **जगत्या छन्दसा**=गतिशीलता की प्रबल भावना के साथ अथवा जगती के हित की भावना से (जगतं छन्दः) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=(दधत्यौ) धारण करती हुई **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का विस्मरण न होने दें। ५. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बनकर उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, सरस्वती व इडा' एक विशेष दीप्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। ये हमें शत्रुओं के शोषक बल को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

विराट् छन्द

दे॒वो न॑रा॒शꣳसो॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्द्धयत्।
वि॒राजा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यꣳरू॒पमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥४२॥

१. **देवः**=अपने ज्ञान से दीप्त तथा अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाला **नराशंसः**=सब मनुष्यों से शंसनीय **देवः**=सब-कुछ देनेवाला वह प्रभु, **देवम्**=अपने को ज्ञानादि दिव्य गुणों से युक्त करनेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानादि गणुयुक्त **इन्द्रम्** =जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। **विराजा छन्दसा**='मैं अपने जीवन को विशिष्ट रूप से दीप्त बनाऊँगा अथवा निश्चित रूप से व्यवस्थित (Regulated) करूँगा', इस भावना के द्वारा **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **रूपम्**=सौन्दर्य को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करता हुआ प्रभु ऐसी कृपा करे कि **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=यह जितेन्द्रिय पुरुष पान करे, प्रजनन करे, अपने हृदय में आविर्भाव करे। ३. हे जीव! तू **यज** =यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल कर।

भावार्थ—हम अपने जीवन को दीप्त व व्यवस्थित बनाएँ, जिससे इस संसार में विचरते हुए भी इसमें उलझ न जाएँ और प्रभु को विस्मृत न करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्विपाद छन्द

दे॒वो व॒नस्पति॑र्दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्द्धयत्।
द्विप॑दा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं भग॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥४३॥

१. **देवः**=दिव्य गुणों से युक्त **वनस्पतिः**=ज्ञान की किरणों का पति **देवः**=सब-कुछ देनेवाला प्रभु **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **द्विपदा छन्दसा**='न केवल ज्ञानमार्ग को, न केवल कर्ममार्ग को, अपितु ज्ञान व कर्म दोनों मार्गों को व्यवस्थितरूप से अपनाने की प्रबल भावना के साथ' **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **भगम्**='ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' रूप छह-के-छह भगों को **वयः**=

उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करते हुए प्रभु ऐसी कृपा करें यह जितेन्द्रिय पुरुष **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=अपने में प्रजनन व प्रादुर्भाव करे। ३. हे जीव! **यज**=तू यज्ञशील बन और प्रभु का अपने साथ मेल बना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में ज्ञानमार्ग व कर्ममार्ग को मिलाकर चलें, 'ज्ञानयोग व्यवस्थिति' ही दैवी संपत्ति का अंश है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

ककुभा छन्द

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रं वयोधसं देवं देवमवर्द्धयत्।
ककुभा छन्दसेन्द्रियं यशऽइन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥४४॥

१. **वारितीनाम्**=(वर=वरणीय प्रभु, इति गति) वरणीय प्रभु में गतिवालों का अर्थात्, प्रभु का ध्यान करनेवालों का जो **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय होता है, जोकि **देवम्**=दानादि की भावना से युक्त है, वह हृदय **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **ककुभा छन्दसा**=शिखर पर पहुँचने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **यशः**=यश को **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करता हुआ, यह वासनाशून्य हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य** =धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=अपने में प्रादुर्भाव करे, अर्थात् इसके हृदय में सदा प्रभु का स्मरण बना रहे। ३. **यज**=हे जीव! तू यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपना मेल बना।

भावार्थ—वासनाशून्य हृदय हममें शिखर तक पहुँचने की भावना को धारण कराये और यह भावना हमें प्रभु तक ले-जानेवाली हो।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अतिच्छन्दसा छन्द

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत्।
अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥४५॥

१. **देवः**=दिव्य गुणयुक्त **अग्निः**=यज्ञ के अन्दर आहित किया गया अग्नि **स्विष्टकृत्**=उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला है। 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'=यह यज्ञाग्नि इष्टकामों को पूर्ण करनेवाला तो है ही। **देवः**=यह नीरोगता आदि देनेवाला है। यह अग्नि **देवम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **अतिच्छन्दसा छन्दसा**='मैं सब इच्छाओं से ऊपर उठ जाऊँ', इस इच्छा के साथ, अर्थात् सब लौकिक कामनाओं से ऊपर उठने की भावना के साथ **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों के सामर्थ्य को **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को, **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=इस जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करने के हेतु से **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा का **वेतु**=पान करे, प्रभु की भावना को प्रादुर्भूत व जागरित करे। ३. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपना मेल बना। ४. इस मन्त्र के साथ अनुयाजप्रैष समाप्त होते हैं। ये मन्त्र निरन्तर प्रेरणा देते हैं कि संसार का कार्य करते हुए भी प्रभु को भूलो नहीं।

भावार्थ—यज्ञाग्नि हमारे सब इष्टों को पूर्ण करे। हम इन यज्ञों को भी अहंकार व

फलेच्छा से ऊपर उठकर करें (सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव) तभी तो हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु-वरण (पुरोडाशपचन)

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम्। सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रतिपचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन॥४६॥

१. **अयं यजमानः**=इस प्रयाजानुयाज मन्त्रों के प्रैषों, (प्रेरणाओं) के द्वारा प्रभु से मेल के शीलवाले पुरुष ने **अद्य**=आज **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **अवृणीत**=वरा है। २. **पक्तीः**=पक्तव्य पदार्थों का **पचन्**=यह परिपाक करनेवाला बना है। इसने ब्रह्मचर्यपूर्वक शरीर की धातुओं का ठीक परिपाक किया है, आचार्यों के चरणों में बैठकर बुद्धि का भी यह ठीक परिपाक करनेवाला बना है। ३. **पुरोडाशं पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः) यह आत्मभाव का भी परिपाक करनेवाला हुआ है। इसने आत्मा की भावना को दृढ़ करने के लिए प्रयत्न किया है कि 'मैं आत्मा हूँ, यह शरीर नहीं हूँ'। ४. उस उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले **वयोधसे इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **छागं बध्नन्**=(छो छेदन) इसने निरन्तर वासनाओं के छेदन का प्रबन्ध किया है। वासनाओं को सदा अपने से दूर करनेवाला बना है। ५. इसी का परिणाम है कि **अद्य**=आज **देवः**=सब दिव्यताओं के पुञ्ज **वनस्पतिः**=ज्ञान की किरणों का स्वामी वह प्रभु इस **छागेन**=वासनाओं के छेदन-भेदन से **वयोधसे**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **सूपस्थाः**=सुगमता से उपस्थान के योग्य **अभवत्**=हुआ है। प्रभु वासनाशून्य है, मैं वासनाशून्य बनकर ही तो प्रभु का उपासक हो सकता हूँ। ६. जीव **पुरोडाशेन**=आत्मभाव की वृद्धि के द्वारा 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' इन शब्दों के अनुसार नित्य अध्यात्म-चिन्तन से **तम् अघत्**=उस प्रभु का भक्षण=ग्रहण करता है। **मेदस्तः**=बड़े स्नेहभाव से **प्रतिपचत**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का परिपाक करता है, **अग्रभीत्**=उस प्रभु का ग्रहण करता है और **अवीवृधत्**=आत्मचिन्तन से वृद्धि को प्राप्त करता है। इसके लिए सब प्राकृतिक भोग तुच्छ हो गये हैं। इसने उस 'रस' रूप प्रभु का रसास्वाद जो कर लिया है, अतः यह तो होना ही था।

भावार्थ—हम अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करें, अपने को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ।

नोट—अगला अध्याय 'आप्री' संज्ञक मन्त्रों से प्रारम्भ होता है। इन मन्त्रों में भक्त अपने कर्मों से (आ सर्वथा प्री उस प्रभु को प्रीणत) करता है। ४४ बार उस प्रभु से अपने मेल का संकल्प करके उसने ऐसा करना ही था।

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञान

समिद्धोऽअञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्॥१॥

१. प्रभुभक्त का पहला लक्षण यह है कि **समिद्धः**=वह ज्ञान से दीप्त होता है। जीवन का प्रथमाश्रम 'ब्रह्मचाश्रम' है, यह आश्रम ज्ञान के भक्षण का है। २. यह प्रभुभक्त **मतीनाम्**=विचारशीलताओं के **कृदरम्**=उदर को **अञ्जन्**=प्रकट करता है। इसके व्यवहार में सदा विचारशीला का आभास मिलता है। यह कोई भी काम नासमझी से नहीं करता। इसके कार्यों में कुशलता होती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मधुमत्**=मधु से युक्त **घृतम्**=घृत को **पिन्वमानः**=अपने में सींचनेवाला बनता है, अर्थात् 'मधु व घृत' आदि पदार्थों का सेवन करता है। ४. इन उत्तम पदार्थों का सेवन करता हुआ **वाजी**=तू शक्तिशाली बनता है और **वाजिनम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **वहन्**=अपने हृदय में धारण करता है। ५. प्रभु को हृदय में धारण करने से **जातवेदः**=आविर्भूत ज्योतिवाला होता है, अतः तुझमें ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। ६. तू अपने को **देवानाम्**=देवों के **प्रियम्**=प्रिय **सधस्थम्**=मिलकर बैठने के स्थान को **आवक्षि**=सर्वथा प्राप्त कराता है, अर्थात् तू सदा ऐसे सत्संगों में उपस्थित होता है, जिनमें विद्वान् लोग एकत्र होकर प्रीतिपूर्वक ज्ञानचर्चा करते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त के जीवन में ज्ञान का सर्वोपरि स्थान होता है। उसे यह पता है कि ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों से सम्पर्क

घृतेनाञ्जन्त्सं पथो देवयानान् प्रजानन्वाज्यप्येतु देवान्।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताᳬस्वधामस्मै यजमानाय धेहि ॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार एक प्रभुभक्त अपने जीवन को ज्ञानमय बनाने का प्रयत्न करता है। यह 'बृहदुक्थ' बनता है, खूब ही प्रभु का स्तवन करता है। 'वामदेव' अपने जीवन में **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से **देवयानान् पथः**=देवयान मार्गों को **समञ्जम्**=व्यक्त करता है, अर्थात् सदा देवयान मार्गों से चलता है। २. **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है और **वाजी**=शक्तिशाली व ज्ञानी **अपि**=होता हुआ भी **देवान्**=देवों को **एतु**=प्राप्त हो, अर्थात् ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न बनकर भी देवों के संग को प्राप्त करता है। ४. हे **सप्ते**=(सपतिः परिचरणकर्मा-नि० ३.५) ज्ञानपूर्वक कार्यों से प्रभु की परिचर्या (उपासना) करनेवाले जीव! **प्रदिशः**=यह सब प्रकृष्ट दिशाएँ **त्वा**=तुझे **अनुसचन्ताम्**=अनुकूल होकर प्राप्त हों, अर्थात् तेरा इन दिशाओं में रहनेवाले किसी भी व्यक्ति से वैर-विरोध न हो। ५. **अस्मै**=इस **यजमानाय**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले विद्वान् के लिए (यज=संगतिकरण)

स्वधाम्=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **धेहि**=तू धारण कर, अर्थात् तू विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाला बन। जहाँ विद्वान् अतिथियों का स्वागत होता है वहीं उनका आना-जाना बना रहता है। इन देवों के सम्पर्क से ही सत्कर्म बने रहते हैं, उन घरों में वैर-विरोध का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—हम सन्मार्ग से चलनेवाले हों, देवों के सम्पर्क में आएँ, विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईड्य व वन्द्य

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।
अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः॥३॥

१. हे बृहदुक्थ! तू देवयानमार्ग को अपनाकर अपने सुन्दर व्यवहार के कारण **ईड्यः च असि**=स्तुति के योग्य है, चारों ओर तेरा यश-ही-यश है। **वन्द्यः च**=जब लोग तुझे देखते हैं तो उनसे वन्दना के योग्य तू होता है। २. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली! **सप्ते**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से प्रभु का परिचरण करनेवाले! तू **आशुः च असि**=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला है और **मेध्यः च**=(मेध=यज्ञ) यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाला है। ३. **देवैः**=देवताओं के साथ, दिव्यवृत्तिवालों के साथ तथा **वसुभिः**=उत्तम निवासवालों के साथ **सजोषाः**=प्रीतियुक्त वह **अग्निः**=पावक प्रभु जो **जातवेदाः**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले हैं, वे **प्रीतम्**=सदा प्रसन्न रहनेवाले 'सन्तुष्टो येन केनचित्' तथा **वह्निम्**=अपने कर्त्तव्य का वहन करनेवाले **त्वा**=तुझको सिद्धि तक पहुँचानेवाले हों। २. मन्त्रार्थ से यह सुव्यक्त है कि प्रभु को वे व्यक्ति प्रिय हैं जो (क) देव बनते हैं, (ख) अपने निवास को उत्तम बनाते हैं, जिनके शरीर में रोग नहीं, मन में आधियाँ नहीं तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तियाँ हैं, (ग) जो अपने कर्त्तव्य का वहन करते हैं (वह्नि), परन्तु फल की चिन्ता न करते हुए सदा सन्तुष्ट रहते है (प्रीतम्)। मन्त्रार्थ में यह बात भी स्पष्ट है कि मनुष्य अपना कर्म करता जाए, सिद्धि तो प्रभु प्राप्त कराते ही हैं (वहतु)।

भावार्थ—हम अपने उत्तम कर्मों से ईड्य व वन्द्य बनें। यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगे रहें। देव, वसु, प्रीत (सन्तुष्ट) व वह्नि (कर्त्तव्य को करनेवाले) बनकर प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सुवित में स्थापन

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तब हमारा हृदय प्रभु की भावना से आच्छादित होने के कारण बड़ा सुरक्षित होता है। इस अमृत प्रभु से **स्तीर्णम्**=आच्छादित **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **आजुषाणा**=सब प्रकार से अपने कर्त्तव्य-कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **सुष्टरीमा**=उत्तमता से आच्छादित करें। प्रभुस्मरण से हृदय सुरक्षित रहता है, परन्तु कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करने से और अधिक सुरक्षित हो जाता है। २. इस **उरु पृथु**=खूब विशाल **पृथिव्यां प्रथमानम्**=विशालता के कारण पृथिवी में प्रख्यात होते हुए **देवेभिः युक्तम्**=दिव्य गुणों से युक्त हृदय को, **सजोषाः अदितिः**=इस बृहदुक्थ के साथ प्रीतिवाली

अदीना देवमाता **स्योनं कृण्वाना**=सुखमय करती हुई, **सुविते**=(सु इते) उत्तम आचरण में **दधातु**=स्थापित करें। ३. जब जीव हृदय को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है तब प्रभु उसके सहायक होते हैं, प्रभु ही 'अदिति' हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले है। ये प्रभु हमारे जीवन को सुखमय बनाने के हेतु से हमारे हृदयों को सन्मार्ग में स्थित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को वासनाओं से सुरक्षित करके सन्मार्ग में स्थापित करें। प्रभुकृपा से हमारे हृदय विशाल हों, विशालता के कारण ही उनकी ख्याति हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुप्रायण द्वार

एताऽउ वः सुभगा विश्वरूपा वि पक्षोभिः श्रयमाणाऽउदातैः।
ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु ॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे हृदय सुरक्षित होते हैं, उनमें विशालता होती है और इस प्रकार जब ये वासनाशून्य बनते हैं तब हमारे सब इन्द्रियद्वार उत्तम होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **एताः**=ये **द्वारः**=इन्द्रियद्वार **उ**=निश्चय से **भवन्तु**=हों। कैसे? (क) **सुभगाः**=उत्तम भगवाले। भग, अर्थात् 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति' रूप धर्मोंवाले हों। (ख) **विश्वरूपाः**=इस विश्व व संसार का बड़ी सुन्दरता से निरूपण करनेवाले हों। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से इस पाञ्चभौतिक संसार का ठीक-ठीक ग्रहण होता ही है। (ग) **उद् आतैः**=उत्कृष्ट गमनों के द्वारा, अर्थात् कर्मेन्द्रियों से सदा उत्तम कर्म को करने के द्वारा **विपक्षोभिः**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप विविध (पक्ष परिग्रहे) परिग्रहों से **श्रयमाणाः**=आश्रय किये जाते हुए हों। कर्मों से ही ज्ञान व उपासना भी साध्य हैं। (घ) **ऋष्वाः सतीः**=उल्लिखित परिग्रहों से महान् बनते हुए ये द्वार **कवषः**=(कुशके, षोऽन्तकर्मणि) प्रभुनामोच्चारण से बुरी भावनाओं का अन्त करनेवाले हों। (ङ) बुरी भावनाओं के अन्त से **शुम्भमानाः**=सद्गुणों से सुशोभित होते हुए ये द्वार **देवीः**=दिव्य बनें और (च) **सुप्रायणाः**=उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, इनसे कभी कोई अवाञ्छनीय कर्म न हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार उत्तम, प्रकृष्ट गमनवाले हों। प्रभुनामोच्चारण से बुराइयों को नष्ट करनेवाले होकर सुन्दर व दिव्य बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रातः-सायं (सुहिरण्य-सुशिल्प)

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने।
उषासा वाᳪसुहिरण्ये सुशिल्पेऽऋतस्य योनाविह सादयामि॥६॥

१. प्रभु यजमान व यजमानपत्नी से कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार जब तुम अपने इन्द्रियद्वारों को सुन्दर बनाते हो तो मैं **वाम्**=तुम दोनों के **उषासा**=उषाकालों को (द्विवचन के कारण यहाँ प्रातः व सायं की संध्या से अभिप्राय है) दोनों संध्याकालों को **इह**=इस जीवन में **ऋतस्य योनौ सादयामि**=यज्ञाग्नि के उत्पत्तिस्थान में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम्हारे घरों में दोनों कालों में यज्ञ चलता रहे। प्रातः का यह अग्निहोत्र सायं तक और सायं का अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य का देनेवाला होता है। २. ये उषाकाल सदा **मित्रावरुणा अन्तरा चरन्ती**=स्नेह व द्वेषनिवारण में चलनेवाले होते है, अर्थात् तुम्हारा प्रातः-सायं यह

संकल्प होता है कि हम स्नेह करनेवाले होगें और द्वेष से दूर रहेंगे। ३. वे उषाकाल **यज्ञानाम्**=यज्ञों के **मुखम्**=प्रारम्भकाल का **अभिसंविदाने**=प्रतिपादन करनेवाले होते हैं। मानो ये कहते हैं कि 'अब उठो, यह अग्निहोत्र का समय है, इस समय उठकर अब यज्ञ की तैयारी करनी चाहिए'। ४. **सुहिरण्ये**=वे उषाकाल तुम्हारे लिए सुन्दर, हित व रमणीय हैं अथवा उत्तम ज्योतिवाले हैं 'हिरण्यं वै ज्योतिः'। ५. **सुशिल्पे**=उत्तम शिल्प क्रियावाले हैं, अर्थात् तुम इन समयों में सदा उत्तमता से कर्म करनेवाले होते हो। ६. 'ऋतस्य योनौ' की भावना यह भी है कि ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम दोनों समय ध्यान करते हो।

भावार्थ—हमारे उषाःकाल स्नेह व निर्द्वेषता के संकल्पवाले हों, हम इनमें यज्ञों के करनेवाले हों, स्वाध्याय व उत्तम कर्मों से इन्हें सुन्दर बनाएँ और दोनों कालों में अपने को ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करने का प्रयत्न करें, अर्थात् दोनों समय ध्यान करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कैसे बनें?

प्रथमा वांꣳसरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥७॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को जो (क) **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हो और मनुष्यों में प्रथम श्रेणी में स्थित होते हो, (ख) **सरथिना**=मिलकर इस गृहस्थ की गाड़ी को खैंचनेवाले हो, (ग) **सुवर्णा**=स्वास्थ्य के कारण उत्तम वर्णवाले हो अथवा उत्तमता से प्रभु का वर्णन करनेवाले हो, (घ) **देवौ**=दिव्य गुणों से युक्त हो, देववृत्तिवाले हो, (ङ) **विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ**=सब प्राणियों का ध्यान करते हो (Look after) अथवा सबसे प्रीतिवाले हो (कान्ति), केवल अपने ही पेट भरने के लिए नहीं जीते, (च) **वाम्**=इन तुम दोनों को जो **चोदना**=शास्त्रीय प्रेरणाओं को **मिमाना**=क्रियारूप में ला रहे हो। (छ) **होतारा**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, (ज) **प्रदिशा**=बड़े उत्कृष्ट मार्ग से **ज्योतिः**=ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हो, अर्थात् किसी की हिंसा न करते हुए तुम सबके लिए उत्कृष्ट ज्ञान देते हो, (झ) इस प्रकार के बने तुम दोनों को **अपिप्रयम्**=मैं चाहता हूँ, अर्थात् प्रभु कहते हैं कि मेरी इच्छा है कि तुम ऐसे बनो।

भावार्थ—पति-पत्नी का प्रयत्न होना चाहिए कि वे 'प्रथम, सरथी, देव, सर्वपालक, वेद-प्रेरणानुसार क्रियायों के कर्त्ता, होता तथा ज्ञानोपदेष्टा' बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आदित्य, रुद्र, वसु

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳसरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥८॥

१. **आदित्यैः**='आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से **नः**=हममें उत्पन्न हुई-हुई **भारती**=सूर्य के समान ज्ञान की दीप्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से हमें ज्ञान प्राप्त हो और उस ज्ञान को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। २. **रुद्रैः**='रुद्र' विद्वानों के **सह**=साथ रहने से उत्पन्न हुई-हुई **नः**=हमारी यह **सरस्वती**=प्रशस्त विज्ञानवाली वाणी **आवीत्**=रक्षा करे।

३६ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करनेवाले मध्यम श्रेणी के विद्वान् 'रुद्र' कहलाते हैं। इनके सम्पर्क से मनुष्य शिक्षित व सभ्य बनता है। यही 'सरस्वती' का विकास है। यह विकसित हुई-हुई सरस्वती हमें वासनाओं के आक्रमण से रक्षित करनेवाली हो। ३. **वसुभिः**='वसु' नामक प्रथम कक्षा के विद्वानों से **सजोषा**=प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **उपहूता**=पुकारी गई **इडा**=यह वेदवाणी भी (अवतु) हमारी रक्षा करे। ४. इस प्रकार **देवीः**=(देव्यः) हे 'भारती-सरस्वती व इडा' नामक देवियो! **नः**=हममें से **अमृतेषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों में **यज्ञम्**=यज्ञ की भावना को धारण कीजिए, हमारे जीवन को यज्ञशील बनाइए।

भावार्थ—'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का उच्च ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' हैं। 'प्रकृति व जीव' का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'रुद्र' हैं। 'प्रकृति' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'वसु' हैं। इनकी कृपा से हम में क्रमशः 'भारती, सरस्वती व इडा' का जन्म होता है। 'भारती' ज्ञान है। 'सरस्वती' शिक्षा व सभ्यता है। 'इडा' (A Law) जीवन का एक नियमहै। ये सबके सब हमें विषयों के पीछे न मरनेवाला=अमृत बनाते हैं। ये हमें यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

त्वष्टा

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायतऽआशुरश्वः।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्त्तारमिह यक्षि होतः॥१॥

१. 'त्वष्टा' शब्द 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' त्विष धातु से बनकर ज्ञान से दीप्त आचार्य का वाचक है। 'त्वक्षेतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः' त्वक्ष धातु से बनकर यह उत्तम विद्यार्थी का निर्माण करनेवाले आचार्य का वाचक है। यह **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त आचार्य **वीरम्**=वीरता से युक्त, वीर भावनावाले **देवकामम्**=देवताओं की कामनावाले शिष्य को **जजान**=द्वितीय जन्म देता है। माता-पिता से पैदा हुए-हुए इस विद्यार्थी को आचार्य वीर व दिव्यगुणों की कामनावाला बनाकर एक नया जन्म दे देता है। २. **त्वष्टुः**=इस विद्यार्थी के उत्तम जीवन का निर्माण करनेवाले आचार्य से **अर्वा**=काम, क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाला, **आशुः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाला **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त व्यक्ति **जायते**=उत्पन्न होता है, अर्थात् आचार्य विद्यार्थी को इस प्रकार की शिक्षा देता है कि वह वासनाओं को जीतनेवाला, कर्मव्याप्त जीवनवाला, आलस्यशून्य बनता है। ३. **त्वष्टा**=यह विद्यार्थी के जीवन का निर्माता आचार्य **इदं भुवनम्**=इस भूतग्राम को **विश्वम्**=(सर्वं) पूर्ण **जजान**=बनाता है, अर्थात् यह उसके शरीर को स्वस्थ व नीरोग, मन को निर्मल, वासनाशून्य तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। शरीर से इसे 'वसु'=उत्तम निवासवाला, मन से 'रुद्र'=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारणपूर्वक वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला तथा मस्तिष्क से 'आदित्य'=सब ज्ञानों का आदान करनेवाला बनाता है। इसके मस्तिष्क में 'भारती' का निवास कराता है, मन में 'सरस्वती' का तथा शरीर में 'इडा' का। इस प्रकार आचार्य अपने विद्यार्थियों के जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। ४. इस प्रकार **बहोः कर्त्तारम्**=(बह् to strengthen, to make firm) दृढ़ व सबल जीवन का निर्माण करनेवाले इस आचार्य को **इह**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में हे **होतः**=आचार्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले विद्यार्थी! तू **यक्षि**=आदर देनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'वीर, देवकाम, अर्वा, आशु, अश्व, विश्वं (पूर्ण) व बहु (दृढ़)' बनाये। विद्यार्थी आचार्य के प्रति सदा सन्मान की भावनावाला हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्व

अश्वो घृतेन त्मन्या समक्तऽउप देवाँ२॥ऽऋतुशः पाथऽएतु।
वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'त्वष्टा' आचार्य विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता है तब यह **अश्वः** =सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **त्मन्या**=स्वयं **घृतेन**=मलों के क्षरण से, मलों के दूरीकरण से तथा ज्ञान की दीप्ति से **समक्तः**=अलंकृत हो जाता है (घृ क्षरणदीप्तयोः) २. यह अश्व **ऋतुशः**=ऋतु के अनुसार **पाथे**=मार्ग पर चलता हुआ (पथ गतौ) **देवान्**=देवों के **उप एतु**=समीप प्राप्त होता है। इसका जीवन कर्मव्याप्त होता है, यह ऋतु के अनुसार बड़े नियमित जीवनवाला होता है और इसी कारण मनुष्यों से ऊपर उठता हुआ यह 'देव' बन जाता है। ३. यह **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का स्वामी **देवलोकं प्रजानन्**=(हेतौ शतृ) देवलोक को जानने व अनुभव करने के हेतु से, देवलोक को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से **अग्निना स्वदितानि**=अग्नि से स्वाद लिये गये **हव्या**=हव्य पदार्थों को ही **वक्षत्**=अपने को प्राप्त कराता है, अर्थात् पहले अग्निहोत्र आदि यज्ञों में यह हव्य पदार्थों को डालता है और यज्ञशेष का ही सेवन करता है। यह यज्ञशेष का सेवन इसे अमृतत्व प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ— कर्मव्याप्त जीव निर्मल व ज्ञानी बनता है। यह मार्ग पर चलता हुआ देवों के समीप पहुँचता है। देवलोक को प्राप्त करने की कामना से यज्ञशेष का सेवन करता है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप द्वारा वर्धन

प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।
स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः॥११॥

१. **प्रजापतेः**=प्रजापति के **तपसा**=तप से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ, अर्थात् प्रजापति जैसे तप से सृष्टि का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार तू भी तप से अपने जीवन का निर्माण करता है। २. तप से वृद्धि को प्राप्त करते हुए **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सद्यः जातः**=शीघ्र ही आचार्यकुल से द्वितीय जन्म को प्राप्त करके **यज्ञं दधिषे**=यज्ञ को धारण करता है। गृहस्थ बनने पर तू पाँचों यज्ञों को करनेवाला बनता है। ३. प्रभु कहते हैं कि तू **स्वाहाकृतेन**=स्वार्थत्याग के द्वारा किये हुए इन यज्ञों से **हविषा** =दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **पुरोगाः**=आगे और आगे जानेवाला होकर **याहि**=जीवनयात्रा में चल। ६. **साध्या देवाः**=(साधनात् नि० १२।४०)=साधना करनेवाले देव **हविः अदन्तु**=सदा हवि का ही सेवन करें। वस्तुतः देव की मूलसाधना है ही यही कि वे यज्ञशील होते हैं।

भावार्थ—अग्रगामी जीवन में तप है, यज्ञ है। सबसे बड़ी साधना त्याग ही है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्वा

यदक्रन्दः प्रथमं जायमानऽउद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहूऽउपस्तुत्यं महि जातं तेऽअर्वन्॥१२॥

१. अब अध्याय के अन्त तक मन्त्र 'भार्गवजमदग्नि' के हैं। 'भृगु का अपत्य' भार्गव है, अपने ज्ञान को पूर्ण परिपाक करनेवाला (भ्रस्ज पाके)। जिसके वहाँ अग्नियाँ जीमती हैं, अग्नियों को हव्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वह 'जमदग्नि' है। यह निमयपूर्वक अग्निहोत्रादि करनेवाला है। यह **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र आचार्य से ('तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे'=तप करता हुआ आचार्य के समीप रहता है)। **उद्यन्**=उदय को प्राप्त होता हुआ **उत वा**=तथा **पुरीषात्**=(पृ पालनपूरणयो:) तीनों आश्रमियों का पालन व पूरण करनेवाले इस गृहस्थाश्रम से **उद्यन्**=उदय को प्राप्त करता हुआ **यत्**=जो **जायमानः**=प्रतिदिन निद्रा की समाप्ति पर आविर्भूत जीवनवाला होता हुआ, अर्थात् जागरितावस्था में आता हुआ **प्रथमम्**=सबसे पहले, किसी भी अन्य क्रिया को करने से पहले **अक्रन्दः**=प्रभु का आह्वान करता है (क्रदि आह्वाने) २. इसके **पक्षौ**=(पक्ष परिग्रहे)=ज्ञान व उपासनारूप पंख **श्येनस्य**=(श्यैङ् गतौ) बाज़ की भाँति गतिशील होते हैं, अर्थात् इसका ज्ञान इसे कर्म में प्रवृत्त करता है और यह कर्मों द्वारा ही प्रभु की उपासना करता है। ३. इसकी **बाहू**=बाहुएँ, भुजाएँ **हरिणस्य**=हरिण की भाँति दुःखों के हरण करनेवाले पुरुष की होती हैं, अर्थात् ये अपने प्रयत्नों से औरों के दुःख दूर करने में लगे रहते हैं। ४. हे **अर्वन्**=(अर्व to kill) प्रभु-स्मरण के द्वारा कर्मों में लगे रहने के द्वारा तथा लोकहित में प्रवृत्ति से वासनाओं के संहार करनेवाले जीव! **ते**=तेरा यह सब कर्म **महि उपस्तुत्यम्**=बड़ा स्तुति के योग्य **जातम्**=हो गया है, अर्थात् इस मार्ग पर चलने से तुझे यश-ही-यश मिला है।

भावार्थ—उठते ही हम प्रभु-स्तवन करें, आचार्य के समीप रहकर उन्नति को प्राप्त करें, गृहस्थ में सभी का पालन-पोषण करते हुए हम उन्नत हों। हमारा ज्ञान व उपासन हमें गतिशील बनाएँ। हमारे प्रयत्न औरों का दुःख हरण करने के लिए हों। इस प्रकार वासनाओं का संहार करने पर हमारा जीवन उत्तम होगा।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रित, इन्द्र, गन्धर्व तथा वसु

यमेन॑ दु॒त्तं त्रि॒तऽए॑नमायुन॒गिन्द्र॑ऽएणं प्रथ॒मोऽअध्य॑तिष्ठत्।
ग॒न्धर्वोऽअ॑स्य रश॒नाम॑गृभ्णा॒त्सूरा॒दश्वं॑ वस॒वो निर॑तष्ट॥१३॥

१. **यमेन**=सृष्टि के नियामक प्रभु से **दत्तम्**=दिये हुए **एनं अश्वम्**=इस इन्द्रियरूप अश्व को **त्रितः** (त्रीन् तनोति)=ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला यह त्रित **आयुनक्**=ज्ञान, कर्म व उपासना में लगाता है, अथवा इस शरीररूप रथ में जोतता है। वस्तुतः इन ज्ञानादि में लगे रहने पर ही यह इन्द्रियाश्व हमारे वशीभूत होता है, इसका हम नियमन कर पाते हैं। २. **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **एणं अध्य तिष्ठत्**=इसपर अधिष्ठित होता है, इसको वशीभूत करता है। ३. **गन्धर्वः**=(गां वदेवाचं धारयतीति) वेदवाणी का धारक ज्ञानी पुरुष **अस्य**=इस इन्द्रियाश्व की **रशनाम्**=मनरूपी लगाम को **अगृभ्णात्**=ग्रहण करता है। मन को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखना ही वह उपाय है जिससे यह इन्द्रियाश्व हमारे वश में रहता है। ४. **सूरात्**=सूर्य से **अश्वम्**=इस इन्द्रियाश्व को **वसवः**=उत्तम निवासवाले लोग **निरतष्ट**=बनाते हैं। सूर्य जैसे निरन्तर चल रहा है उसी प्रकार निरन्तर गति के द्वारा इन इन्द्रियाश्वों का निर्माण होता है। क्रियाशून्यता से इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

भावार्थ—त्रित इन्द्रियाश्वों को जोतता है, इन्द्र इसका अधिष्ठाता बनता है, गन्धर्व

इसकी लगाम पकड़ता है, वसु इसका निर्माण करते हैं। 'त्रित' इन अश्वों को 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगाये रखता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय इन्हें वश में करता है 'ज्ञान में लगा पुरुष' इनकी लगाम को थामता है और 'निवास को उत्तम बनानेवाले' क्रियाशीलता द्वारा इन्हें सशक्त बनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यम-आदित्य

असि यमोऽअस्यादित्योऽअर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्तऽआहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥१४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियाश्वों को संयत करनेवाले के लिए कहते हैं कि तू **यमः असि**=इन्द्रियाश्वों का नियमन करनेवाला है, इसीलिए **आदित्यः असि**=उत्तमताओं व ज्ञान का आदान करनेवाला है। २. **अर्वन्**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले! तू **गुह्येन व्रतेन**=हृदयरूप गुहा से सम्बद्ध इस ब्रह्मचर्य के व्रत के द्वारा **त्रितः असि**='ऋग्, यजुः व साम' का विस्तार करनेवाला है, अथवा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को विस्तृत करता है, 'त्रीन् तरति' यह भी ठीक है कि तू काम, क्रोध व लोभ को तैर जाता है। ३. इस ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा तू **सोमेन**=सोमशक्ति से, वीर्यशक्ति से **समया**=समीपता से **विपृक्तः असि**=विशेषरूप से सम्बद्ध होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का धारण करके तू शरीर में वीर्य को सुरक्षित करनेवाला बनता है। ५. इस सोम के सुरक्षित होने के कारण **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धनानि**='ऋग्, यजुः, साम' रूप तीन बन्धनों को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् सोम को मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाने पर तेरे मस्तिष्क में ऋग्, यजुः व साम का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का नियमन करते हैं तो ज्ञान को ग्रहण करनेवाले आदित्य बनते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा हम सोम को सुरक्षित करते हैं और मस्तिष्क में 'ऋग्, यजुः व साम' को बाँधनेवाले होते है, अर्थात् इनके ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नौ व्रत अथवा परम जनित्र

त्रीणि तऽआहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा तऽआहुः परमं जनित्रम् ॥१५॥

१. हे भार्गव जमदग्ने! **ते दिवि**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धननि**=तीन बन्धन हैं, अर्थात् तू मस्तिष्क के विषय में तीन व्रतों में अपने को बाँधता है, (क) ऋग्वेद के द्वारा मैं प्रकृति का विज्ञान प्राप्त करूँगा, (ख) यजुर्वेद द्वारा मैं जीवन के कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करूँगा और (ग) सामवेद के द्वारा मैं उपास्य प्रभु से परिचित होने का प्रयत्न करूँगा। २. **त्रीणि अप्सु** (आपोमयाः प्राणाः) प्राणों के विषय में तेरे तीन बन्धन हैं। ये तीन बन्धन ही 'प्राण अपान, व्यान' अथवा 'भूः, भुवः, स्वः' या 'स्वास्थ्य, ज्ञान व जितेन्द्रियता' इन शब्दों से व्यक्त होते हैं। तू प्राणसाधना करके स्वस्थ बनता है, ज्ञानी बनता है, जितेन्द्रिय होने का प्रयत्न करता है। ३. **अन्तः समुद्रे**=(समुद्रम् अन्तरिक्षम्) इस अन्दर के समुद्र, अर्थात् सदा मोद व प्रसन्नता के साथ रहनेवाले (स+मुद्) हृदयान्तरिक्ष में **त्रीणि**=तेरे तीन बन्धन हैं। तेरा यह व्रत है कि (क) मैं इस हृदय को कामवासना से

आक्रान्त न होने दूँगा। (ख) मैं इसे क्रोधाभिभूत न होने दूँगा तथा (ग) मैं इसे लोभाविष्ट भी नहीं होने दूँगा। ४. **उत इव**=(=अपि च) और इस प्रकार **वरुणः**=श्रेष्ठ (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) बनकर तू **मे**=मेरी **छन्त्सि**=(छन्दतिरर्चतिकर्मा) अर्चना व पूजा करता है। यह तेरा नौ व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही तेरी उपासना हो जाती है। यही वस्तुतः 'नवधा' भक्ति है। ५. हे **अर्वन्**=सब वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! ये बन्धन ही वे बाते हैं **यत्र**=जहाँ **ते**=तेरे **परमं जनित्रम्**=सर्वोत्कृष्ट विकास को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् ये व्रत का जीवन ही तुझे सर्वोत्कृष्ट विकास तक पहुँचाएगा।

भावार्थ—मनुष्य को मन्त्रवर्णित नौ व्रत धारण करने चाहिएँ। इन्हीं को प्रभु की उपासना समझना चाहिए। ये व्रत ही उसके जीवन का परम विकास करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

व्रतों के लाभ

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानाᳬसनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशनाऽअपश्यमृतस्य याऽअभिरक्षन्ति गोपाः॥१६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित व्रत मनुष्य को शक्तिशाली बनाते हैं, अतः उस व्रती का सम्बोधन ही 'वाजिन्' शब्द से करते हैं। हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **इमा**=ये व्रत ही **ते**=तेरे **अवमार्जनानि**=पापों का शोधन करनेवाले हो जाते हैं। व्रतों से जीवन पवित्र होता है। २. **इमा**=ये व्रत **सनितुः**=संविभागपूर्वक अन्नादि का सेवन करनेवाले व्रती पुरुष के जीवन में **शफानाम्**=(शम्)=शान्ति के **निधाना**=स्थापित करनेवाले होते हैं। व्रती पुरुष संविभागपूर्वक खाने को अपना महान् व्रत समझता है। यह संविभागपूर्वक खाना ही शान्ति का कारण बनता है। संसार के अन्दर 'परिग्रह'=सब-कुछ अपने लिए जुटाने की प्रवृत्ति ही संघर्षों व अशान्तियों का कारण है। ३. **अत्र**=यहाँ—इस व्रती जीवन में ही **ते**=तेरी **भद्रा**=कल्याणकर **रशना**=मेखला को **अपश्यम्**=देखता हूँ। रशना वा मेखला शब्द दृढ़ निश्चय के प्रतीक हैं। **याः**=जो मेखलाएँ व दृढ़ निश्चय **ऋतस्य अभिरक्षन्ति**=ऋत का रक्षण करते हैं। दृढ़ निश्चय होने पर मनुष्य ऋत से गिरता नहीं। **गोपाः**=ये निश्चय ही इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। विषय इतने सुन्दर व आकर्षक हैं कि ये इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। बड़ा दृढ़ निश्चय होने पर ही मनुष्य अपने को विषयपङ्क में डूबने से रोक पाता है।

भावार्थ—व्रत हमें पवित्र बनाते हैं, ये हमारी शान्ति के निधान हैं। इन व्रतों में किये हुए दृढ़ निश्चय हममें ऋत का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सूर्यद्वार से प्रभु की प्राप्ति

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरोऽअपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥१७॥

१. प्रभु गतमन्त्र के 'व्रती' अतएव 'वाजी' पुरुष से कहते हैं कि **ते मनसा**=तेरी मननशीलता के द्वारा **आत्मानम्**=आत्मा को **आरात् अजानाम्**=समीप ही जानता हूँ, अर्थात् मैं ऐसा देखता हूँ कि मननशीलता के द्वारा तू मेरे समीप पहुँचता जाता है। २. **अवः**=(अवस्तात्) इस निचले प्रदेश से **दिवा**=आकाश में **पतंगं पतयन्तम्** (अजानाम्)=सूर्य की ओर जाते हुए तुझे जानता हूँ। देवयान-मार्ग से जानेवाले व्यक्ति सूर्यद्वार से ही उस

अव्ययात्मा अमृतपुरुष को प्राप्त किया करते हैं। **'सूर्यद्वारणे ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**। ३. मैं **पतत्रि**=निरन्तर सूर्य की ओर चलनेवाले **शिरः**=तेरे इस मस्तिष्क को **अरेणुभिः**=रजोविकार से रहित, रजोगुण से ऊपर उठे हुए **सुगेभिः**=सरल व सात्त्विक **पथिभिः**=मार्गों से **जेहमानम्**=गति करते हुए को **अपश्यम्**=देखता हूँ, अर्थात् तू मस्तिष्क में निरन्तर ऊपर उठने की भावना को धारण करता है, तू रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्गों का आक्रमण करता है और इसी का परिणाम है कि तू सूर्यद्वार से मेरे समीप पहुँच रहा है। सबसे निचला लोक असुर्यलोक है, उससे ऊपर मर्त्यलोक, उससे ऊपर पितृयाण मार्ग से प्राप्त होनेवाला चन्द्रलोक और फिर देवयान से प्राप्त सूर्यलोक और अन्त में ब्रह्मलोक। एक व्रती पुरुष निरन्तर ऊपर उठता चलता है और ऊँचा-और-ऊँचा उठता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु व्रतीपुरुष के समीप होते हैं, यह व्रतीपुरुष सूर्यमार्ग से प्रभु को प्राप्त करता है, यह रजोगुण से ऊपर उठता हुआ, सात्त्विक मार्ग से चलता हुआ शिखर पर पहुँचता है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभुरूप दर्शन

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिषऽआ पदे गोः।
यदा ते मर्त्तोऽअनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठऽओषधीरजीगः॥१८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मैं रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्ग पर चलता हूँ तब **अत्र**=यहाँ **ते**=तेरे **उत्तमम् रूपम्**=सर्वोत्तम सच्चिदानन्दरूप को **अपश्यम्**=देखता हूँ। जो तेरा रूप **जिगीषमाणम्**=मेरी सब वासनाओं को जीतने की कामना करता है, अर्थात् आपके रूपदर्शन से ही मेरी सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। २. आपके दर्शन से मैं **गोः पदे**=इस वेदवाणी के पद में दिव्य प्रेरणाओं को **अपश्यम्**=अपने सारे जीवन के लिए देखता हूँ। मुझे इन वेदवाणियों से सुन्दर प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। ३. इन प्रेरणाएँ को सुननेवाला **ते मर्तः**=आपका यह मनुष्य **यत्**=जब **अनु**=यज्ञ के बाद **भोगम् आनट्**=भोग को व्याप्त करता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करता है, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इन शब्दों के अनुसार त्यागपूर्वक उपभोग में प्रवृत होता है **आत् इत्**=तभी सचमुच यह **ग्रसिष्ठः**=सर्वोत्तम भक्षण करनेवाला होता है। अकेला खानेवाला तो निकृष्ट भोगी है। ४. यह उत्तम भोक्ता **ओषधीः अजीगः**=ओषधियों का ही निगरण करता है। यह कभी भी मांसमोजन में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक मार्ग पर चलने से प्रभु का दर्शन होता है, क्रोधादि को हम जीत पाते हैं, वेदवाणी से प्रतिपादित मार्ग पर चलते हैं, यज्ञशेष का सेवन करते हैं, ओषधि-वनस्पतियों को अपनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वानुकूलता

अनु त्वा रथोऽअनु मर्योऽअर्वन्ननु गावोऽनु भर्गः कनीनाम्।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते॥१९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के उत्तम रूप को देखते हैं और ओषधि-वनस्पतियों

का ही सेवन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **रथः त्वा अनु**=यह शरीररूप रथ तेरे अनुकूल होता है, **मर्यः अनु**=सामान्य मनुष्य तेरे अनुकूल होते हैं। २. हे **अर्वन्**=बुराइयों का संहार करनेवाले विद्वन्! **गावः अनु**=सब इन्द्रियाँ तेरे अनुकूल होती है, अथवा गौएँ तेरे अनुकूल होती है, तुझे स्वास्थ्यप्रद दूध देनेवाली होती है। **कनीनाम् भगः अनु**=कन्याओं का सौभाग्य तेरे अनुकूल होता है, अर्थात् तेरी पुत्रियाँ व पुत्रवधुएँ तेरे घर के सौभाग्य को बढ़ानेवाली होती हैं। तेरी पुत्रियाँ जहाँ भी जाती हैं वे तेरे घर की कीर्ति का कारण बनती हैं और तेरे घर में आई कन्याएँ भी तेरे घर की शोभा का कारण बनती हैं। ३. **व्रातासः**=मनुष्यों के गण व समाज **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और ये सब **तव सख्यम् ईयुः**=तेरी मित्रता को प्राप्त करते है। ५. **देवाः**=सूर्यादि सब प्राकृतिक देव भी **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और **ते वीर्यं ममिरे**=तेरी शक्ति का निर्माण करते हैं। यह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सब प्राकृतिक दिव्य शक्तियाँ तेरे अनुकूल होकर तुझे सशक्त बनाती हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाने पर हमें सारे संसार की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्यशृंग अयः पाद

हिर॑ण्यशृङ्गोऽयो॑ऽअस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ऽअव॑र॒ऽइन्द्र॑ऽआसीत्।
दे॒वाऽइद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न्योऽअर्व॑न्तं प्रथ॒मोऽअ॒ध्यति॑ष्ठत्॥२०॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अर्वन्तम् अध्यतिष्ठत्**=इन इन्द्रियाश्वों पर अधिष्ठित होता है, अर्थात् इन इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में करता है, वह पुरुष **हिरण्यशृंगः**=(हिरण्यवत् शृंगं दीप्तिर्यस्य, शृंगमिति ज्वलन्नामसु पठितम्) स्वर्ण के समान देदीप्यमान ज्ञानवाला होता है अथवा इसका शृंग—शिखर, अर्थात् मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमकता है और **अस्य पादाः**=इसके पैर **अयः**=लोहा होते हैं—लोहे की भाँति सुदृढ़ इसकी टाँगे होती है, मस्तिष्क में ज्ञान और पाँवों में चलने की शक्ति। २. यह **अवरः इन्द्रः**=उस महेन्द्र प्रभु का छोटा भाई उपेन्द्र (अवर इन्द्र) जीव **मनोजवा आसीत्**=मन में वेगवाला होता है, अर्थात् इसका मन बड़ा ठीक कार्य करनेवाला होता है। ३. **देवाः**=ज्ञानी—विद्वान् लोग **इत्**=निश्चय से **अस्य** इसके **अद्यम् हविः**=खाने योग्य हव्य पदार्थ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। इसके गृह पर आतिथिरूपेण आकर इसके आतिथ्य को स्वीकार करते हैं और सात्त्विक भोजन का सेवन करते हैं। वस्तुतः इनके निरन्तर सम्पर्क में बने रहने के कारण ही यह 'हिरण्यशृंग, अयः पाद, मनोजवाः' बन पाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रिय बनकर हम ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले, सुदृढ़ पाँववाले, कार्यपटु मनवाले तथा देवों का आतिथ्य करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईर्मान्त सिलिकमध्यम

ई॒र्मान्ता॑सः॒ सिलि॑कमध्यमासः॒ सꣳशूर॑णासो दि॒व्यासो॒ऽअत्याः॑।
ह॒ꣳसाऽइ॑व श्रेणि॒शो य॑तन्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑॥२१॥

१. **ईर्मान्तासः**=(ईर्यते ईर्मः प्रेरितः अन्तः येषां ते) जिनके प्रान्तभाग प्रकृष्ट गतिवाले हैं। गतमन्त्र में 'हिरण्यशृंगः अयो अस्य पादाः' इन शब्दों में मस्तिष्क की उज्ज्वलता व

पाँवों की सुदृढ़ता का उल्लेख हुआ था। वही यहाँ 'ईर्मान्तासः' शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है। इनका उज्ज्वल मस्तिष्क सब विषयों के समझने में खूब गतिशील है तो इनके पाँव सुदृढ़ हैं। २. **सिलिकमध्यमासः**=(सिलिकः शिलष्टः संलग्नो मध्यमो येषां ते कृशोदराः) इनका उदर पीठ से लगा हुआ है, अर्थात् ये कृश उदरवाले हैं। 'मस्तिष्क मजबूत, पाँव प्रबल, पर पेट पतला' यह है इन वीर पुरुषों का चित्रण। ३. **शूरणासः**=(शू शीघ्रं रणः युद्धविजयो येषां) शीघ्रता से युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले और अध्यात्म-विजय प्राप्त करके **दिव्यासः**=(दिवि भवाः) सदा प्रकाश में निवास करनेवाले **अत्याः**=सतत गतिशील ये होते हैं। ४. और **हंसा इव श्रेणिशः** =जैसे हंस पंक्ति में इक्ट्ठे उड़ते हैं, इसी प्रकार ये लोग भी **श्रेणिशः**=श्रेणियाँ बनाकर, **संयतन्ते**=मिलकर धनार्जन का प्रयत्न करते हैं। इसका यह परिणाम स्वाभाविक है कि धन का समाज में बहुत विषम विभाग नहीं हो पाता। ५. इस विषम विभाग के न होने से अतिधनी होकर ये धन व विषयों में डूब नहीं जाते और अति दरिद्र होकर भूखे नहीं मर जाते। इस प्रकार **अश्वाः**=शक्तिशाली बने हुए ये पुरुष **दिव्यम् अज्मम्**=सुन्दर दिव्य गुणों के पनपाने के कारणभूत मार्ग को **आक्षिषुः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा उस मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं, जो उनके जीवन को दिव्य बनाता है।

भावार्थ—हम प्रबल मस्तिष्क व पाँववाले हों, कृशोदर हों, युद्ध में शीघ्र विजयी, दिव्य व गतिशील बनें। हंसों की भाँति मिलकर सहकारी समितियों के रूप में काम करें और इस प्रकार शक्तिशाली बनकर दिव्य मार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**वायवः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पतयिष्णु-ध्रजीमान्

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥२२॥

१. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **तव शरीरम्**=तेरा यह शरीर **पतयिष्णु**=गति के स्वभाववाला हो, अर्थात् क्रिया तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वभाव बन जाए। तू सब अङ्गों से गतिशील बन। २. **तव चित्तम्**=तेरा चित्त **वात इव**=वायु की भाँति **ध्रजीमान्**=गति व वेगवाला है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय के प्रति जानेवाला है। तेरा चित्त कभी शिथिल नहीं होता। ३. **तव शृङ्गाणि**=तेरी ज्ञान दीप्तियाँ (शृङ्गम् इति ज्वलतो नामधेयम्) **पुरुत्रा**=विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि अनेक विषयों में **विष्ठिता**=विशेषरूप से स्थित हैं, अर्थात् तेरा ज्ञान व्यापक है। ४. यह तेरा शरीर, यह तेरा चित्त तथा ये तेरा ज्ञान **अरण्येषु**=एकान्त स्थानों में, उस प्रभु के ध्यान के द्वारा **जर्भुराणा**=(जर्भुराणानि) देदीप्यमान व (जृम्भ विकसने) विकसित होकर **चरन्ति**=अपना-अपना कार्य करते हैं।

भावार्थ— प्रभु के उपासन से शरीर की गतिशीलता, चित्त की विज्ञान-कुशलता व ज्ञानदीप्तियों की विविधता विकसित होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'कवि व रेभ'—प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः॥२३॥

१. **वाजी**=गतमन्त्र के अनुसार अरण्य प्रदेशों में उपासना के द्वारा शक्तिशाली बना

हुआ यह पुरुष **शसनम्**=वासनाओं के संहार को **उपप्रागात्**=समीपता से सम्यक्तया प्राप्त करता है। वस्तुतः शक्ति के साथ ही गुणों का वास होता है और निर्बलता में वासनाएँ पनपती हैं। २. शक्तिशाली बनकर **अर्वा**=वासनाओं का संहार करनेवाला यह 'भार्गव' **देवद्रीचा**=(देवान् अञ्चति) दिव्य गुणों व दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के प्रति जानेवाले **मनसा**=मन से **दीध्यानः**=देदीप्यमान होता है। ३. इसके द्वारा अपने प्रत्येक कर्म में **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाला प्रभु **पुरः**=आगे **नीयते**=प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण करता है। ४. यह प्रभु ही **अस्य**=इस भार्गव के जीवन का **नाभिः**=केन्द्र होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में प्रभु को केन्द्र बनाकर चलता है। ५. **पश्चात्**=पीछे, अर्थात् प्रभु स्मरण के बाद **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी **रेभाः**=स्तोता लोग **अनुयन्ति**=अनुकूलता से चलते हैं, अर्थात् लोगों के अविरोध से जीवनयापन करते हैं। ये किन्हीं भी लोकविद्विष्ट कार्यों को नहीं करते।

भावार्थ—शक्तिशाली बनकर हम वासनाओं का संहार करें। प्रभु में मन लगाकर हम देदीप्यमान जीवनवाले हों। प्रत्येक कार्य को प्रभु-स्मरण से प्रारम्भ करें। प्रभु ही हमारा केन्द्र हो। हम ज्ञानी स्तोता बनकर अनुकूलता से कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ब्रह्मनिष्ठता का मार्ग

उ॒प॒ प्रागा॑त्पर॒मं यत्स॒धस्थ॒मर्वाँ॑२॥ऽअच्छा॑ पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च।
अ॒द्या दे॒वाञ्जुष्ट॑तमो॒ हि ग॒म्याऽअथा शास्ते दा॒शु॒षे॒ वार्या॑णि॥२४॥

१. **अर्वान्**=(नलोपाभावश्छान्दसः, अर्वा) वासनाओं का संहार करनेवाला यह व्यक्ति उस स्थान को **उपप्रागात्**=प्राप्त हुआ है **यत्**=जो **परमं**=सर्वोत्कृष्ट **सधस्थम्**=परमात्मा व आत्मा का 'महेन्द्र व उपेन्द्र का' एकत्र स्थित होने का स्थान है। इसे ही मोक्षलोक कहते हैं, इसमें उपनिषद् के 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' शब्दों के अनुसार यह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ विचरता है। यह पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होकर सब कार्यों को किया करता है। २. यह अपने जीवन के प्राम्भ में **मातरम् पितरम् च अच्छ**=माता और पिता की ओर **गम्याः**=जाता है। माता के शिक्षणालय में सच्चरित्र बनकर, पिता के शिक्षणालय में सदाचार का शिक्षण प्राप्त करता है। ३. और **अद्य**=आज सच्चरित्र, सदाचारी बनकर **जुष्टतमः**=प्रीततम होता हुआ, अर्थात् प्रसन्न मन से ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता हुआ **हि**=निश्चय से **देवान्**=ज्ञानी विद्वानों को **गम्याः**=प्राप्त होता है। इनके समीप रहकर ही तो यह विविध विद्याओं का अध्ययन करेगा। ४. अब यह आचार्य भी—इन विज्ञानी विद्वानों में से प्रत्येक विद्वान् **दाशुषे**=इस आत्मसमर्पण करनेवाले विद्यार्थी के लिए **वार्याणि**=वरणीय ज्ञानों को **आशास्ते**=चाहता है। आचार्य का प्रयत्न होता है कि वह इस जुष्टतम विद्यार्थी को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करानेवाला हो सके।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश से हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यहाँ पहुँचने के लिए हमारे जीवन का निर्माण माता, पिता व आचार्यों के शिक्षणालय में सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान के शिक्षण से होता है। हम आचार्यों के प्रति अपना अर्पण करते हैं, आचार्य हमें ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु का दूत

समिद्धोऽअद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥२५॥

१. 'गतमन्त्र का ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति किस प्रकार प्रभु को प्रीणित करता है' यह अगले १२ 'आप्री' मन्त्रों में वर्णन करते हैं। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति की प्रथम विशेषता यह है कि **अद्य**=आज **मनुषः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले के **दुरोणे**=इस शरीररूप गृह में, जिसमें से सब बुराइयों का अपनयन (दूर) कर दिया है (ओण् अपनयने), **समिद्धः**=खूब ज्ञान की दीप्तिवाला बना है, अर्थात् यह इस शरीर को निर्मल बनाता है और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता है। २. हे ब्रह्मनिष्ठ! तू **जातवेदः**=जात-प्रज्ञानवाला होकर, अर्थात् ज्ञानी बनकर **देवः**=दानादि गुणों से युक्त हुआ-हुआ **देवान् यजसि**=देवों का यजन करता है, मान्य व्यक्तियों को आदर देता है, विद्वानों का ही संग करता है और सदा उनके लिए दानशील होता है। ३. हे **मित्रमहः**=स्नेहयुक्त, तेजस्वितावाले (मित्रम् महो यस्य) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष! तू **चिकित्वान्**=चेतनावाला होकर, अर्थात् बड़ा समझदार बनकर **आवह**=इस ज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वम् दूतः**=तू उस प्रभु का सन्देशवाहक है, प्रभु के दिये सन्देश को तूने मनुष्यमात्र तक पहुँचाना है। **कविः असि**=तू क्रान्तदर्शी है, लोगों की मनोवृत्ति को समझकर उन्हें ठीक प्रकार से ही ज्ञान देनेवाला है, **प्रचेताः**=तू प्रकृष्ट संज्ञानवाला है। तू अपने ज्ञान के प्रसार से लोगों को एक-दूसरे के समीप लानेवाला होता है। इस प्रकार लोकहित करता हुआ तू अपनी ब्रह्मनिष्ठता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति (क) शरीर-गृह को पवित्र बनाकर ज्ञान संचय करता है, (ख) देवों के संघ में रहता है, (ग) स्नेहशील, तेजस्वितावाला बनकर लोगों को ज्ञान प्राप्त कराता है, (घ) यह प्रभु का बड़ा समझदार दूत बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तनूनपात्

तनूनपात्पथऽऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥२६॥

१. गत मन्त्र के ब्रह्मनिष्ठ का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि तू **तनूनपात्**=अपने शरीर को गिरने नहीं देता, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट नहीं करता। २. **ऋतस्य पथः यानान्**=ऋत के मार्ग पर गमनों को तू **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करनेवाला होता है। तू सदा ऋत के मार्ग पर चलता है और तेरे वे सब आने-जाने के मार्ग माधुर्य से युक्त होते हैं। तू किसी को अपनी गतियों से पीड़ित नहीं करता। ३. **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले! तू **स्वदया**=सभी के जीवन को स्वादयुक्त बनानेवाला होता है। तेरी वाणी से ऐसे मधुर शब्द उच्चरित होते हैं कि सुननेवाले को आनन्द की अनुभूति होती है। ४. तू **मन्मानि** =अपने ज्ञानों को **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **ऋन्धन्**=बढ़ानेवाला होता है। ५. **उत**=और **यज्ञम्**=तू अपने जीवन में यज्ञ को बढ़ाता है। ६. **च**=और **नः**=हमारे, हमसे उपदिष्ट, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदोपदेश द्वारा किये गये इस **अध्वरम्**=यज्ञ को **देवत्रा**=

देवों के विषय में तू **कृणुहि**=कर। ब्रह्मादि पाँचों यज्ञों को करनेवाला तू बन। ये यज्ञ ही तेरा इस लोक व परलोक में कल्याण करेंगे। यज्ञों से ही तू हमारी भी आराधना कर रहा होगा, अथवा **अध्वर्**=किसी प्रकार की हिंसा करनेवाला तू न हो।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ को चाहिए कि (क) शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रक्खे, (ख) ऋत के मार्ग का मुधरता से आक्रमण करे, (ग) मधुर शब्दों से सबके मनों को आनन्दित करे। (घ) बुद्धियों से ज्ञान को बढ़ाए (ङ) यज्ञ को सिद्ध करे, (च) देवों के विषय में यज्ञों को करनेवाला हो, अर्थात् उनकी हिंसा से दूर रहे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुक्रतु-शुचि

नराशꣳसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।

ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवाऽउभयानि हव्या॥२७॥

१. **नराशंसस्य**=मनुष्यों से शंसन के योग्य **यजतस्य**=सबके साथ संगतिकरणवाले अथवा सब-कुछ देनेवाले (यज संगतिकरणदान) पूज्य (यज=पूजा) प्रभु की **एषाम्**=इन लोगों से **यज्ञैः**=लोकहित के कर्मों द्वारा होनेवाली **महिमानम्**=पूजा को **उपस्तोषाम्**=हम स्तुत करते हैं, अर्थात् इन लोगों से की जानेवाली प्रभु की महिमा (पूजा) की हम प्रशंसा करते हैं। **ये**=जो (क) **सुक्रतवः**=उत्तम संकल्प, कर्म व प्रज्ञानवाले हैं, (ख) **शुचयः**=अर्थ के दृष्टिकोण से पवित्र हैं। (ग) **धियन्धाः**=जो बुद्धि व ज्ञानपूर्वक कर्मों को धारण करनेवाले हैं, और (घ) जो **देवाः**=देववृत्तिवाले बनकर **उभयानि**=बुद्धि व शरीर दोनों के दृष्टिकोण से **हव्या**=ग्रहण योग्य पदार्थों को **स्वदन्ति**=आनन्द से सेवन करते हैं। ये खाने योग्य पदार्थों को ही खाते हैं और खाने योग्य पदार्थ इनके दृष्टिकोण में वे ही हैं जो बुद्धि के वर्धक हैं तथा स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हैं। ३. इस प्रकार ये लोग प्रभु की क्रियात्मिक भक्ति करते हैं, इनकी भक्ति दृश्यभक्ति है। यही भक्ति प्रशंसनीय है। केवल गुणानुवाद स्तवन तो श्रव्यभक्ति है, वह प्रभु को प्रीणित नहीं कर सकती। प्रभु तो हमारे कर्मों से ही प्रीणित होंगे।

भावार्थ—हम सुक्रतु, शुचि, धी-सम्पन्न व हव्यों के ग्रहण करनेवाले बनकर प्रभु की सच्ची भक्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ईड्य वन्द्य

आजुह्वानऽईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।

त्वं देवानामसि यह्व होता सऽएनान्यक्षीषितो यजीयान्॥२८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **आयाहि**=आइए। जो आप (क) **आजुह्वानः**=(आहूयमानः) सभी से पुकारे जाते हैं, सज्जनों से सुख में, दुर्जनों से दुःख में, (ख) **ईड्यः** =स्तुति के योग्य हैं, (ग) **वन्द्यः**=अभिवादनीय हैं, (घ) **वसुभिः सजोषाः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले हैं, (ङ) उन देवों को भी वस्तुतः देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्', (च) **होता**=आप ही सब-कुछ देनेवाले है। २. **सः**=वे आप **इषितः**=हमसे सत्कृत हुए-हुए **एतान्**=इन-हम सबको **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। आप **यजीयान्**=अतिशयेन यष्टा हैं। अत्यन्त पूज्य हैं तथा हमें सब

आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप स्तुति के योग्य तथा वन्दनीय हैं, आप ही सर्वमहान् देव हैं, सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, आप हमें प्राप्त होइए।

नोट—यह्व होता=यह्वः चासौ होता च।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अन्तरिक्षम्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः**।

विशाल व वासनाशून्य हृदय

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यतेऽअग्रेऽअह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्योऽअदितये स्योनम्॥२९॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'वसुभिः सजोषाः'—'वसुओं के साथ प्रीतिवाला' कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वसु' बनने के मार्ग का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि **अस्याः पृथिव्याः**=इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए **प्राचीनं बर्हिः**=यह (प्र अञ्च्) अग्रगति की भावनावाला, वासनाशून्य हृदय **अह्नाम् अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में ही अर्थात् प्रातःकाल के समय **प्रदिशाः वृज्यते**=वेदोपदिष्ट मार्ग दोषवर्जित किया जाता है। हम हृदय को उषाःकाल में ही पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. दोषशून्य किया जाने पर यह **वितरम्**=खूब **वरीयः**=विशाल हृदय **उ**=निश्चय से **विप्रथते**=(प्रथ= विस्तारे) विशेषरूप से विस्तीर्ण बनता है। ३. यह विस्तीर्ण हृदय **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है, अर्थात् इस विस्तीर्ण हृदय में दिव्य गुणों का विकास आसानी से होता है और यह हृदय **अदितये**=अखण्डन के लिए, स्वास्थ्य के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है। हृदय में होनवाली वासनाएँ व संकुचित भावनाएँ शरीर-स्वास्थ्य को नष्ट करने में प्रबल स्थान रखती हैं। वासनाएँ गईं, विशालता आई तो यह शरीर स्वस्थ हो जाता है। मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार 'वसु' बनने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि हम वेद में प्रभु से उपदिष्ट मार्गों से हृदय को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रिय बनने के लिए हम हृदय को विशाल व वासनाशून्य बनाएँ। शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का प्रयत्न करें। 'वसु' बनकर ही हम प्रभु के प्रिय बन सकेंगे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दिव्य इन्द्रियद्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥३०॥

१. 'वसुओं' की—उत्तम निवासवालों की इन्द्रियाँ **व्यचस्वतीः**=(व्यञ्चनवत्यः गमनवत्यः) उत्तम गमनों व क्रियाओंवाली होकर **उर्विया**=(उरवो विशालाः—उ०) विशाल हों और **विश्रयन्ताम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) विशिष्ट कार्यों का सेवन करनेवाली हों। २. **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **शुम्भमानाः**=अपने को शोभित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ आत्मा के लिए अपने को शोभित करनेवाली हों ३. **देवीः द्वारः**=ये सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ **बृहतीः**=वृद्धि का कारण बनें। **विश्वमिन्वाः**=(विश्वम् एति गच्छति यासु ताः) सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हों। ४. ये इन्द्रियाँ **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **सुप्रायणाः**=(सुप्रगमनाः) प्रकृष्ट

गमनवाली हों, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय अपने मार्ग पर उत्तमता से आक्रमण करनेवाली हो, जिससे हममें उत्तरोतर दिव्यता का विकास हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार प्रकृष्ट गमनवाले हों, विशाल हों, अपने को उत्तम शक्तियों, उत्तम ज्ञानप्राप्तियों व कर्मों से सुभूषित करें, दिव्य बनें, हमारी वृद्धि का कारण बनें, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान को ग्रहण करनेवाले हों। ये सदा उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, जिससे हममें उत्तरोत्तर दिव्य गुणों का विकास होता चले।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

स्मयमान दिन-रात

आ सुष्वयन्ती यजतेऽउपाकेऽउषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मेऽअधि श्रियꣳशुक्रपिशं दधाने॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के उत्तम होने पर हमारे **उषासानक्ता**=दिन व रात **आसुष्वयन्ती** =सब प्रकार से स्मयमान होते हुए (स्मयतेः निरुपसर्गात्, मकारस्य नकारः) खिलते हुए, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से विकास को प्राप्त होते हुए, **यजते**=यज्ञशील होते हुए **उपाके**=(उप समीपम् अकतः, अक गतौ) प्रभु के समीप उपस्थित होनेवाले **योनौ**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **निसदताम्**=नम्रता से स्थित हों, अर्थात् हम दिन व रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। यह उपसना ही हमारे सर्वतोमुखी विकास का कारण बनेगी। २. **दिव्ये**=ये दिन-रात हमें प्रकाश में स्थापित करनेवाले हों, अर्थात् हम प्रातः व सायं प्रभु-उपासन के साथ स्वाध्याय अवश्य करें। ३. **योषणे**=स्वाध्याय के द्वारा ये दिन-रात हमें बुराइयों से अमिश्रित व अच्छाइयों से मिश्रित करनेवाले हों। हमारे दुर्गुणों को ये दूर करें व सुगुणों को प्राप्त कराएँ। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'। इस प्रकार ये **बृहती**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **सुरुक्मे**=उत्तम सुवर्ण व कान्ति को प्राप्त करानेवाले बनें। ४. ये दिन-रात हममें **शुक्रपिशम्**=(शुक्र वीर्य, पिश् to shape) वीर्य के द्वारा जिसका निर्माण होता है उस **श्रियम्**=शोभा को **अधि दधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हमें शुक्र, शुक्ल, श्वेत श्री की प्राप्ति होती है तथा इस वीर्यरक्षा के द्वारा ही 'कपिश श्री' स्वास्थ्य के कारण चेहरे पर तेजस्विता की सुनहली झलक प्राप्त होती है। इस प्रकार ये दिन-रात हमें भी सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—हमारे दिन-रात स्मयमान हों। यज्ञव्यापृत प्रभु की उपासना में लगे हुए ये दिन-रात हमारी बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराते हुए हमें भी सम्पन्न करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्राणापान

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥३२॥

१. हमारे प्राणापान **दैव्या होतारा**=उस देव=(प्रभु) को प्राप्त करानेवाले होता हैं। **प्रथमा**=ये इस शरीर में रहनेवाले देवों में प्रथम हैं, इनके जाने पर शरीर की दुर्गति ही क्या, समाप्ति ही हो जाती है, अतः प्राण ही वरिष्ठ व श्रेष्ठ हैं। **सुवाचा**=उत्तम वाणीवाले हैं, प्राणशक्ति की क्षीणता से वाणी भी क्षीण होने लगती है और अपान के ठीक कार्य न करने

से तो वाणी समाप्त ही हो जाती है। २. इस **मनुषः**=मननशील पुरुष के **यजधै**=(यष्टुं) प्रभु से मेल कराने के लिए **यज्ञम् मिमाना**=ये प्राणापान यज्ञों का निर्माण करते हैं। प्राणापान की शक्ति से ही सब यज्ञ चलते हैं। ३. ये प्राणापान साधना करनेवाले मनुष्य को **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचोदयन्ता**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्राणापान का साधक ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण ज्ञान की रुचिवाला होता है। **कारू**=ये प्राणापान प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण ढंग से करनेवाले हैं। शरीर में प्राणापान की शक्ति के ठीक होने पर कार्यों में भी सौन्दर्य व कला प्रकट होती है। प्राणापान की दुर्बलता होने पर कार्य में उत्साह नहीं होता और परिणामतः वहाँ अनाड़ीपन व भद्दापन टपकता है। ४. ये प्राणापान **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **प्राचीनम् ज्योतिः**=उन्नति के साधनभूत अथवा सनातन (शाश्वत) ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से हृदय का वह नैर्मल्य प्राप्त होता है जिससे अन्तःस्थ प्रभु की ज्योति का हममें आभास होता है। यह ज्योति हमारी निरन्तर उन्नति का कारण बनती है, यह प्राचीन है, हमें आगे ले-चलनेवाली है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें प्रभु से मिलाती है, ज्ञान को बढ़ाती है, हमारे कार्यों में सौन्दर्य लाती है, सनातन ज्योति का आभास कराती है।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

स्वपस के बर्हि में

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳस्योनꣳसरस्वती स्वपसः सदन्तु॥३३॥

१. **नः**=हमारे **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ में **भारती**=(भरतः आदित्यः, तस्य इयं भारती) सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति **तूयम्**=शीघ्र **आ**=सब प्रकार से **एतु**=प्राप्त हो। २. **मनुष्वत्**=एक ज्ञानी पुरुष को जैसे चाहिए उस प्रकार **इह**=इस जीवनयज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना को प्राप्त कराती हुई, संज्ञानवाला करती हुई **इडा**=यह श्रद्धा नामक देवता भी हमारे जीवनयज्ञ में शीघ्रता से प्राप्त हो। श्रद्धा न रहने पर 'जीवन' यज्ञ नहीं रहता, यह भोग का स्थान बन जाता है। 'Eat, drink and be merry'='खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ' यह उनके जीवन का सिद्धान्त बन जाता है। ३. भारती व इडा के साथ **सरस्वती**=यह वाणी देवता भी है और इस प्रकार **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वपसः**=(सु अपस्) उत्तम कर्मशील पुरुष के **इदम् स्योनम्** =इस सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**= आसीन हों, अर्थात् हम 'भारती, इडा व सरस्वती' इन तीनों देवियों को अपनाने का प्रयत्न करें। इन तीनों देवियों को अपनानेवाला व्यक्ति वही होता है जो 'स्वपस्' हो, उत्तम कर्मोंवाला हो। इस उत्तम कर्मोंवाले का हृदय वासनाशून्य होता है और वासनाशून्य हृदय में ही इन देवियों का स्थान है।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, इडा व सरस्वती' तीनों देवियों का समुचित स्थान हो।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्वष्टा का उपासन

यऽइमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिꣳशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥३४॥

१. **यः**=जो त्वष्टा **इमे**=इन **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को और **जनित्री**=सब

भूतों को जन्म देनेवाला है, उनको **रूपै अपिंशत्**=रूपों से अलंकृत करता है तथा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को रूपों से सजाता है, अर्थात् जिस त्वष्टा के कारण उस-उस पिण्ड व लोक में अमुक-अमुक सौन्दर्य है **तम्**=उस **देवं त्वष्टारम्**=दिव्य गुणोंवाले सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले त्वष्टादेव को, हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! **इषितः**= प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **यजीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील विद्वान्, ज्ञानी तू **इह**=इस मानव-जीवन में **यक्षि**=संगत कर। २. वे प्रभु जैसे सूर्यादि देवों को रूपों से अलंकृत करते हैं, वैसे तुझे भी रूपों से अलंकृत करेंगे। तू 'इषित' बन, प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बन, तू यजीयान हो, अतिशयेन यज्ञशील हो। विद्वान् व ज्ञानी बन। इस प्रकार बनने का प्रयत्न करने पर ही तू प्रभु-सम्पर्क को प्राप्त करेगा और तेरा जीवन भी द्युलोक व पृथिवीलोक की तरह रूपों से अलंकृत होगा।

भवार्थ—त्वष्टा ब्रह्माण्ड का निर्माता होकर उसे सौन्दर्य प्रदान करता है, हम उसके सम्पर्क में आएँगे तो वह हमें भी सौन्दर्य प्रदान करेगा।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वनस्पति-शमिता-देव-अग्नि

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथऽऋतुथा हवीᳬषि।
वनस्पतिः शमिता देवोऽअग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥३५॥

१. हे जमदग्ने! तू **त्मन्या**=स्वयं (आत्मना) **देवानाम् पाथे**=देवताओं के मार्ग में अर्थात्, देवयान मार्ग पर चलते हुए **समञ्जन्**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु से **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को **उपावसृज**=उपासना के साथ, प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने में डाल, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए हव्य पदार्थों का भोजन कर। 'जैसा अन्न वैसा मन', इस उक्ति के अनुसार तेरा जीवन वैसा ही बनेगा जैसा तू भोजन करेगा। तू देवयान मार्ग से चलनेवाला बन और सात्त्विक भोजन का सेवन कर तभी तुझमें दिव्य गुणों की उत्पत्ति होगी। २. **वनस्पतिः**=तू ज्ञान की रश्मियों का पति बन, **शमिता**=शान्त स्वभाववाला हो। **देवः**=दिव्य गुणों का अपने में विकास कर। **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ानेवाला हो। ३. जो 'वनस्पति, शमिता, देव व अग्नि' बनना चाहते हैं, वे **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को ही, पवित्र यज्ञिय भोजनों को ही **मधुना घृतेन**=शहद व घृत के साथ **स्वदन्तु**=खानेवाले हों, आनन्दपूर्वक इन्हीं वस्तुओं का सेवन करें। 'हव्य, मधु, घृत' ये सात्त्विक पदार्थ हमारे मनों को भी सात्त्विक बनाएँगे। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ेगा, हमारे मन प्रसादगुणयुक्त व शान्त होंगें, हममें दिव्य गुणों का विकास होगा और हम आगे-ही-आगे बढ़ेंगे।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से चलते हुए जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें। यज्ञिय, वनस्पति भोजन, मधु व घृत का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृहस्थ व यज्ञ

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतᳬहविरदन्तु देवाः॥३६॥

१. विद्यार्थी आचार्यकुल में प्रविष्ट होता है तो आचार्य उसे उपनीत करता हुआ गर्भ में धारण करता है। जब वह आचार्यगर्भ से उत्पन्न होता है तब **जातः**=उत्पन्न हुआ व

दीक्षान्तस्नान किया हुआ स्नातक विद्या व व्रतों में स्नान करके **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=गृहस्थ में प्रवेश करके पाँचों यज्ञों का करनेवाला बनता है। २. **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला होता है। आगे बढ़ते हुए **देवानाम्**=देवताओं का **पुरोगाः**=अग्रगामी **अभवत्**=होता है, अर्थात् देवो में भी प्रथम स्थान प्राप्त करता है। ३. **अस्य होतुः**=इस सृष्टियज्ञ के होता परमात्मा के **प्रदिशि**=प्रकृष्ट निर्देश में **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की वाणी के, अर्थात् प्रभु से वेद में प्रतिपादित मार्ग के अनुसार **स्वाहाकृतम्**=अग्नि में 'स्वाहा' शब्दोच्चारणपूर्वक डाली हुई **हविः**=हव्य पदार्थ को **देवाः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **अदन्तु**=खाएँ, अर्थात् मनुष्य वेदोपदिष्ट मार्ग से अग्निहोत्र करें, माता-पिता, आचार्य व अतिथि को श्रद्धापूर्वक खिलाये। इनको खिलाकर यज्ञशेष को खाना ही अमरता का साधन है।

भावार्थ—आचार्यकुल से समावृत्त होकर हम गृहस्थ बनें तो यज्ञशील हों। वेदानुसार अग्निहोत्र करें। मात-पिता को खिलाकर खाएँ, अतिथियों से पूर्व न खाने लग जाएँ। यज्ञशेष खानेवाले ही देव व अमर बना करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उषाः जागरण

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥३७॥

१. गतमन्त्र का यज्ञशील पुरुष सदा उत्तम इच्छाओं से सम्पन्न होता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छान्दा' बनता है। उसकी कामना होती है—(क) अन्धकार को दूर करने के लिए वह प्रकाश को फैलाये, (ख) निर्धनता को दूर करने के लिए वह धन के उचित संविभागवाला हो अथवा (पेशस् रूप) आहार-विहार का ठीक ज्ञान देने से लोगों को स्वस्थ बनाकर उन्हें ठीक रूप देनेवाला हो। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अकेतवे**=अविद्यमान प्रज्ञानवाले, नासमझ के लिए **केतुम्**=प्रज्ञान को **कृण्वन्**=करता हुआ तथा (क) **अपेशसे मर्या**=(मर्याय) (न विद्यते पेशः सुवर्णं यस्य)=अविद्यमान धनवाले के लिए **पेशः**=सुवर्ण को करता हुआ (ख) अथवा (पेशः=रूपम्) अस्वास्थ्य के कारण नष्ट सौन्दर्यवाले व्यक्ति के लिए, स्वास्थ्य के द्वारा सुन्दर रूप को करता हुआ तू **उषद्भिः**=उषाःकालों के साथ **अजायथाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भव—विकास करता है, अर्थात् उषाःकाल में ही जाग उठता है और अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगकर अपनी शक्तियों का विकास करता है।

भावार्थ—हम अज्ञानी के लिए ज्ञान दें, अधन के लिए धन देनेवाले हों तथा अरूप को स्वास्थ्य के द्वारा रूप प्रदान करें। उषाःकाल में ही उद्बुद्ध होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगते हुए अपनी शक्तियों का विकास करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वर्म (कवच) ब्रह्मरूप कवच

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳस त्वा वर्मणो महिमा पिपर्त्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रातःकाल जागकर अपने कर्त्तव्यों में लगनेवाला व्यक्ति अपना उचित रक्षण कर पाता है। शक्तिशाली बनकर जहाँ वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता, वहाँ मन में क्रोधादि भावनाओं से भी बचा रहता है, अतः इसका नाम 'भारद्वाज पायु' हो जाता है, अपने में शक्ति भरनेवाले की सन्तान, अपनी रक्षा करनेवाला। यह ज्ञानरूप कवच को

धारण करके (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्, शर्म वर्म ममान्तरम्) कामादि के आक्रमण से विद्ध (घायल) नहीं होता। वासनाओं के साथ संग्राम में यह ज्ञान व प्रसाद (सुख) का कवच इसे बचानेवला होता है। (क) मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जब **वर्मी**='ब्रह्म' कवच को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **समदाम्**=संग्रामों के (सह माद्यन्ति योद्धा यत्र) **उपस्थे**=गोद में, अर्थात् संग्राम में **याति**=प्राप्त होता है तब **जीमूतस्य इव**=मेघ की भाँति **प्रतीकम् भवित**=इसका मुख होता है। जिस प्रकार बादल विद्युत् व गर्जनाओं से असह्य होता है उसी प्रकार इस पायु का मुख भी ज्ञानदीप्ति व प्रभु नमोच्चारण से शत्रुओं के लिए असह्य हो जाता है। ३. जैसे योद्धा कवच के कारण अनविद्ध शरीरवाला होता है, उसी प्रकार **अनाविद्धया तन्वा**=काम, क्रोधादि के आक्रमणों से न घायल शरीर से **त्वम्**=तू **जय**=विजयी हो। **त्वा** =तुझे **वर्मणः**=ब्रह्मरूप कवच का **सः महिमा**=वह प्रसिद्ध महत्त्व **पिपर्त्तु**=कामादि के आक्रमण से बचानेवाला हो। ब्रह्मरूप कवच को धारण किये हुए तुझे कामदेव के अस्त्र विद्ध न कर सकें।

भावार्थ—ब्रह्मरूप कवच को धारण करके मनुष्य काम के आक्रमणों से बचा रहे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

धनुष् (प्रणवरूप धनुष)

धन्व॑ना॒ गा धन्व॑ना॒जिं ज॑येम॒ धन्व॑ना ती॒व्राः स॒मदो॑ जयेम।
धनुः॑ शत्रो॑रपका॒मं कृ॑णोति॒ धन्व॑ना॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॑ जयेम॥३९॥

१. **धन्वना**=धनुष से **गा**=गौवों को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **आजि**=युद्ध को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **तीव्राः**=उग्र व पटु बने हुए हम **समदः**=संग्रामों को **जयेम**= जीत जाएँ। **धनुः** =धनुष् **शत्रोः**=शत्रु की **कामम्**=इच्छा को **अपकृणोति**=दूर करता है, **धन्वना**= इस धनुष् से **सर्वाः प्रदिशः**=सब प्रकृष्ट दिशाओं को **जयेम**=जीत जाएँ। २. उपनिषदों में 'प्रणवो धनुः' इन शब्दों में **प्रणव**=ओंकार को धनुष् कहा है। योग में प्रणव के जप व अर्थभावन पर बल दिया है। इसके उच्चारण व अर्थभावन से हम इन्द्रियों (गाः) को जीतते है। इसी के बल से हम वासना-संग्राम (आजि) में विजयी होते है। इसके उच्चारण से शक्तिशाली बने हुए हम (तीव्रम्) सब संग्रामों को अथवा मदयुक्त प्रबल शत्रुओं को (समदः) पराजित करते हैं। ३. यह धनुष् ही—प्रणव का ध्यानपूर्वक जप ही हमपर कामाग्नि का आक्रमण नहीं होने देता। हम इस प्रणवरूप धनुष् से सब दिशाओं में उन्नित कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष् के महत्त्व को समझें और अर्थभावनपूर्वक 'ओम्' का जप करते हुए सच्चे धानुष्क (धनुर्धारी) बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्या (जिह्वा)

व॒क्ष्यन्ती॒वेदा ग॑नीग॒न्ति कर्णं॑ प्रि॒यꣳसखा॑यं परि षस्वजा॒ना।
योषे॑व शिङ्क्ते॒ वित॒ताधि॒ धन्व॒ञ्ज्या इ॒यꣳसम॑ने पा॒रय॑न्ती॥४०॥

१. जिस समय धनुष् पर तीर लगाकर ज्या को खींचते हैं तब यह ज्या कान के पास तक पहुँचती है, मानो वह कान में कुछ कहना चाहती है। **वक्ष्यन्ती इव**=वचनोत्सुका-सी बोलने के लिए उत्सुक-सी **इत्**=निश्चय से **कर्णम्**=धानुष्क के कर्णमूल के पास

आगनीगन्ति=खूब आती है। २. यह ज्या **प्रियं सखायम्**=अपने प्रिय मित्र बाण को **परिषस्वजाना**=आलिंगन किये हुए होती है। ३. **अधिधन्वन्**=धनुष् पर **वितता**=फैली हुई यह ज्या **योषा इव**=गुणों के मिश्रण व दोषों के अमिश्रण करनेवाली स्त्री के समान **शिङ्क्ते**=अव्यक्त शब्द करती है। ४. **इयम्**=यह **ज्या**=धनुष् की डोरी **समने**=संग्राम में **पारयन्ती**=विजय को प्राप्त करती है। ५. हमारी जिह्वा ही ज्या है, यह कान में कुछ कहने के लिए तो उत्सुक रहती ही है, 'शरो ह्यात्मा'=आत्मा 'बाण' है—और यह वाणी उसी का स्त्रीलिंगरूप धारण किये हुए आत्मा की पत्नी ही है। आत्मा इसका प्रिय सखा है। प्रणवरूप धनुष पर विस्तृत हुई-हुई यह जयरूप में अव्यक्त शब्द करती है और वासनासंग्राम में हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—धनुष् में ज्या का जो महत्त्व है वही जीवन में वाणी का महत्त्व है। इसी से आत्मारूप शर प्रेरित होता है। प्रभु की वाणी हम आत्माओं को प्रेरणा दे रही है। हम स्वयं भी वाणी द्वारा आत्मा को प्रेरणा (आत्मप्रेरणा) देकर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आर्त्नी (श्रद्धा व विद्या)

तेऽआचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यताᳮसंविदानेऽआर्त्नीऽइमे विष्फुरन्तीऽअमित्रान् ॥४१॥

१. **ते आर्त्नी**=वे दोनों धनुष्कोटियाँ **समना योषा इव आचरन्ती**=समान पति में गये हुए मनवाली स्त्रियों की भाँति आचरण करती हुईं, **माता पुत्रम् इव**=जिस प्रकार माता पुत्र को, उसी प्रकार **उपस्थे**=गोद में **बिभृताम्**=शर को धारण करें। दोनों धनुष्कोटियाँ धानुष्क को इस प्रकार प्राप्त होती हैं जैसे दो स्त्रियाँ समान पति को प्राप्त होती है। पत्नी शक्ति का प्रतीक है। यहाँ धानुष्क की शक्ति इन दोनों कोटियों में निहित है। अध्यात्म में ये दोनों कोटियाँ 'श्रद्धा और विद्या' है। आत्मा इनका पति है, आत्मा की शक्ति श्रद्धा और विद्या पर निर्भर करती है। इन दोनों कोटियों के मध्य में जैसे शर निहित होता है, उसी प्रकार यहाँ श्रद्धा और विद्या के मध्य में कर्म है। जो कर्म श्रद्धा व विद्या से मिलकर किया जाता है, वह कर्म वीर्यवत्तर होता है। २. **इमे**=ये दोनों **आर्त्नी**=धनुष्कोटियाँ **संविदाने**=परस्पर एकभाव को प्राप्त हुईं-हुईं, परस्पर सिली-सी हुईं **'मूर्धानमस्य संसीव्य हृदयं च यत्'**, **अमित्रान्**=अस्नेहवालों को, अर्थात् शत्रुओं को **विष्फुरन्ती** =(विशेषेण चालयन्त्यौ) विशेषरूप से डाँवाडोल करती हुई **शत्रून्**=शत्रुओं को **अपविध्यताम्**=विद्ध करके दूर भगा दें। हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में श्रद्धा से विद्या का पोषण करें और विद्या से श्रद्धा को दृढ़मूल करें। इस प्रकार श्रद्धा और विद्या को परस्पर मिला दें। जब हम श्रद्धा व ज्ञानपूर्वक प्रभु के नाम का उच्चारण व अपने अन्य कर्म करें तब काम, क्रोधादि शत्रु काँप उठें और हमारे हृदय से दूर भाग जाएँ।

भावार्थ—प्रणवरूप धनुष् की श्रद्धा व विद्यारूप दोनों कोटियाँ परस्पर सम्बद्ध होंगी तो इस धनुष् से इस प्रकार कर्मरूप तीव्र शर चलेंगे कि वासनारूप सब शत्रुओं का संहार हो जाएगा।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इषुधिः (तूणीर)

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में तरकस का उल्लेख करते हैं। इस तरकस में तीर रखे जाते हैं और यह धानुष्क की पीठ पर बँधा होता है। इसमें तीर सुरक्षित होते हैं, सो कहते हैं कि **बह्वीनाम् पिता**=बहुत-से तीरों का यह पिता-रक्षक होता है। **बहुः**=बहुत-से इषुओं का यह समूह **अस्य**=इसका **पुत्रः**=पुत्र स्थानीय है। 'पुरून् बहून्ह त्रायते'=यह वाणसमूह शत्रुओं पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करता है। २. यह तूणीर **समना अवगत्य**=संग्राम में पहुँचकर **चिश्चा कृणोति**='चिश्चा' इस अव्यक्त शब्द को करता है-'' 'चि'=एक-एक शत्रु का चयन करके, एक-एक को चुनकर उसका उच्चाटन कर दो'', ऐसा कहता प्रतीत होता है। ३. यह **इषुधिः**=तूणीर **पृष्ठे निनद्धः**=पीठ पर दृढ़ता से बँधा हुआ **प्रसूतः**=धानुष्क से कार्य में प्रेरित किया हुआ **सर्वाः**=सब **सङ्काः**=(सन्नतेः, संपूर्वात् किरतेर्वा) सम्बद्ध व विकीर्ण **पृतनाः**=सेनाओं को **जयति**=जीत लेता है। ४. हृदय तूणीर है, इसमें निहित प्रभु के नाम ही शर हैं-अध्यात्मभवनारूप इन तीरों से वासनाओं की सेनाएँ पराजित कर दी जाती हैं।

भावार्थ-तरकस का युद्ध में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वही स्थान शरीर में हृदय का है। यह शत्रुओं के संहारक आत्मसङ्कल्परूप शरों से भरपूर होना चाहिए।

ऋषिः-**भारद्वाजः**। देवता-**वीराः**। छन्दः-**जगती**। स्वरः-**निषादः**।

सारथिः व रश्मयः

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥४३॥

१. **रथे**=रथ पर **तिष्ठन्**=स्थिरता से ठहरा हुआ **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **यत्र-यत्र**=जहाँ-जहाँ **कामयते**=चाहता है, वहाँ-वहाँ **वाजिनः**=घोड़ों को **पुरः**=आगे **नयति**=ले-जाता है। यह शरीर भी रथ है। इस रथ पर आत्मा रथी है, वह बुद्धिरूप सारथिवाला है। जब यह सारथि ठीक होता है तब यह इन्द्रियरूप घोड़ों को इष्ट स्थान की ओर ले-जाता है और अपनी जीवन-यात्रा को आगे-और-आगे (पुरः) बढ़ाता चलता है, परन्तु सारथि के अकुशल होने पर ये घोड़े रथ को किसी गर्त में गिरा देते हैं और सब काम ही समाप्त हो जाता है, उन्नति व यात्रापूर्ति का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। २. मन्त्र कहता है कि जहाँ सारथि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ **अभीशूनाम्**=रश्मियों की, लगामों की **महिमानम्**=महिमा की **पनायत**=स्तुति करो। ये **रश्मयः**=रश्मियाँ-लगामें **पश्चात्**=पीछे होती हुई **मनः**=अश्वरूपी चित्त को **अनुयच्छन्ति**=अनुकूलता से प्राप्त होकर वशवर्ती कर लेती हैं। लगाम घोड़ों को काबू करने में सहायक होती है। शरीर में मन ही लगाम है। मनीषा, अर्थात् बुद्धि ने इस मनरूप लगाम के द्वारा ही इन्द्रियों को काबू करना है।

भावार्थ-बुद्धिरूप सारथि उत्तम होगा तो वह इन्द्रियों से हमारी जीवन-यात्रा को पूर्ण करेगा। इन इन्द्रियों को मनरूप लगाम द्वारा ही काबू किया जा सकता है। बुद्धिरूप सारथि का नाम ही मनीषा (मनसः ईष्टे) है, यह मन का शासन करती है।

ऋषिः-**भारद्वाजः**। देवता-**वीराः**। छन्दः-**त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**।

अश्व (इन्द्रियाँ)

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँ१॥ऽरनपव्ययन्तः॥४४॥

१. **वृषपाणयः**='वृष' शब्द यहाँ शक्तिशाली घोड़ों का प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे

घोड़े जिनके हाथों में है (वृषाः पाणौ येषाम्)। वे उत्तम अश्वोंवाले व्यक्ति **तीव्रान् घोषान्**=तीव्र जय शब्दों को **कृण्वते**=करते हैं। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से क्या हम जीवन-यात्रा में विजयी न होंगे? २. इन वृषपाणियों के **अश्वाः**=ये इन्द्रियाश्व भी **रथेभिः सह**=शरीररूप रथों के साथ **वाजयन्तः**=जीवनयात्रा में आगे-और-आगे चलते हुए (गच्छन्तः) अथवा प्रभु का पूजन करते हुए (पूजयन्तः) विजय-घोष करते हैं। ३. **अमित्रान्**=अमित्रों को **प्रपदैः**=पादाग्रों से, खुरों से **अवक्रामन्तः**=पाँवों तले रौंदते हुए **अनपव्ययन्तः**=न नष्ट होते हुए, शक्ति को क्षीण न होने देते हुए **शत्रून्**=शत्रुओं को **क्षिणन्ति**=नष्ट कर देते हैं। यदि हमारे ये इन्द्रियाश्व वृषपाणियों के हाथों में होंगे तो ये वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करके हमें जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे ले-चलेंगे। यहाँ मन्त्र में 'तीव्रान् घोषान्' शब्दों से उच्च स्वर में प्रभु नामोच्चारण का संकेत किया गया है। प्रभु 'उक्थ' हैं। ऊँचे से गायन के योग्य हैं। यह उच्च स्वर से प्रभुनामोच्चारण हमें विजयी बनाता है। यह मन्त्रोच्चारण जयशब्दोच्चारण हो जाता है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व शक्तिशाली हों। उनकी लगाम हमारे हाथों में हो तभी हम इस शरीर-रथ से यात्रा में आगे बढ़ पाएँगे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

रथमुपसदेम

रथवाहनꣳहविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुप शग्मꣳसदेम विश्वाहा वयꣳसुमनस्यमानाः॥४५॥

१. **अस्य**=इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज पायु' का **हविः**=दानपूर्वक अदन, यज्ञशेष के रूप में भोजन का सेवन **रथवाहनम् नाम**=निश्चय से शरीररूप रथ के धारण के लिए ही करते हैं। २. इनका यह शरीररूप रथ ऐसा है **यत्र**=जिसमें **अस्य**=इस रथस्वामी का **आयुधम्**=सब अस्त्र-शस्त्र, (वस्तुतः इस जीवन-यात्रा में इन्द्रियाँ ही आयुध हैं अथवा प्राण आयुधरूप हैं—ये इन्दियाँ और प्राण) तथा **वर्म**=ज्ञानरूप कवच **निहितम्**=रखा है। वस्तुतः जिस समय मनुष्य भोजन का चुनाव बड़े ध्यान से करता है तब उसकी इन्द्रियाँ, प्राण और ज्ञान सभी उत्तम होते हैं। ३. **तत्र**=उस समय **वयम्**=हम **एवम्**=शरीररूप रथ पर **उपसदेम**=विनीततापूर्वक आसीन हों—हम उपासना की वृत्तिवाले बनकर रथारूढ़ हों, जिससे यह रथ **शग्मम्**=हमारे लिए सुखकर हो। ४. ऐसे रथ पर आरूढ़ हुए-हुए हम **विश्वाहा**=सदा **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्यवाले हों। हमारे मनों में प्रसन्नता हो, उसमें किसी प्रकार की मलिन भावनाएँ न हों।

भावार्थ—जैसे रथ के ठीक होने पर तथा सब उपकरणों व रक्षासाधनों से युक्त होने पर यात्री सुख व शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार हमारा यह शरीररूप रथ भी हो। इसमें इन्द्रियाँ, प्राण, मन व बुद्धि आदि सभी उपकरण ठीक हों, जिससे सौमनस्यवाले होकर हम यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

रथ-गोप—रथ-रक्षक सैनिक (Commanders)

स्वादुषꣳसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेनाऽइषुबलाऽअमृध्राः सतोवीराऽउरवो व्रातसाहाः॥४६॥

१. सेना के नायकों का 'रथगोप' के नाम से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **स्वादुषंसदः**=(स्वादु सुखं यथा तथा संसीदन्ति) इनका उठना-बैठना भी माधुर्य को लिये हुए होता है, (ख) **पितरः**=ये रक्षक होते हैं, अपने सैनिकों को पुत्रवत् समझते हैं, (ग) **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले होते है। (घ) **कृच्छ्रेश्रितः**=(कृच्छ्रे श्रीयन्ते सेव्यन्ते) कष्ट आने पर इनकी शरण में आया जाता है, (ङ) **शक्तीवन्तः**=सामर्थ्य व आयुधविशेषों से ये सम्पन्न होते है, (च) **गभीराः**=गम्भीरबल व गम्भीर प्रज्ञावाले हैं, (छ) **चित्रसेनाः**=नाना प्रकार की सेनावाले हैं, (च) **इषुबलाः**=बाणादि अस्त्रों से बलवाले हैं, (झ) **अमृध्राः**=(कठिनाङ्गा अमृदवः) कठिन अङ्गोंवाले हैं अथवा उग्र शासनवाले हैं, (ञ) **सतोवीराः**=सत्ता व बल से युक्त सेना को विविध दिशाओं में ईरण व प्रेरण करनेवाले हैं। अथवा सज्जन व वीर हैं। **उरवः**=विशाल जघन व उरु प्रदेशवाले हैं। **व्रातसाहाः**=शत्रुओं के समूहों को अभिभूत करनेवाले हैं। २. वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति 'रथगोप' अथवा सेनानायक बनने की योग्यता रखते हैं। वे सेना के पितर कहलाते हैं। वस्तुतः राष्ट्ररक्षक होने से इनका 'पितर' नाम समुचित ही है।

भावार्थ—मन्त्रवर्णित योग्यताओं को धारण करके हम सच्चे 'रथगोप' सेनानायक बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**धनुर्वेदाध्यापकाः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ब्राह्मण

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवीऽअनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंसऽईशत॥४७॥

१. हमारे राष्ट्र के 'सेनानायक कैसे हों', यह विषय गतमन्त्र का था। प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भिक विषय यह है कि 'हमारे राष्ट्र के आचार्य कैसे हों?' आचार्य (क) **ब्राह्मणासः**=(ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्म के जाननेवाले अर्थात् पराविद्या में भी निपुण हों। **'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**, पराविद्या वही है जिससे उस अक्षर, अविनाशी, परमात्मा का ज्ञान होता है। 'पराविद्या में निपुण' कह देने से अपराविद्या का पाण्डित्य तो आ ही जाता है, क्योंकि सामान्यक्रम से अपरा के बाद ही परा का अध्ययन होता है। (ख) ये परा-पराविद्या में निपुण ब्राह्मण **पितरः**=विद्यार्थियों का पालन व रक्षण करनेवाले होते हैं। (ग) **सोम्यासः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले होते हुए ये बड़े सौम्य स्वभाव के, शान्तवृत्ति के होते हैं। २. राष्ट्र में ब्राह्मणों के ठीक होने पर आधिदैविक आपत्तियों से राष्ट्र बचा रहता है, अतः कहते हैं कि 'ब्राह्मणों के पितर व सोम्य' होने पर **नः**=हमारे लिए **द्यावापृथिवी** =द्युलोक व पृथिवीलोक **अनेहसा**=उपद्रव व हिंसाशून्य होते हुए **शिवे**=कल्याणकर हों। पार्थिव व अन्तरिक्ष कोई भी विपत्ति हमपर न आये। ३. द्यावापृथिवी के साथ **पूषा**=यह सबका पोषण करनेवाला सूर्य **नः**=हमें **दुरितात्**=पाप से **परिपातु**=सुरक्षित करे। ४. हे **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का रक्षण करनेवाले देवो! आप **रक्ष**=हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः जब हमारे अन्दर सत्य व यज्ञ का वर्धन होगा तब हमारी रक्षा तो स्वतः हो जाएगी। ५. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकि**=मत **ईशत**=शासन करनेवाला हो जाए, अर्थात् हम किन्हीं भी दुष्टों के वश में न हो जाएँ। उनकी बातों में आकर धर्म के मार्ग से विचलित न हों जाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र के ब्राह्मण 'पितर व सोम्य' हों तो द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा कल्याण करनेवाले होंगे। सूर्य भी हमें अशुभावस्था से बचाएगा। सब देव हमारी रक्षा करें। हम दुर्जनों की बातों के प्रभाव में न आ जाएँ।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बाण

सुपर्णं वस्ते मृगोऽअस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥४८॥

१. धानुष्क से छोड़े जानेवाला बाण **सुपर्णं वस्ते**=पक्षी के पिच्छ को धारण करता है। बाण के अग्रभाग में उसकी गति को तीव्र करने के लिए कंक आदि पक्षियों का पंख लगाया जाता है। २. **अस्या दन्तः**=इस इषु का फलका **मृगः**=लक्ष्य का मार्गण (अन्वेषण) करनेवाला होता है। ३. **गोभिः**=गोविकार श्लेष्मस्नायुओं (ताँत) से **सन्नद्धा**=अच्छी प्रकार कसकर बँधा हुआ **प्रसूता**=धानुष्क से प्रेरित किया गया यह इषु **पतति**=शत्रुसैन्य की ओर जाता है। ४. इसके शत्रुसैन्य पर पड़ने पर रणांगण का दृश्य ऐसा हो जाता है कि **यत्र**=जिसमें **नरः**=मनुष्य **संद्रवन्ति च**=मिलकर भाग खड़े होते हैं **च**=और **विद्रवन्ति**=विरुद्ध दिशाओं में तितर-बितर हो जाते हैं। ५. इस प्रकार शत्रुसैन्य को भगाकर ये **इषवः**=बाण **तत्र**=उस रणाङ्गण में **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए शर्म **यंसन्**=सुख व शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा के लिए आयुध-सामग्री ठीक से तैयार होनी चाहिए। यह शत्रुसैन्य को पराजित करके राष्ट्र में सुख व शान्ति को बढ़ानेवाली हो।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋजुगमन (सरल व्यवहार)

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमोऽअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥४९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शत्रुओं के भय से सुरक्षित राष्ट्र में हम कैसे बनें' इस बात का वर्णन करते हुए कहते है कि हे **ऋजीते**=(ऋजुः इति सरल गमन) सरल गति! तू **नः**=हमें **परिवृङ्ग्धि**=सब ओर से, शरीर में रोगादि से और मन में चिन्ताओं व ईर्ष्या-द्वेषादि से छुड़ा। सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाएँ सरल व्यवहार को अपनाकर अपने को रोगों व दोषों से मुक्त करें। २. **नः तनूः**=हमारे शरीर रोग-दोष से मुक्त होकर **अश्मा भवतु**=पत्थर के समान सुदृढ़ हों। छोटे-मोटे ऋतु-विकार उससे टकराकर प्रभावशून्य हो जाएँ। ३. **सोमः**=शान्त=विनीत स्वभाववाला आचार्य **नः**=हमें **अधिब्रवीतु**=अधिक्येन उपदेश दे। इनके उपदेश से ही हमारे जीवन में सरलता स्थिर रहेगी और हम कुटिलता से बचे रहेंगे। ४. **अदितिः**= अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य अथवा अदीना देवमाता=दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली अदीनता की भावना **शर्म**=शान्ति व सुख **यच्छतु**=दे।

भावार्थ—हमारा व्यवहार सरल, कपटशून्य हो। शरीर पाषाणवत् दृढ़ हो। सौम्य आचार्यों से हमें ज्ञान प्राप्त हो। अदीनता व दिव्यता हमें सुखी व शान्त करे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अश्वाजनी

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ२॥ऽउप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥५०॥

१. जहाँ रथ में घोड़ों का महत्त्व है, वहाँ घोड़ों को चलानेवाले रथवाहक का महत्त्व

भी कम नहीं है। समझदार रथवाहक सामान्य घोड़ों को भी बड़ी अच्छी गतिवाला कर लेता है। वह चाबुक का प्रयोग बड़ी समझदारी से करता है। नासमझ रथवाहक मार-मार कर अच्छे घोड़े को भी बिगाड़ देते हैं, अतः कहते हैं कि **प्रचेतसः** =प्रकृष्ट ज्ञानवाले समझदार रथवाहक **एषाम्**=इन घोड़ों के **सानु**=सानुतुल्य मांसोपचित (उठे हुए) अङ्गों को **आजङ्घन्ति**=चोट करते हैं, आहत करते हैं और **जघनान्**=कटिभागों को **उपजिघ्नते**=समीपता से ताड़ित करते हैं, दूर से किया हुआ प्रहार क्रोध को व्यक्त करता है और घोड़े को एक धक्का देता है, जिसकी प्रतिक्रिया कभी ठीक नहीं होती। पास से किया हुआ आघात प्रेमपूर्वक दिये गये संकेत का सूचक है, उससे घोड़ा यथेष्ट गति के लिए उत्साहित होता है। ३. हे **अश्वाजनि**=चाबुक (अश्वाः अज्यन्ते यया)! तू समझदार प्रचेतस रथवाहक से प्रेरित हुआ-हुआ **अश्वान्**=घोड़ों को **समत्सु**=संग्रामों में **चोदय**=प्रकृष्ट प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—घोड़ों के संचालक—रथवाहक बड़े समझदार होने चाहिएँ। वे चाबुक का समझदारी से प्रयोग करते हुए घोड़ों को संग्राम में सञ्चालित करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**महावीरः सेनापतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुमान् पुमांसं पातु

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमा॑ᳬसं॒ परि॑ पातु वि॒श्वतः॑॥५१॥

१. 'हस्तघ्न' की व्युत्पत्ति है 'हस्ते स्थितो हन्ति' अथवा 'हस्तं हन्ति प्राप्नोति'—हाथ में स्थित होता हुआ ज्या के अघात को रोकता है अथवा ज्या के अघात से बचाव के लिए हाथ को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह **हस्तघ्नः**=प्रकोष्ठ त्राण (भुजरक्षक) **ज्यायाः**=धनुष की डोरी के **हेतिम्**=आघात को **परिबाधमानः**=रोकता हुआ **बाहुम्**=बाहु को **भोगैः**=अपने विस्तार से (आभोग से) **पर्येति**=इस प्रकार परिवेष्टित कर लेता है **इव**=जैसे **अहिः**=साँप **भोगैः**=अपने शरीरावयवों से। २. इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न हो, हाथ में लिये हुए शस्त्रों से शत्रुओं का हनन करनेवाला हो। यह राजा **विश्वा वयुनानि**=सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानता हुआ, अर्थात् अपने कर्त्तव्यों व ज्ञेय विषयों को समझता हुआ **पुमान्**=वीर होता हुआ अथवा (पू) पवित्र जीवनवाला होता हुआ **पुमांसम्**=अपने राष्ट्र के पवित्राचरण लोगों को **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—'हस्तघ्न' ज्या के आघात से बाहु की रक्षा करता है। इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न बनता है और अपने कर्त्तव्यों को समझता हुआ प्रजा का रक्षण करता है।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

रथ

वन॑स्पते वी॒ड्व॒ङ्गो हि भू॒याऽअ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑।
गोभि॒ः सन्न॑द्धोऽअसि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि॥५२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में रथ को 'वनस्पते' शब्द से सम्बोधन किया गया है। रथ बहुत कुछ वनस्पति-विकार व काष्ठमय होता ही है। यह हमारा शरीररूप रथ भी वनस्पति का विकार ही होना चाहिए, यह मांस से परिपुष्ट न होकर वनस्पति से ही पोषण को प्राप्त करे। हे **वनस्पते**=वनस्पतिविकार रथ! तू **हि**=निश्चय से **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गवाला **भूयाः**=हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा साथी हो। इस जीवन-यात्रा में सचमुच हमारी मदद देनेवाला हो।

प्रतरणः=सब विघ्नों को तैर जानेवाला हो। **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=हे युद्धवाले रथ! तू गौ के श्लेष्मचर्मों से सम्यक् बँधा हुआ है, इधर हमारा यह शरीररूप रथ भी गोविकार दूध आदि पदार्थों से दृढ़ गठे हुए अङ्गोंवाला है। **वीडयस्व**=तू दृढ़ता के कार्यों को करनेवाला हो, तेरे कार्य वीरतापूर्ण हों। ३. **ते अस्थाता**=तुझपर आसीन होनेवाला **जेत्वानि**=विजेतव्य देशों व द्रव्यों को **जयतु**=जीते।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ 'वनस्पतिविकार' ही हो, अर्थात् हम वानस्पतिक भोजन ही करें। गोदुग्ध से हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुगठित हों। इस शरीररूप रथ पर आसीन होकर हम विजेतव्य वस्तुओं का विजय करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ओजोभरण हविर्यजन

दिवः पृथिव्याः पर्योजऽउद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्य्याभृतꣳसहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳहविषा रथं यज॥५३॥

१. गतमन्त्र के शरीररूप रथ में **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीरूप शरीर का **ओजः**=बल **परि**=सब प्रकार से **उद्भृतम्**=प्रकर्षपूर्वक पोषित किया गया है, अर्थात् यह ध्यान किया गया है कि मस्तिष्क में जितने ज्ञान का पोषण हो सकता है, वह किया जाए और शरीर को जितना भी सबल बनाया जा सकता है बनाया जाए। २. इसी उद्देश्य से इसमें **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के द्वारा **सहः**=सहनशक्ति बढ़ानेवाला बल **पर्याभृतम्**=सब ओर से अच्छी प्रकार लाया गया है, अर्थात् वनस्पतियों के सेवन से इसमें उस बल की वृद्धि हुई है जिसके कारण इसमें सहनशक्ति है, यह शीघ्रता से क्रोध में नहीं आ जाता। ३. **अपाम्**=(आपः रेतः) रेतस् कणों के—वीर्य-बिन्दुओं के **ओज्मानम्**=बल का पुंज यह **रथम्**=शरीररूप रथ **गोभिः**=गोदुग्धों से **परि आवृतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृत हुआ है, अर्थात् जिसके अङ्गों का निर्माण दूध से हुआ है, दूध को पीकर जिसके अङ्ग सुन्दर बने हैं अथवा जो रथ **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से आवेष्टित है। यह शरीर **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वज्रम्**=वज्रतुल्य दृढ़ है (यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे) इस शरीर रथ को **हविषा**=हवि से **यज**=सङ्गत कर, अर्थात् यह सदा हवि का सेवन करनेवाला हो, दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। इस हवि से ही तो हम प्रभु की भी अर्चना कर पाते हैं, अतः हम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। इस यज्ञशेष के सेवन से यह रथ अमृत बनेगा, रोगों का शिकार न होगा।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में हम मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करें, शरीर को बल-सम्पन्न बनाएँ। वनस्पतियों के सेवन से सहनशील बनें। रेतस् कणों की रक्षा से ओजस्वी बनें। ज्ञानकिरणों से प्रकाशित इस रथ को जितेन्द्रियता द्वारा वज्रतुल्य बनाएँ और सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मित्रस्य गर्भः

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥५४॥

१. गतमन्त्र का यह शरीररूप रथ **इन्द्रस्य वज्रः**=इन्द्र का वज्र है, अर्थात् जितेन्द्रिय

पुरुष का यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ होता है। २. यह शरीर **मरुताम्**=प्राणों की **अनीकम्**=तेजस्विता व दीप्तिवाला (splendour, brilliance) है, अर्थात् जहाँ जितेन्द्रियता से यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ता को प्राप्त होता है, वहाँ प्राणसाधना से यह तेज व दीप्तिवाला होता है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष का यह शरीर प्राणसाधना करने पर **मित्रस्य गर्भः**=स्नेह की देवता का गर्भ होता है, अर्थात् स्नेह से परिपूर्ण होता है। ४. **वरुणस्य नाभिः**=द्वेष के निवारण की देवता का केन्द्र व बन्धन-(नह बन्धने)-वाला होता है। इस इन्द्र के शरीर में द्वेष के लिए स्थान नहीं रहता। यहाँ प्रेम-ही-प्रेम होता है। ५. हे **देवरथ**=इन्द्र, मरुत्, मित्र व वरुण आदि देवों के निवासस्थान बने हुए रथ! **सः**=वह तू **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम् जुषाणः**=यज्ञशेष के रूप में दिये गये भोजन को सेवन करता हुआ **प्रति**=प्रतिदिन **हव्या**=हवियों को ही **गृभाय**=ग्रहण कर, अर्थात् तू सदा हवि का सेवन करनेवाला बन। वस्तुतः देवता हविर्भुक् हैं, हवि के सेवन से ही हममें देवों की व दिव्य गुणों की वृद्धि होगी।

भावार्थ—हम हवि के सेवन से, यज्ञशेष के भोजन से, अपने में शरीर की दृढ़ता, प्राणों की तेजस्विता, स्नेहभाव व द्वेष-निवारण को स्थिर करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दुन्दुभि

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।

स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ऽअप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥५५॥

१. हे **दुन्दुभे**=दुन्दुशब्द से शत्रुओं को भयभीत करनेवाली दुन्दुभे! तू **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **उपश्वासय**=गुञ्जित कर दे (उपशब्दय—उ०)। २. **पुरुत्रा**=बहुत-से स्थानों पर अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर **विष्ठितम्**=विशेषरूप से स्थित हुआ-हुआ यह **जगत्**=सारा लोक **ते मनुताम्**=तुझे जाने, तेरा विचार करे। 'इतना आयत, दीर्घ व भयंकर शब्द कहाँ से हुआ' ऐसा सब लोग सोचने लगें। ३. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले राजा के **सजूः**=साथ तथा **देवैः**=युद्धक्रीडा के सञ्चालक अन्य सेनापतियों के साथ **शत्रून्**=शत्रुओं को **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **अपसेध**=भागा दे, रोक दे। तेरे शब्द को सुनकर शत्रु आगे बढ़ने का उत्साह ही न कर सके। तेरा शब्द उनके हृदयों को दहला दे।

भावार्थ—जब हम धर्म्य संग्राम में अवतीर्ण होते हैं, तब हमारा युद्ध के लिए किया गया आह्वान का शब्द शत्रु को भयभीत करनेवाला हो। हमारी दुन्दुभि के शब्द को सुनकर शत्रु भाग खड़े हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वादयितारो वीराः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

परायों को रुलाना—अपने को सबल बनाना

आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॑ न॒ऽआधा॒ निष्ट॑निहि दु॒रिता बाध॑मानः।

अप॑ प्रोथ दुन्दुभे दु॒च्छुना॑ऽइ॒तऽइन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व ॥५६॥

१. हे दुन्दुभे! तू **बलम्**=शत्रुसैन्य को **आक्रन्दय**=रुला दे। 'मेरा भाई मारा गया, मेरे पिता चले गये' इस प्रकार रोती हुई शत्रुसेना भाग खड़ी हो। २. तू **नः**=हममें **ओजः आधाः**=ओजस्विता का आधान कर। तेरा नाम ही 'आनक' है, आनयति सोत्साहान् करोति=यह शब्द वीरों को आनन्दित करता है, वे अधिक उत्साहयुक्त होकर युद्ध के लिए

आगे बढ़ते हैं। ३. **दुरिता**=दुरितों को, ग़लत चालों को, भाग जाने आदि की अपमानजनक भावनाओं को **बाधमानः**=रोकती हुई तू **निष्टनिहि**=निश्चत विजय के लिए शब्द कर। ४. हे दुन्दुभे! तू **इतः**=यहाँ रणांगण से **दुच्छुनाः**=दुष्ट कुत्ते के समान हमारे शत्रुओं को **अप प्रोथ**=सुदूर नष्ट कर दे। 'दुच्छुना' शब्द का अर्थ 'दुष्ट सुखों में फँसे हुए लोगों को' ऐसा होगा। इन लोगों को यह युद्ध का डिण्डिमशब्द दूर भगा दे। ५. हे **दुन्दुभे**! तू तो **इन्द्रस्य**=इस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा व सेनापति की **मुष्टिरसि**=मुष्टि है। जैसे मुष्टि से प्रहार करते हैं, इसी प्रकार दुन्दुभि का शब्द भी शत्रु पर प्रबल प्रहार करता है, अतः, हे दुन्दुभे! **वीडयस्व**=तू हमारे सैनिकों को दृढ़ बनानेवाली हो अथवा वीरतायुक्त कर्म कर।

भावार्थ—दुन्दुभि का शब्द जहाँ शत्रु को भयभीत करता है, वहाँ अपने सैनिकों को उत्साहयुक्त करता है। इसके शब्द से शत्रु-सैन्य कुत्तों की भाँति भाग खड़ा हो।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वादयितारो वीराः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

विजय

आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु॥५७॥

१. **केतुमत्**=विजय-पताकावाली अथवा (केतु=प्रज्ञा) विजय की प्रकाशक, विजय की सूचना देनेवाली **दुन्दुभिः**=भेरी **वावदीति**=अतिशयेन बजे। २. इस दुन्दुभि के द्वारा **अमूः**=इन शत्रुसेनाओं को तू **आ अज**=चारों ओर से विक्षिप्त करनेवाला हो। शत्रुसेनाएँ, भय से भाग खड़ी हों। **इमाः** =इन शत्रुसेनाओं को **प्रत्यावर्त्तय**=तू वापस लौटा दे। अथवा इन विजय करनेवाली अपनी सेनाओं को अब वापस लौटा ला। ३. **नः**=हमारे **अश्वपर्णाः नरः**=घोड़े के समान वेगवाले अथवा घोड़ों से इधर-उधर जानेवाले सेनानायक **संचरन्ति**=युद्धभूमि में सम्यक्तया, अव्याकुलता से विचरण करते हैं। ४. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले सेनापते! तू इस प्रकार उत्तमता से सेना का सञ्चालन कर कि **अस्माकम्**=हमारे **रथिनः**=रथी लोग **जयन्तु**=विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी रणभेरी विजयसूचक होकर बज उठे, शत्रुसेनाएँ भाग खड़ी हों, हमारी सेनाएँ व घुड़सवार सैनिक अव्याकुलता से रणांगाण में गति करें और हमारे रथी विजयी बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

पशु व देवता

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेवऽऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माषऽऐन्द्राग्नः सꣳहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्णऽएकशितिपात्पेत्वः॥५८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विजयी राष्ट्र में राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभाग भिन्न-भिन्न पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ, इस बात का संकेत करते हुए कहते हैं कि **कृष्णाग्रीवः**=काले गलेवाला पशु **आग्नेयः**=अग्नि देवतावाला, अर्थात् अग्नि के उत्तम गुणों से युक्त है, अतः अग्निनामक राष्ट्र का अग्रणी पुरुष कृष्णग्रीव पशु को अपना सूचक चिह्न बनाये। २. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुणोंवाली है। सरस्वती देवता का सूचक चिह्न 'मेषी' को बनाया जाए। आजकल भेड़ मूर्खता का प्रतीक समझी जाती है, परन्तु इस वेदवाक्य में वह

ज्ञान का प्रतीक होने योग्य समझी गई है। ३. **बभ्रुः**=पिङ्गल वर्णवाला पशु (धुमेला पशु–द०) **सौम्यः**=चन्द्रमा के गुणोंवाला है, सोम देवतावाला है। ४. **श्यामः**=श्याम रंग से युक्त पशु **पौष्णः**=पुष्टि आदि गुणोंवाला है, पूषा देवता से सम्बद्ध है, पूषा के गुणधर्मों से युक्त है। गौवों में काली गौ सम्पन्न क्षीरतमा मानी जाती है। ५. **शितिपृष्ठः**=श्याम पृष्ठवाला पशु **बार्हस्पत्यः**=बृहस्पति देवतावाला है, बृहस्पति के गुणधर्मों से युक्त है। ६. **शिल्पः**=विचित्र वर्णवाला पशु **वैश्वदेवः**=विश्वदेवे देवतावाला है, सब विद्वानों के गुणोंवाला है। इसके अनेक रंग विद्वान् की अनेक विद्याओं को संकेतित करते हैं। विद्वान् को भी विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला 'कल्माषग्रीव' होना ही चाहिए versatile। ७. **अरुणः**=लाल वर्णवाला **ऐन्द्रः**=इन्द्र देवतावाला है, सूर्य के गुणोंवाला है। ८. **कल्माषः**=खाखी वर्णयुक्त पशु **मारुतः**=वायुदेवता-सम्बन्धी है, अध्यात्म में इसका सम्बन्ध प्राणों से है। यह प्राण शरीर में अनेक चित्र (अद्भुत) कार्य करते हैं। ९. **संहितः**=दृढ़ अङ्गोंवाला पशु **ऐन्द्राग्नः**=इन्द्र व अग्नि देवतावाला है। इन्द्र व अग्नि का प्रतीक है, राष्ट्र में इन्द्र=सेनापति च अग्नि=सभापति दोनों को ही बड़े दृढ़ अङ्गोंवाला होना चाहिए। १०. **अधोरामः**=निचले प्रदेश में श्वेत वर्णवाला पशु **सावित्रः**=सवितृ देवतावाला है। जैसे सूर्य यहाँ अधः प्रदेश में भूमण्डल पर प्रकाश फैला देता है, उसी प्रकार राष्ट्र में सविता नामक शिक्षा-सचिव ने राष्ट्र में शिक्षा के विस्तार का ध्यान करना है। ११. **एकशितिपत्**=एक पाँव जिसका सफ़ेद है और **पेत्वः**=बड़ा वेगवान्, पतनशील पशु है, वह **वारुणः**=वरुणदेवता से सम्बद्ध है। वरुण के पाश **'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**, अनृतवादी को जहाँ बाँधते हैं वहाँ सत्यवादी को मुक्त करते हैं। एवं, एक पाँव काला है तो दूसरा सफ़ेद। एक सफेद पाँववाला व दूसरा कृष्ण पाँववाला पशु यही संकेत कर रहा है।

भावार्थ—राष्ट्र में समुचित प्रेरणा (व्यवस्था) के लिए सब अधिकारी अपने देवताओं के गुणधर्मोंवाले पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवगुणधर्मयुक्त पशु

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माषऽआग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः॥५९॥

१. **रोहिताञ्जिः**=(रोहितोऽञ्जिस्तिलको यस्य) लाल तिलकवाला **अनड्वान्**=वृषभ **अनीकवते**=सेनावाले, अर्थात् सेना के सञ्चालन करनेवाले **अग्नये**=अग्रेणी सेनापति के लिए है, अर्थात् रोहिताञ्जि अनड्वान् सेनापति का सूचक चिह्न है। २.**अधोरामौ**=निचले भाग में श्वेत दो पशु **सावित्रौ** =सविता के गुणधर्मवाले हैं, अर्थात् श्वेत अधोभागवाले दो पशु (श्वेत=शुक्र=शुक्ल) **सावित्रौ**=पति-पत्नी के प्रतीक हैं, जो अधोभाग में वर्त्तमान इन्द्रियों से रमण करते हुए सन्तान को जन्म देते हैं। ३. **रजतनाभी**=रजत के समान नाभिवाले दो पशु **पौष्णौ**=पूषा देवता के गुणधर्मोंवाले हैं। प्रजाओं का पालन-पोषण करनेवाले धनी स्त्री-पुरुषों के ये पशु प्रतीक हैं, ये धनी स्त्री-पुरुष भी रजत व धन से सभी को अपने साथ बाँधे रहते हैं (नह बन्धने)। ४. **पिशङ्गौ**=पिङ्गल वर्णवाले **तूपरौ**=निःशृंग दो पशु **वैश्वदेवौ**=विश्वदेव देवतावाले हैं। सब देवता तेजस्विता के कारण सुवर्ण के समान पीत वर्णवाले होते हैं और हिंसा न करने से मानो निःशृंग हैं या गर्व न करने से इनके सींग

नहीं निकले हुए। ५. **कल्माषः**=खाखी वर्णवाला पशु **मारुतः**=मरुतों के गुण धर्मवाला है। मरुत=प्राण हैं, ये शरीर में विविध कार्यों को करते हुए कल्माष व चित्र-विचित्र वर्णवाले हैं। योग में प्राणों के विविध रंग माने गये हैं। ६. **कृष्णाः अजः**=कृष्णवर्ण का अज **आग्नेयः**=अग्नि के गुणधर्मवाला है। 'अग्नि' गर्म है इस कृष्ण अज से प्राप्त पशम भी बड़ी गरम होती है। अथवा अग्नि सेनापति है वह कृष्ण वर्णवाले बारूद से शस्त्रों के प्रक्षेपण (अज=क्षेपण) द्वारा शत्रुओं को दूर भगाता है, अतः उसका प्रतीक 'कृष्ण अज' रक्खा गया है। ७. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुण-धर्मवाली है। सरस्वती के उपासक भेड़ की भाँति ही नतमस्तक=विनीत रहते हैं और मस्तक व ज्ञान के द्वारा ही टक्कर लेते हैं। ८. **पेत्वः**=वेगवान् पशु **वारुणः**=वरुण देवतावाला है। वेगवान् पशु की भाँति वरुण भी अपने शत्रु-बाधनादि कार्यों में वेगवाला होता है।

भावार्थ—पशुओं के गुणधर्मों को समझकर हम अपने प्रतीकभूत पशु के चिह्न से प्रेरणा लेनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**[क], **प्रकृतिः**[र]। स्वरः—**धैवतः**।

बृहस्पति-शाक्वर

[क]**अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपालऽइन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविꣳशाभ्यां [र]वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सवित्रऽऔष्णिहाय त्रयस्त्रिꣳशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्याऽअष्टाकपालः॥६०॥**

१. याज्ञिक परिभाषा में आठ कपालों (पात्रों) में संस्कृत हवि को 'अष्टाकपाल' कहते हैं। यहाँ याज्ञिक परिभाषा का ही प्रयोग करते हुए कहते हैं कि **अग्नये**=आगे बढ़ने के स्वभाववाले, **गायत्राय**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा करनेवाले, **त्रिवृते**=(त्रिषु वर्तते) धर्मार्थकाम तीनों में समानुपात से वर्तनेवाले और अतएव **राथन्तराय**=इस शरीररूप रथ से तैर जानेवाले के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत की गई हवि होती है। ये आठ कपाल गीता के **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'** इस श्लोक में स्पष्ट हैं। पञ्चमहाभूतों से यह स्थूलशरीर बना है और फिर मन, बुद्धि, अहंकार से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है। इन स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में संस्कृत हवि का अभिप्राय यह है कि इनकी शक्तियों का ठीक से परिपाक किया जाए। इन सबके सशक्त होने पर ही मनुष्य संसार-समुद्र को इस शरीररूप रथ से पार कर जाता है। २. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **त्रैष्टुभाय**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को रोकनेवाले, **पञ्चदशाय**=पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाले, **बार्हताय**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर वृद्धिशील व्यक्ति के लिए **एकादशकपालः**=ग्यारह कपालों में संस्कृत की गई हवि चाहिए। 'पुरमेकादशद्वारम्' में ग्यारह इन्द्रियद्वारों का उल्लेख है। इन ग्यारह इन्द्रियद्वारों की शक्ति का विकास करना ही एकादशकपालों में हवि का परिपाक है। ३. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले, **जागतेभ्यः**=जगती के हित में प्रवृत्त, **सप्तदशेभ्यः**=पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय व मन और बुद्धि इन १७

को ठीक रखनेवाले **वैरूपेभ्य:**=विशिष्ट रूपवालों के लिए सबमें असामान्य रूप से दिखनेवालों के लिए **द्वादशकपाल:**=बारह कपालों में संस्कृत हवि होनी चाहिए। दस इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि की शक्ति का विकास ही बारह कपालों में हवि का परिपाक है। ४. **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह व द्वेष-निवारण को धारण करनेवाले, **अनुष्टुभाभ्याम्**=प्रत्येक कार्य के साथ प्रभु-स्मरण करनेवाले (अनु+स्टुभम्) **एकविंशाभ्याम्**='ये त्रिषप्त' मन्त्र में वर्णित शरीर की २१ शक्तियों का धारण करनेवाले और अतएव **वैराजाभ्याम्**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले अथवा नियमित (regulated) जीवनवालों के लिए **पयस्या**=(पायस शृत:) दूध में परिपक्व चरु होना चाहिए, अर्थात् इन्हें यथासम्भव दूध व दूध में संस्कृत वस्तुओं पर ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ५. **बृहस्पतये**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बननेवाले, **पाङ्क्ताय**=पंक्तिछन्द से स्तुत, अर्थात् पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को सुन्दर बनाने की प्रबल इच्छावाले, **त्रिणवाय**=धर्मार्थकाम तीनों में गतिवाले (नव् गतौ) अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों जिसके स्तुत्य हैं उस त्रिणव, अतएव **शाक्वराय**=शक्तिशाली के लिए **चरु:**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए, अर्थात् यह उन्हीं हविर्द्रव्यों का भोजन में प्रयोग करे जिनका यज्ञ के लिए परिपचन होता है। एवं, यज्ञिय पदार्थों को सेवन करता हुआ ही यह शक्तिशाली बनता है। मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह बृहस्पति है तो शरीर के दृष्टिकोण से 'शाक्वर'। ६. **सवित्रे**=निर्माण के कार्य करनेवाले **औष्णिहाय**=उत्कृष्ट स्नेहवाले, **त्रयस्त्रिंशाय**=तेतीस देवों का निवास स्थान बननेवाले, **रैवताय**=उत्कृष्ट ज्ञानधनवाले के लिए **द्वादशकपाल:**=बारह कपालों में संस्कृत होनेवाला, अर्थात् इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति के विकासवाला इष्ट है। ७. **प्राजापत्य:**=प्रजापति के लिए हितकर, अर्थात् जो हमारी वृत्ति को प्रजारक्षणवाला बनाता है, वह **चरु:**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए। यह व्यक्ति भी इन यज्ञिय भोजनों को करता हुआ ही तो ऐसा बन सकेगा। ८. **अदित्यै**=न खण्डन करनेवाली **विष्णुपत्न्यै**=लक्ष्मी के लिए **चरु:**=वानस्पतिक यज्ञिय भोजन ही इष्ट है। ऐसे भोजनों को करते हुए ही हम लक्ष्मी की आराधना करते हुए भी उसमें आसक्त न होने से स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनोवृत्तिवाले बने रहेंगे। ९. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील के लिए **द्वादशकपाल:**=बारह कपालों में संस्कृत हवि चाहिए, अर्थात् वैश्वानर अग्नि बनने के लिए हमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति का विकास करना चाहिए। १०. अन्त में **अनुमत्या (त्यै)**=अनुमति के लिए **अष्टाकपाल:**=आठ कपालों में संस्कृत हवि अभिष्ट है। हम लोक में अनुकूल गति से ही चलें, हमारी गति शास्त्रविरुद्ध मार्ग पर जानेवाली न हो, इसके लिए हम पंचभूतों व मन, बुद्धि, अंहकार सभी को ठीक रखने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—इस संसार में जीवन को सुन्दर बनाने के लिए पंचभूतों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अंहकार—इन सबका ठीक परिपाक होना चाहिए। साथ ही हम सदा यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करें।

सूचना—इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय की समाप्ति जीवन को यज्ञिय बनाने के उपदेश से हुई है। अब अगले अध्याय का प्रारम्भ इस यज्ञिय भावना को जागरित करने की प्रार्थना से ही करते हैं।

इत्येकोनत्रिंशोऽध्याय:॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविताः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञान+वाङ्माधुर्य

देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ १॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा **सवितः**=सकल जगदुत्पादक तथा सब प्रेरणाओं के देनेवाले प्रभो! **यज्ञम् प्रसुव**=हमें यज्ञ की प्रेरणा दीजिए। प्रेरणा देने का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब वे गुण स्वयं हममें हों। इसी दृष्टिकोण से यहाँ 'देव सवितः' इस क्रम से शब्दों का प्रयोग है। प्रभु स्वयं दिव्य गुणोंवाले हैं, दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, वे हृदयस्थरूपेण जीव को प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। प्रभु स्वयं सृष्टिरूप महान् यज्ञ करनेवाले हैं, वे प्रभु हमें भी यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. हे प्रभो! **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के पति, यज्ञों के रक्षक मुझे **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **प्रसुव**=प्रेरित कीजिए, अर्थात् मुझे ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। मैं यज्ञशील बनकर ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. हे प्रभो! आप **दिव्यः**=सदा प्रकाश में निवास करनेवाले हैं, **गन्धर्वः**=(गां धरति) वेदवाणी का धारण करनेवाले हैं, **केतपूः**=हमारे ज्ञानों को पवित्र करनेवाले हैं। आपकी कृपा से आपका उपासक 'दिव्य, गन्धर्व, केतपूः' विद्वान् **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। हमें प्रकाश में निवास करनेवाले, वेदवाणी के धारक, ज्ञान को पवित्र करनेवाले आचार्य प्राप्त हों, उनके सम्पर्क से हमारा ज्ञान चमक उठे। ४. **वाचस्पतिः**=सब वाणियों का स्वामी व रक्षक प्रभु **नः**=हमारी **वाचम्**=वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बनाए। हमारी वाणी में माधुर्य हो,। ५. ज्ञानी व मधुर वाणीवाले बनकर हम यज्ञियवृत्ति से अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त हों और दुःखी मनुष्य-समूह का कल्याण करते हुए प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'नारायण' बनें, नरसमूह के शरणस्थान।

भावार्थ—प्रभु हमें यज्ञ की प्रेरणा दें। यज्ञपति बनकर हम ऐश्वर्यशाली हों। प्रभु हमारे ज्ञान को पवित्र करें और वाणी को माधुर्य से भर दें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविताः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वरेण्य भर्ग

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'यज्ञ+ज्ञान+व वाङ्माधुर्य' को अपनाकर हम अपने जीवन को इस प्रकार उच्च बनाएँ कि हम प्रभु के तेज को धारण करनेवाले बनें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट यज्ञादि की प्रेरणा प्राप्त कराए **तत्सवितुः**=(स चासौ सविता च) उस सर्वव्यापक (तन् विस्तारे) सकल जगदुत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **वरेण्यम्**=वरने योग्य **भर्गः**=(भ्रस्ज पाके) पापों को भून डालनेवाले तेज को **धीमहि**=हम धारण करें। २. उसी तेज की शक्ति को हम

अपना लक्ष्य बनाएँ। यह लक्ष्य ही हमारी पापवृत्तियों को समाप्त करेगा। इस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए हम बुराइयों से बचे रहेंगे। ३. हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे ही रहे हैं। 'उस प्रभु के समान मुझे भी तेजस्वी बनना है', यही सर्वमहान् लक्ष्य है। लक्ष्य की ऊँचाई के अनुपात में ही हमारी उन्नति होती है। ऊँचे लक्ष्य से हम बुरइयों में फँसने से बचते हैं और प्रभु-जैसे बनते चलते हैं। प्रभु 'ब्रह्म' हैं, हम 'ब्रह्म इव' हो जाते हैं। लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि-सा देदीप्यमान हो उठता है।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु का ध्यान करें, प्रभु की तेजस्विता हमारे लिए वरेण्य हो। यह लक्ष्य हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएगा।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दुरित-दूरीकरण

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रन्तन्न॒ऽआ सु॑व ॥ ३॥

१. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **विश्वानि**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **दुरितानि**=बुराइयों को **परासुव**=हमसे दूर कर दीजिए। २. बुराइयों को दूर करके **यत् भद्रम्**=जो शुभ है, कल्याणकर है **तत्**=उसे **नः**=हमें **आसुव**=सर्वथा प्राप्त कराइए। ३. हमारे जीवन का कार्यक्रम यही हो कि हम दुरितों को दूर करते चलें और भद्र बातों को ग्रहण करते जाएँ। यही उत्तम बनने का मार्ग है, यही आपके समीप पहुँचने का साधन है। यही वास्तविक उपासना है। ४. यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध में '**नः**' का प्रयोग नहीं, पर उत्तरार्ध में **नः** का प्रयोग है। दोष-दूरीकरण में दूसरों के दोषों को हमें देखना ही नहीं चाहिए, परन्तु कल्याण-प्राप्ति की प्रार्थना सभी के लिए करनी चाहिए, इसीलिए उत्तरार्ध में 'नः' शब्द का सौन्दर्य स्पष्ट है। ५. वस्तुतः हम दोषों को दूर करके व भद्र का संग्रह करके ही मन्त्र के ऋषि 'नारायण' बनने की तैयारी करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों और हमें भद्र की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वसु-विभाग (Distribution of Wealth)

वि॒भ॒क्तार॑ꣳ हवामहे॒ वसो॑श्चि॒त्रस्य॒ राध॑सः। स॒वि॒तारं॑ नृ॒चक्ष॑सम् ॥ ४॥

१. गतमन्त्र में प्रार्थित दुरितों को दूर करने व भद्र के प्रापण का प्रकार यह है कि प्रभु धन का विभाग करते हैं। उस धन के केन्द्रित होने पर ही दोष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य भी नासमझी व स्वार्थपरता के कारण धन पर केन्द्रित होने लगता है और सारा सामाजिक शरीर अस्वस्थ हो जाता है। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि हम **वसोः**=निवास के लिए आवश्यक धन के **विभक्तारम्**=विभागपूर्वक देनेवाले प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे हममें सदा उचित धन-विभाग की व्यवस्था किये रक्खें। हमारे राष्ट्र के राजा आदि को प्रभु की ऐसी प्रेरणा मिले कि वे प्रजा में धन को कहीं केन्द्रित न होने दें। ३. यह धन जहाँ (क) **वसु**=निवास के लिए आवश्यक साधनों का प्रापक है, वहाँ (ख) **चित्रस्य**=(चित् र) यह ज्ञान देनेवाला है, इसके द्वारा हम ज्ञानवर्धक ग्रन्थों का संग्रह कर पाते हैं। इस धन को हम सदा साधन के रूप में देखते हैं। यह साध्य बनकर हमें अभिभूत करके उल्लू नहीं बना देता। साथ ही (ग) **राधसः**=(राध संसिद्धौ) यह धन हमारे कार्यों का साधक है। यह धन कार्यों में सफलता प्राप्त करानेवाला है। यह स्पष्ट है

कि इतना ही धन ठीक है जो 'वसु+चित्र व राधस्' है। ३. हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक हैं, वस्तुतः हमें भी उत्पादन करके ही धनार्जन करना चाहिए। ५. **नृचक्षसम्**=वे प्रभु सब मनुष्यों को देखनेवाले हैं (चक्ष्=To look after) हम भी सभी को देखनेवाले बनें, सभी का ध्यान करें। जब हम स्वार्थी बन जाते हैं तभी धन के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्रभु धन का विभाग करते हैं। यदि धन एक स्थान पर केन्द्रित होने लगता है तो दुरितों की वृद्धि हो जाती है, अतः 'मेधातिथि' समझदारी से चलनेवाला, धन को केन्द्रित नहीं होने देता।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान के लिए ब्राह्मण को

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽ अयोगूं कामाय पुँश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार राष्ट्र-शरीर के स्वास्थ्य के लिए धन का विभाग व विकेन्द्रियकरण आवश्यक है। राजा को राष्ट्र की उचित व्यवस्था के लिए यह धन-विभाग करना ही चाहिए। कर व्यवस्था भी इस प्रकार से हो कि धन केन्द्रित न हो पाये। प्रसंगवश अब यह भी कहते हैं कि राष्ट्र में राजा किस-किस कार्य के लिए किस-किस व्यक्ति को नियत करे। २. **ब्रह्मणे**=ज्ञान के प्रचार के लिए **ब्राह्मणम्**=वेद व ईश्वर के वेत्ता ज्ञानी पुरुष को **आलभते**=नियत करे। ज्ञान ज्ञानी ही तो फैलाएगा। 'आलभते' क्रिया २२वें मन्त्र में आई है। वही क्रिया सर्वत्र उपयुक्त होगी। २. **क्षत्राय राजन्यम्**=लोगों को व राष्ट्र को क्षतों से बचाने के लिए क्षत्रिय को प्राप्त करे। राष्ट्र की रक्षा क्षत्रियों से ही होगी। क्षत्रियों के अभाव में राष्ट्र शत्रुओं से आक्रान्त होकर पराधीन हो जाएगा। ३. **मरुद्भ्यः**=सब मान्य मनुष्यमात्र के लिए **वैश्यम्**=वैश्य को प्राप्त करे। जहाँ मनुष्यों की बस्ती बसानी है वहाँ वैश्यों के लिए मण्डी भी बनानी है। मनुष्यों के दैनन्दिन जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को ये ही प्राप्त कराएँगे। ४. **तपसे शूद्रम्**=तप के लिए, अर्थात् कष्ट व श्रम के लिए शूद्र को प्राप्त करे। **शूद्र**=शु द्रवति=यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है, शु उन्दति=शीघ्र पसीने से गीला होनेवाला होता है। यह ज्ञान, बल व धन-प्राप्ति की योग्यता के अभाव में श्रम से ही राष्ट्र की उपयोगी सेवा करता है। शरीर में जो पाँव का स्थान है, राष्ट्र-शरीर में वही स्थान शूद्र का है। राष्ट्र के सब बड़े-बड़े भवन इन्हीं के श्रम पर आश्रित होते हैं। ५. **तमसे**=अन्धकार में काम करने के लिए **तस्करम्**=चोर को नियत करे। 'तत् करोतीति तस्करः'=अन्धकार में कार्य करने में समर्थ पुरुष को नियत करे। ६. **नारकाय वीरहणम्**=(नारम् नरसमूहं कायति) शत्रुओं के नरसमूहों को रुलाने के लिए वीरों को नियत करे, जो शत्रुपक्ष से आनेवाले व्यक्तियों को तीरों की मार से समाप्त कर दें। **पाप्मने क्लीबम्**=पाप के लिए नपुंसक को प्राप्त करे। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं—(क) पाप के लिए नपुंसक-सा हो जाए, अर्थात् पाप कर ही न सके अथवा (ख) नपुंसक ही पाप करेगा, वीर पाप को अपनी शोभा के विपरीत समझेगा' ८. **आक्रयाय अयोगूम्**=सब प्रकार के पदार्थों के क्रय-विक्रय के लिए खूब परिश्रमी पुरुष को नियत करे। 'अयोगू' शब्द का अर्थ 'लोहार' है। यह भरपूर श्रम का प्रतीक है। इधर-उधर की भागदौड़ से न थकनेवाला पुरुष ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है। ९. **कामाय पुँश्चलूम्**=इच्छाशक्ति को बलवान् बनाने के लिए

मनुष्यों में हलचल उत्पन्न करनेवाले को प्राप्त करे। १०. **अतिक्रुष्टाय मागधम्**=महान् वक्तृत्व के लिए मागध–स्तुतिपाठक को प्राप्त करे, भाटों को अत्युक्तिपूर्ण कथनों के उपयुक्त जाने। किसी की निन्दा करनी हो तो मागध को नियुक्त करे, ये लोग प्रशंसा करते हुए प्रतीत होते हैं और इष्टनिन्दा को पूर्ण सफलता के साथ कर सकते हैं।

भावार्थ–राजा को चाहिए कि राष्ट्र के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उपयुक्ततम व्यक्ति को नियत करे।

ऋषिः–**नारायणः**। देवता–**सविता**। छन्दः–**निचृदष्टिः**। स्वरः–**गान्धारः**।

नृत्य के लिए सूत को

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभꣳहसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम्॥ ६॥

११. **नृत्ताय सूतम्**=नृत्य के लिए–इशारों से नृत्य की प्रेरणा देनेवाले को प्राप्त करे। १२. **गीताय शैलूषम्**=सम्मिलित गायन के लिए शैलूष (One who beats tune at a concert) को–करताल बजानेवाले को रक्खो। १३. **धर्माय**=राष्ट्र के कानून के लिए **सभाचरम्**=धर्मसभा के सभासद् (Assembly's member) को प्राप्त करो। १४. **नरिष्ठायै भीमलम्**=(नरि–ष्ठा) नेतृत्व के पद पर स्थिति के लिए भीतिप्रद, ओजस्वी, रोबवाले पुरुष को नियत करे। १५. **नर्माय रेभम्**=परिहास आदि की क्रीड़ा के लिए स्तोता को अथवा बोलने में चतुर वाचाट पुरुष को प्राप्त करे। १६. **हसाय कारिम्**=हँसी-मखौल के लिए नकल उतारनेवाले को प्राप्त करे। १७. **आनन्दाय**=आनन्द प्राप्ति के लिए **स्त्रीषखम्**=पत्नी की मित्रता को प्राप्त करे। वस्तुतः सारा गृहसुख पत्नी के साथ समान विचारवाला होने में ही है। १८. **प्रमदे कुमारीपुत्रम्**=कुमारी के पुत्र को प्रमादयुक्त कार्यों के लिए जाने। जिस प्रकार कुमारी से प्रमादवश वह सन्तान हो गई, अतः उस सन्तान में भी वही प्रमाददोष उत्पन्न हो जाएगा। ऐसा सन्तान प्रायः प्रमादयुक्त कार्यों को करनेवाला होगा। १९. **मेधायै रथकारम्**=मेधा के लिए रथकार को प्राप्त करे। जैसे एक रथकार भिन्न-भिन्न रथांगों को कुशलता से संगत करके रथ का निर्माण करता है उसी प्रकार उसका अनुसरण करता हुआ पुरुष अपनी मेधा को बढ़ानेवाला होता है। रथ आदि के निर्माण में बुद्धिकौशल व्यक्त होता है। २०. **धैर्याय**=धैर्य के लिए **तक्षाणम्**=तरखान को प्राप्त करे। 'किस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चित्रकारी व कारीगरी के कार्यों को यह तक्षा धैर्यपूर्वक करता चलता है', इस कर्म को देखकर दूसरा मनुष्य भी धैर्य से काम करने का पाठ पढ़ता है। मुझे एक बढ़ई की भाँति धैर्यवाला (As patient as a carpenter) बनना है' ऐसा हमें निश्चय करना चाहिए।

भावार्थ–राजा राष्ट्र में नृत्य आदि कार्यों के लिए सूत आदि को नियुक्त करे।

ऋषिः–**नारायणः**। देवता–**विद्वांसः**। छन्दः–**निचृदष्टिः**। स्वरः–**गान्धारः**।

तप के लिए कौलाल को

तपसे कौलालं मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳशरव्यायाऽइषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम्॥ ७॥

२१. **तपसे कौलालम्**=तपनेवाले कार्यों के लिए कुम्हार के पुत्र को प्राप्त करे। वह सदा भट्टी के तपाने से उन कार्यों के लिए अधिक अभ्यस्त होता है। ऋत, सत्य आदि उत्तम तप के लिए कुलीन पुरुष को संयुक्त करे, यह कुल में कलह होने के भय से तप

को न छोड़ेगा। २२. **मायायै कर्मारम्**=बुद्धि व आश्चर्य (माया) के कार्य करने के लिए लोहार को प्राप्त करे। 'किस प्रकार लोहार लोहे को लेकर उसे अद्भुत यन्त्र में परिवर्तित कर देता है', यह सब जादू-सा प्रतीत होता है। २३. **रूपाय मणिकारम्**=आभूषणादि सुन्दर वस्तु बनाने के लिए मणिकार को प्राप्त करे। २४. (क) **शुभे**=मुखादि की शोभा बढ़ाने के लिए **वपम्**=नाई को प्राप्त करे, नाई बालों को ठीक-ठाक करके 'शुन्धिशिरः' सिर आदि का ठीक शोधन कर देता है। (ख) अथवा **शुभे**=राष्ट्र की शोभा के लिए **वपम्**=बीज को बोनेवाले किसान को प्राप्त करे। वे ही राष्ट्र में अन्नादि की समुचित वृद्धि करके राष्ट्र की शोभा को बढ़ाते हैं। २५. **शरव्यायै इषुकारम्**=शरसमूह को प्राप्त करने के लिए बाण बनानेवाले को प्राप्त करे। २६. **हेत्यै**=दूर फेंकनेवाले अस्त्रों के लिए **धनुष्कारम्**=धनुष बनानेवाले शिल्पी को प्राप्त करे। २७. **कर्मणे ज्याकारम्**=युद्ध के कार्यों के लिए धनुष की डोरी आदि बनानेवाले शिल्पी को प्राप्त करे। २८. **दिष्टाय रज्जुसर्जम्**=आज्ञाओं के पालन कराने के लिए रज्जु का निर्माण करनेवाले को नियत करे। आज्ञा न माननेवालों को बन्धन में डालने के लिए वह सदा तैयार हो। नियमन का भय ही शासन का पालन कराता है। २९. **मृत्यवे मृगयुम्**=दुष्ट प्राणियों के वध के लिए, ग्राम के आतङ्क का कारण बन जानेवाले चीते आदि को मारने के लिए शिकारी को प्राप्त करे। ३०. **अन्तकाय**=दुष्टों का अन्त करने के लिए **श्वनिनम्**=कुत्तों को पालनेवाले शिकारी (Hound) को प्राप्त करे।

भावार्थ—मृगयु, श्वनी आदि को भी राजा राष्ट्र के उपयोगी कार्यों में विनियुक्त करे। उनके द्वारा शेर आदि की हत्या कराके ग्रामवासियों के आतङ्क को दूर करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

नदियों के लिए पौञ्जिष्ठ को

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्यऽउन्मत्तꣳ सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यताया अकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्॥ ८॥

३१. (क) **नदीभ्यः**=नदियों के लिए **पौञ्जिष्ठम्**=मछियारे को प्राप्त करे। नदियों पर मछली आदि के पकड़ने के कार्य को ये ही करेंगे अथवा (ख) नदियों के लिए काष्ठखण्डों के पुञ्जों पर स्थित होकर (बेड़ों=rafts पर) नदियों को पार करानेवालों को प्राप्त करे। नदियों पर ये नाविक यात्रियों को पार करने का कार्य करेंगे। ३२. **ऋक्षीकाभ्यो नैषादम्**=रीछ आदि जंगली, क्रूर पशुओं के लिए निषाद व जंगली-जाति के पुरुषों को प्राप्त करे। वे ही इनके वध आदि की ठीक व्यवस्था रखेंगे। ३३. **पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम्**=पुरुषों में व्याघ्र के समान शूरवीर के लिए, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को नियन्त्रण में रखने के लिए, दुर्दान्त प्रचण्ड वीर को, अदम्य पुरुष को नियत करे, ३४. (क) **गन्धर्वाप्सरोभ्यः**=सुन्दर युवक व युवतियों के लिए, अर्थात् इनके संरक्षण के लिए व अध्ययनाध्यापन के लिए **व्रात्यम्**=(व्रताः मनुष्याः तेषु साधुः) मनुष्यसमूहों में उत्तमता से वर्त्त सकनेवाले को नियत करे। (ख) **गन्धर्व**=किसान (गां धारयति) **अप्सर**=मजदूर (कर्म में चलता है) लोगों में संघों के सञ्चालन में उत्तम पुरुष को नियत करे जो संघ (Union) को ठीक नियन्त्रण में रख सके। ३५. **प्रयुग्भ्यः**=परीक्षणों के लिए, प्रयोगों के लिए (प्रयोजनं प्रयुक्) **उन्मत्तम्**=उन्मत्त को (One who is mad after them) जिसे परीक्षणों की ख़ब्त हो, उसे

नियत करे। दूसरा व्यक्ति तो तनिक-सी असफलता पर परीक्षण को बीच में ही छोड़ देगा। ३६. **सर्पदेवजनेभ्यः**=सर्प, अर्थात् गुप्तचर (अपसर्पः चरः स्पशः) तथा देवजन (दीव्यन्ति व्यवहरन्ति) व्यापारी वर्ग के लिए **अप्रतिपदम्**=जो न जाना जा सके तथा जो अनुत्तम=बहुत अधिक ज्ञानवाला है, उसे नियत करे। गुप्तचर पहचाने न जा सकें और व्यापारी बड़े समझदार हों। ३७. (क) **अक्षेभ्यः**=पासों के लिए **कितवम्**=जुआरी को प्राप्त करें (ख) अथवा उत्तम गतियों के लिए ज्ञानी पुरुषों को नियत करे (कित संज्ञाने, चिकेति) ३८. **ईर्यतायै**=सन्मार्ग पर चलने के लिए **अकितवम्**=न जुआरी अर्थात् श्रमशील कृषक आदि को प्राप्त करे। उल्लिखित दोनों वाक्यों का भाव **'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व'** इन आदेशों में स्पष्ट है, 'जुआ न खेलो, खेती ही करो'। ३९. **पिशाचेभ्यः विदलकारीम्**=रक्त-मांसभोजी मनुष्यों के लिए ऐसे व्यक्ति को नियत करो जो उनमें फूट डाल सके (Split-maker=वि-दल-कारी) ४०. **यातुधानेभ्यः**=चोर-डाकुओं के लिए, प्रजा-पीड़कों के लिए **कण्टकीकारम्**=नोकदार शस्त्रधारी सैनिकों को, सैन्य तैयार करनेवालों को नियत करे। यातुधानों से प्रजारक्षण के लिए कुन्तधारी (Lancers) पुरुषों को नियत करे।

भावार्थ—राजा ने राष्ट्रोन्नति के लिए विविध पुरुषों को विविध कार्यों में लगाना है। मछियारों से लेकर कुन्तधारियों तक सभी की यथास्थान नियुक्ति करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

सन्धि के लिए जार को

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराद्ध्याऽ एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीᳬसंज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं बलायोपदाम् ॥ ९॥

४१. **सन्धये जारम्**=सन्धि के लिए वृद्ध (जीर्ण) पुरुष को प्राप्त करे। ये वृद्ध पुरुष शान्ति से बात कर सकते हैं और इन्हें एक लम्बा अनुभव प्राप्त हो चुका होता है, अतः ये सन्धि के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। ४२. **गेहाय**=घर की रक्षा के लिए **उपपतिम्**=एक उपसंरक्षक (Assistant Guard) को नियुक्त करे। स्वयं तो राजा राजकार्यों में व्यस्त रहेगा न कि घर की ही रक्षा करता रहेगा। ४३. **आर्त्यै**=पीड़ा को दूर करने के लिए **परिवित्तम्**=सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त करनेवाले को प्राप्त करे। सब प्रकार का सच्चा ज्ञान (true information) प्राप्त करके कष्ट के समय पर उसका उपयोग करके लोगों का कष्टों से संरक्षण करना इसका काम होगा। ४४. **निर्ऋत्यै**=भूख, महामारी आदि कष्टों को दूर करने के लिए **परिविविदानम्**=सब ओर से साधनों को प्राप्त करनेवाले को नियुक्त करे। ४५. **अराद्ध्यै**=दरिद्रता को दूर करने के लिए **एदिधिषुः पतिम्**=सबसे प्रमुख, धारण करने योग्य सम्पत्ति के पालक को प्राप्त करे (अग्रे दिधिषति धारयितुमिच्छति) पिछले तीन वाक्यों का अर्थ इस रूप में भी होता है कि बड़े भाई के अविवाहित होते हुए विवाहित होनेवाले छोटे भाई को पीड़ा (परिवित्तम्) के लिए प्राप्त करता है। बड़े भाई की उपेक्षा करके दायभाग लेनेवाले छोटे भाई को (परिविविदानम्) निर्ऋति=महान् कष्ट के लिए जाने। बड़ी कन्या के रहते छोटी के साथ विवाह करनेवाले **एदिधिषुः पतिम्**=व्यक्ति को असमृद्धि के लिए जाने। इसलिए राजा कानून द्वारा इन तीनों स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगाये। ४६. **निष्कृत्यै**=सुधारने के लिए **पेशस्कारीम्**=सौन्दर्य बढ़ाने के साधनों को बनानेवाले को प्राप्त करे। ४७. **संज्ञानाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **स्मरकारीम्**=स्मरण करानेवाली क्रिया को

प्राप्त करे। ४८ **प्रकामोद्याय**=यथेष्ठ बातचीत करने के लिए, जी खोलकर बात करने के लिए **उपसदम्**=निकटतम मित्र को प्राप्त करे। ४९. **वर्णाय अनुरुधम्**=किसी बात को स्वीकार करा देने के लिए उचित ढंग से अनुरोध करनेवाले पुरुष को नियत करे। ५०. **बलाय उपदाम्**=बल की वृद्धि के लिए भेंट व पुरस्कार देनेवाले को प्राप्त करे। पुरस्कार देने से सैनिकों का उत्साह निश्चितरूप से बढ़ेगा।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सन्धि आदि कार्यों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को नियत करे।

नोट—आर्ति का अर्थ पीड़ा के लिए सामान्यत होता है। यहाँ पीड़ा की निवृत्ति के लिए किया गया है। जैसे 'मशकाय धूमः' का अर्थ 'मच्छरों की निवृत्ति के लिए धूँआ' होता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिग्त्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

विनाश कार्यों के लिए

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामꣳ स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षायाऽअभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम्॥ १०॥

५१. **उत्सादेभ्यः**=विनाशकारी कार्यों के लिए **कुब्जम्**=कुबड़े को नियत करे। इन लोगों की बुद्धि निर्माण की अपेक्षा विनाश में अधिक चलती है। कुब्ज का शब्दार्थ है—'कुत्सितं उब्जति'=बुरे ढंग से दबाव (Subdue) में रखता है ५२. **प्रमुदे वामनम्**=विनोदकारी कार्यों के लिए बौने पुरुष को प्राप्त करे। बौने पुरुष को देखकर ही कुछ अजीब-सा प्रतीत होने लगता है। इनमें अपने कद की कमी को प्रतितुलित करने के लिए हास्य आदि की शक्ति अधिक होती है। ५३. **द्वार्भ्यः**=द्वारों की रक्षा के लिए **स्रामम्**=जल से क्लिन्न आँखोंवाले को प्राप्त करे। द्वारपाल के स्थान पर स्राम की नियुक्ति करे न कि स्नेहशून्य आँखोंवाले की। ५४. **स्वप्नाय**=नींद के लिए **अन्धम्**=लोचनहीन को नियुक्त करें, अर्थात् जिस जगह केवल सोने का कार्य हो वहाँ नेत्रहीन पुरुष की नियुक्ति कर दे, चूँकि यह सोने के कार्य को सम्यक् पूर्ण कर सकेगा। ५५. **अधर्माय**=अधर्म के लिए **बधिरम्**=बहिरे को प्राप्त करे। जो बड़ों की प्रेरणा को नहीं सुनता (Turns a deaf ear to them) वह अधर्म के मार्ग की ओर चला ही जाता है। शास्त्रश्रवण करनेवाला व्यक्ति ही धर्म के मार्ग पर चल पाता है। ५६. **पवित्राय भिषजम्** =पवित्रता के लिए वैद्य को नियत करे। इसका कार्य जहाँ सफाई का ध्यान करना होगा, वहाँ बीमारियों को न फैलने देने तथा मानस पवित्रता उत्पन्न करने का भी ध्यान करना होगा। ५७. **प्रज्ञानाय**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **नक्षत्रदर्शम्**=नक्षत्रों का दर्शन करनेवाले को, अर्थात् गणित ज्योतिष के पण्डित को नियुक्त करे। यह उन तारों की गति में भी प्रभु की महिमा को देखता है, इसे तारे प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं। यह इन नक्षत्रों की विद्या का अध्ययन करता हुआ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करता है। ५८. **आशिक्षायै प्रश्निनम्**=सब विषयों का ज्ञान देने के लिए विविध प्रश्न करनेवाले अध्यापक को प्राप्त करे। वस्तुतः इस प्रश्नात्मक शैली (Questioning method) के द्वारा आचार्य विद्यार्थी के अन्दर से ही ज्ञान को बाहर लाने का प्रयत्न करता है। ५९. **उपशिक्षायै**=उपशिक्षा के लिए, अर्थात् Training के लिए **अभिप्रश्निनम्**=नाना प्रकार के प्रश्न पूछनेवाले को नियत करे। उन भावी शिक्षकों को प्रश्न पूछने का प्रकार भी तो सिखाना ही है। ६०. **मर्यादायै**=मर्यादा के लिए **प्रश्नविवाकम्**=न्यायाधीश को नियत करे। यह अपराधियों को उचित दण्ड देते

हुए कुप्रवृत्तियों का दमन करता है और इस प्रकार मर्यादा की स्थापना करता है।

भावार्थ—राजा शिक्षा के प्रसार के लिए ऐसे अध्यापकों को नियत करे जो विद्यार्थियों के ज्ञान को प्रश्नात्मक शैली से निरन्तर बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अर्म के लिए हस्तिप को

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपश्श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम्॥ ११॥

६१. **अर्मेभ्यः**=गन्तव्य प्रदेशों के लिए **हस्तिपम्**=हाथियों के पालनेवाले व महावत को प्राप्त करे। ये हाथी कठिन, दुर्गम व गम्भीर स्थानों में भी हमें प्राप्त करानेवाले होंगे। ६२. **जवाय**=वेग के लिए **अश्वपम्**=अश्वपाल को नियत करे। यह घोड़ों के द्वारा शीघ्रता से स्थानान्तर पर पहुँचानेवाला होगा। ६३ **पुष्ट्यै**=पोषण के लिए **गोपालम्**=गोरक्षकों को नियत करे। ये उत्तम गोदुग्ध प्राप्त कराके हमारा पोषण करेंगे। ६४. **वीर्याय**=वीर्य के लिए **अविपालम्**=अवि (भेड़) के पालनेवाले को नियत करे। भेड़ का दूध 'स्थौल्यमेदहरम्' मोटापे व प्रमेहों (Diabetes) को दूर करनेवाला है। ६५. **तेजसे**=तेजस्विता के लिए **अजपालम्**=बकरियों को पालनेवाले को नियत करे। इन बकरियों का दूध 'सर्वरोगापहम्'=सब रोगों का हरण करनेवाला है, रोगहरण द्वारा यह हमें तेजस्वी बनाता है। ६६. **इरायै**=अन्न की वृद्धि के लिए **कीनाशम्**=किसान को प्राप्त करे। वस्तुतः इन किसानों की स्थिति के ठीक होने पर ही देश की स्थिति का ठीक होना सम्भव है। ६७. (क) **कीलालाय**=पेय पानी के लिए **सुराकारम्**=शुण्डायन्त्र से पानी को वाष्पीभूत करके फिर से द्रवीभूत करनेवाले को नियत करे। डिस्टिल्ड पानी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर है। (ख) **कीलालाय**=अन्न, फल आदि के रस के लिए **सुराकारम्**=रस का अभिषव करनेवाले को नियत करे। ६८. **भद्राय**=कल्याण के लिए **गृहम्**=घरों के रक्षक को (पहरेदारों को) नियत करे। पहरेदारों के होने पर चोरी आदि न होने से प्रजा का भद्र व कल्याण होता है। ६९. **श्रेयसे**=कल्याण के लिए **वित्तधम्**=वित्त के धारण करनेवाले को प्राप्त करे। 'वित्तधम्' वह व्यक्ति है जो धनी है, वित्त का धारण करनेवाला है और औरों के लिए धन को देता हुआ धन के द्वारा उनका धारण करता है। इस व्यक्ति का कल्याण क्यों न होगा? ७०. **आध्यक्ष्याय**=अध्यक्षता के कार्य के लिए **अनुक्षत्तारम्**=कर्मसचिवों Secretaries को नियत करे क्षत्ता Ministers हैं और अनुक्षत्ता Secretaries हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में गोप, अश्वपाल, अविपाल व किसान आदि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**विराट्संकृतिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

भा के लिए दार्वाहार को

भायै दार्वाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्यऽ उपसेक्तारमवऽऋत्यै वधायोपमन्थितारं मेधाय वासः पल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्॥ १२॥

७१. **भायै**=अग्नि के लिए **दार्वाहारम्**=लकड़हारे को प्राप्त करे। घर में अग्नि के लिए मुख्य साधन लकड़ी ही है। कोयला भी लकड़ी से ही तैयार होता है। ७२. **प्रभायै**

अग्न्येधम्=प्रभा के लिए, विशेष प्रकाश के लिए अग्नि को दीप्त करनेवाले को प्राप्त करे। ७३. **ब्रध्नस्य विष्टपाय**=सूर्यलोक के लिए **अभिषेक्तारम्**=ज्ञान-जल में अभिषेक करनेवाले को प्राप्त करे। ७२ में यह कहा था कि प्रकाश के लिए अग्नि को दीप्त करनेवाले को नियत करे, अर्थात् जो अपनी ज्ञानाग्नि से विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है, उस विशेष प्रकाशक को नियत करे। ७३ में कहते हैं कि 'इस ज्ञान-जल में स्नान करनेवाले को सूर्यलोक में जन्म लेनेवाला जाने। ७४. **परिवेष्टारम्**=परोसनेवाले को **वर्षिठाय नाकाय**=सर्वोत्तम स्वर्गलोक के लिए नियुक्त करे, उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य बाँटकर खाना सीखता है। ७५. **देवलोकाय**=देवलोक के लिए **पेशितारम्**=बुराइयों को चूर्णित करनेवाले को प्राप्त करे (पिश=पीसना)। बुराइयों को समाप्त करके सौन्दर्य का निर्माण करनेवाले को जाने (पेशः=सौन्दर्य, shape) ७६. **मनुष्यलोकाय**=मनुष्यलोक के लिए **प्रकरितारम्**=शत्रुओं=असुरों को उखाड़ फेंकनेवाले को अथवा ज्ञानादि का विकरण=फैलाव करनेवाले को प्राप्त करे। इसी प्रकार मनुष्यों की स्थिति ऊँची हो सकती है। ७७. **सर्वेभ्यः लोकेभ्यः**=सब लोगों के कल्याण के लिए **उपसेक्तारम्**=उनमें ज्ञानादि गुणों का उपसेचन करनेवाले को नियुक्त करे। ७८. **अवऋत्यै**=नीचाचरण को रोकने के लिए तथा **वधाय**= वधों को (क़त्लों को) दूर करने के लिए **उपमन्थितारम्**=प्रजाओं का आलोडन करनेवाले को प्राप्त करे, उस अफसर को, जो प्रजाओं में विचरण करता हुआ ऐसे कार्यों को प्रजा में न होने दे। ७९. **मेधाय**=संगम के लिए, अर्थात् सभा-समाजों में लोगों से मिलने-जुलने के लिए **वासःपल्पूलीम्**=कपड़े धोनेवाली को प्राप्त करे, अर्थात् इनसे कपड़ों को धो दिये जाने पर ही तो हम सभा-समाज में जा सकेंगे। मैले कपड़ों से तो मेलजोल सम्भव नहीं। ८०. **प्रकामाय**=उत्कृष्ट, लौकिक आनन्द के लिए **रजयित्रीम्**=रञ्जन करनेवाली को प्राप्त करे, उस स्त्री को प्राप्त करे जो अपने मधुर व्यवहार से अपने पति को रञ्जित करनेवाली होती है।

भावार्थ—उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए त्याग व अशुभवृत्ति-विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

ऋति के लिए स्तेनहृदय को

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्त्यै क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायानुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्याऽअश्वसादꣳ स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्॥ १३॥

८१. **ऋतये**=शत्रु-सैन्य के लिए **स्तेनहृदयम्**=(हृदयस्य स्तेनः) हृदय को चुरा लेनेवाले को, अर्थात् उसके दिल की बात का पता लगानेवाले को (One who can draw out) नियत करे (ऋति=An army)। ८२. **वैरहत्याय**=वैर व हत्या आदि कार्यों के लिए **पिशुनम्**=चुग़लखोर को नियत करे, वह इधर की बातें उधर करके इन कार्यों को सुविधा से कर पाते हैं। ८३. **विविक्त्यै**=किसी कार्य के विवेक के लिए, उसके गुण-दोष के परीक्षण के लिए **क्षत्तारम्**=सुविश्लिष्ट विचारवाले मन्त्री को प्राप्त करे। ८४. **औपद्रष्ट्र्याय**=सब कार्यों के बारीकी से निरीक्षण के लिए **अनुक्षत्तारम्**=कर्मसचिव (Secretary) को नियत करे। ८५. **बलाय**=सेना के लिए **अनुचरम्**=आज्ञानुसार कार्य करनेवाले को नियत करे। सैनिकों का कार्य आज्ञा मानना ही है, इसके औचित्य का विचार करना उनका कार्य नहीं। ८६. **भूम्ने**=बाहुल्य व सुख के लिए **परिष्कन्दम्**=चारों ओर भ्रमण करके दोषों को दूर

करनेवाले अफ्सरों को नियत करे, अथवा सब स्थानों पर भ्रमण करके उचित 'कर' उगाहनेवाले को (स्कन्दयति to collect) नियत करे। ८७. **प्रियाय**=राष्ट्र में प्रेम के वर्धन के लिए **प्रियवादिनम्**=ऐसे अध्यक्षों को नियत करे जा कड़वा नहीं बोलते। ८८. **अरिष्ट्यै**=राष्ट्र की अहिंसा के लिए **अश्वसादम्**=घुड़सवार फ़ौज नियत करे। ८९. **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए **भागदुघम्**=अपने भाग का ही दोहन करनेवाले को प्राप्त करे। राजा को चाहिए कि प्रजाओं में अपने ही भाग के दोहन की प्रवृत्ति को पैदा करे। गौ का दोहन बछड़े का भाग छोड़कर ही करे, राजा भी प्रजा से कर का दोहन उचित भाग के रूप में ही करे। ९०. **वर्षिठाय नाकाय**=सर्वोत्तम स्वर्गलोक के लिए **परिवेष्टारम्**=परोसनेवाले को प्राप्त करे। जो स्वयं सारा नहीं खा जाता, अपितु औरों को परोसकर बचे हुए को खाता है, वह अवश्य सर्वोत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—स्तेनहृदय लोगों का भी राष्ट्र के लिए सुन्दर उपयोग हो सकता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

मन्यु के लिए अयस्ताप को

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय योक्तारः शोकायाभिसर्त्तारं क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं वपुषे मानस्कृतः शीलायाञ्जनीकारीं निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम्॥ १४॥

९१. **मन्यवे**=ज्ञान की वृद्धि के लिए **अयस्तापम्**=धातुओं के सन्तप्त करनेवाले को प्राप्त करे। यह धातुओं को सन्तप्त करके उनको विविध रूपों में ढालनेवाला, जैसे उन धातुओं को सुन्दर रूप प्रदान करता है, इसी प्रकार आचार्य (भृगु) विद्यार्थी को तपस्या की अग्नि में तपाकर उत्तम ज्ञानी का रूप प्राप्त कराता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए तप आवश्यक है, तप के बिना ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं। ९२. **क्रोधाय**=क्रोध को दूर करने के लिए **निसरम्**=(नितरां सर्तारम्—म०) निरन्तर कार्य में लगे रहनेवाले को प्राप्त करे, खाली आदमी को क्रोध आया ही करता है। ९३. **योगाय**=योग के लिए, प्रभु व दिव्यता के साथ सम्पर्क के लिए **योक्तारम्**=प्रतिदिन चित्तवृत्तिनिरोध का अभ्यास करनेवाले को प्राप्त करे, प्रतिदिन ध्यान करनेवाला ही प्रभु को प्राप्त करेगा। ९४. **शोकाय**=(शुच दीप्तौ) दीप्ति के लिए **अभिसर्त्तारम्**=आन्तरिक व बाह्य उन्नति के लिए उद्योग करनेवाले को, अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की साधना करनेवाले को, श्रेय व प्रेय दोनों का आक्रमण करनेवाले को, ज्ञान व योग की व्यवस्थिति करनेवाले को प्राप्त करे। केवल ऐहिक उन्नति से जीवन दीप्त नहीं बनता, ऐहिक उन्नति के साथ पारलौकिक उन्नति का मेल आवश्यक है। ९५. **क्षेमाय**=कल्याण के लिए **विमोक्तारम्**=स्वतन्त्र करनेवाले को प्राप्त करे। 'सर्वं परवशं दुःखम्' परवशता में ही दुःख है। हम काम, क्रोध, लोभ के बन्धन में हैं तो कल्याण सम्भव ही नहीं। इन बन्धनों से अपने को छुड़ाएँगे तभी कल्याण होगा। ९६. **उत्कूलनिकूलेभ्यः**=‘ऊर्ध्वनीचतटेभ्यः’ ऊँचे-नीचे स्थानों के लिए, अर्थात् जीवन के ऊँच-नीच (Up and down) के लिए, ऊँच-नीच में न घबराने के लिए **त्रिष्ठिनम्**=(त्रिषु तिष्ठति) शरीर, मन व बुद्धि तीनों की उन्नति में स्थित होनेवाले को अथवा 'धर्मार्थकाम' तीनों में समरूप से स्थित होनेवाले को अथवा काम, क्रोध व लोभ तीनों को काबू करनेवालों को प्राप्त करे। ऐसा व्यक्ति ही जीवन के ऊँच-नीच में स्थितप्रज्ञ रह पाता है। ९७. **वपुषे**=शरीर के लिए,

शरीर के सौन्दर्य के लिए **मानस्कृतम्**=प्रत्येक वस्तु को मानपूर्वक, माप-तोलकर करनेवाले को प्राप्त करे। 'मात्रा बलम्' शरीर का बल प्रत्येक वस्तु का माप-तोलकर ही प्रयोग करने में है। ९८. **शीलाय**=सुन्दर शील के लिए **अञ्जनीकारीम्**=दृष्टिदोष को दूर करनेवाली को प्राप्त करे। यहाँ स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग पत्नी की महत्ता को व्यक्त कर रहा है। घर में पत्नी एक भाई के दृष्टिकोण को विकृत कर देती है और घर के शील का नाश हो जाता है, बड़ों का आदर व परस्पर प्रेम न रहकर लड़ाई-झगड़े होने लगते हैं। ९९. (क) **निर्ऋत्यै**=आपत्ति के लिए, अर्थात् आपत्ति के समय काम आने के लिए **कोशकारीम्**=कोश बढ़ानेवाली को प्राप्त करे। 'आपदर्थं धनं रक्षेत्' में यही भावना है। (Rainy Days) के लिए कुछ-न-कुछ बचाना' यह नागरिक शास्त्र का सिद्धान्त इसी बात को व्यक्त करता है। (ख) यह भी अर्थ संगत है कि राजा यदि कोशवृद्धि की नीति को अपनाये रक्खेगा तो आपत्ति को ही बढ़ाएगा, प्रजाहित का प्रथम स्थान होना चाहिए नकि कोशवृद्धि का। १००. **यमाय**=नियन्त्रण के लिए **असूम्**=अस्त्रवर्षा करनेवाली सेना को प्राप्त करे। यदि कभी नियन्त्रण में कठिनाई आती है तो शस्त्रधारी सेना को बुलाना ही पड़ता है।

भावार्थ—राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था के लिए उचित कर आदि लेनेवाले व्यक्तियों को नियत करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**विराट्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

यम के लिए यमसू को

यमार्य यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाᳬ संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजाता-मिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराᳬ संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धᳪ साध्येभ्यश्चर्मम्नम्॥ १५॥

१०१. **यमाय**=नियन्त्रण के लिए **यमसूम्**=नियमोपनियम बनानेवाली सभा को प्राप्त करे, आजकल की भाषा में 'विधान-सभा' का निर्माण करे। १०२. **अथर्वभ्यः**=(न थर्वति) स्थिरवृत्तिवाले लोगों के लिए, ध्यान के अभ्यासियों के लिए **अवतोकाम्**=रक्षक सेना को नियत करे। १०३. **संवत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **पर्यायिणीम्**=क्रम को जाननेवाली को प्राप्त करे। वस्तुतः जो पत्नी 'किस क्रम में कार्य करने हैं' इस बात को समझती है, वह कार्यों को सुचारुरूपेण सम्पन्न कर पाती है। १०४. **परिवत्सराय**=पूर्ण निवास के लिए, एक-एक कोश में उत्तम निवास के लिए **अविजाताम्**=ब्रह्मचारिणी (अ-विजात) को प्राप्त करे, अर्थात् गृहस्थ में आने से पहले इस बात का ध्यान किया जाए कि ब्रह्मचारिणी ने सब कोशों का विकास उत्तमता से किया है। १०५. **इदावत्सराय**=वर्त्तमान काल में निवास के लिए **अतीत्वरीम्**=अतिशयेन क्रियाशील को प्राप्त करे। जो क्रियाशील नहीं होती वह या तो भूतकाल की उज्ज्वलता का गान करती रहती है या भविष्यत् के स्वप्न लेती रहती है। १०६. **इद्वत्सराय**=निश्चयात्मक निवास के लिए, असंशयात्मा होकर जीवन को चलाने के लिए **अतिष्कद्वरीम्**=अतिशय ज्ञानवाली (स्कन्द गति=ज्ञान) को प्राप्त करे। ज्ञान ही मनुष्य को संशय से ऊपर उठानेवाला है। १०७. **वत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **विजर्जराम्**=(विगतजर्जराम्) अशिथिल शरीरवाली को नियत करे। शिथिल शरीरवाली से निवास के लिए आवश्यक कर्मों को करना सम्भव नहीं होता। १०८. **संवत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **पलिक्नीम्**=श्वेत केशोंवाली, अर्थात् अनुभव-सम्पन्न महिला को नियत करे। १०९. **ऋभुभ्यः**=शिल्पियों के लिए, रथ आदि का निमार्ण करनेवालों के लिए

अजिनसन्धम्=चर्म के सन्धाता को नियत करे। इन दोनों का परस्पर सम्मिलित कार्य होने पर ही रथ आदि का ठीक से निर्माण हो सकेगा। रथकार उपस्थ=Seat आदि बनाएगा, तो उनपर गद्दी आदि को यह अजिनसन्धाता जमाएगा। ११०. **साध्येभ्यः**=अपूर्ण पदार्थों को पूर्ण बनानेवालों के लिए (Finishing touches) देनेवालों के लिए **चर्मम्नम्**=चमड़ा कमानेवाले (Leather tanner) को नियत करे। 'साध्य रथ की कमी को दूर करेगा तो यह 'चर्मम्न' चमड़े की कमी को दूर करेगा और इस प्रकार ये दोनों मिलकर रथ को पूर्ण ठीक कर देंगे।

भावार्थ—जहाँ राष्ट्र का उत्तम सञ्चालन, व्यवस्थापिका, सभादि के होने से होता है वहाँ घर में उत्तम निवास के लिए कार्यों के क्रम को सम्यक् समझनेवाली पत्नी का होना आवश्यक है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**विराट्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

सरों के लिए धीवर को

सरो॑भ्यो धैव॒रमु॑प॒स्थाव॑राभ्यो॒ दाशं॑ वैश॒न्ताभ्यो॑ बै॒न्दं न॑ड्व॒लाभ्य॒: शौष्क॑लं पा॒राय॑ मार्गा॒रम॑वा॒राय॑ कै॒वर्त्तं॑ ती॒र्थेभ्य॑ऽआ॒न्दं विष॑मेभ्यो मैना॒लꣳ स्वने॑भ्य॒: पर्ण॑कं॒ गुहा॑भ्य॒: किरा॑त॒ꣳ सानु॑भ्यो॒ जम्भ॑कं॒ पर्व॑तेभ्यः किम्पू॒रु॒षम्॥ १६॥

१११. **सरोभ्यः**=तलाबों के लिए **धैवरम्**=धीवर सन्तानों को नियत करे। तालाबों को स्वच्छ रखना इनका कार्य हो। ११२. **उपस्थावराभ्यः**=तालाबों के समीप (उप) लगी वाटिकाओं के लिए (स्थावराभ्यः) **दाशम्** =माली आदि भृत्यों को प्राप्त करे। उन पौधों में नियमपूर्वक पानी आदि देना इनका कार्य हो। ११३. **वैशन्ताभ्यः**=जोहड़ों के लिए (Pools) **बैन्दम्**=उन जोहड़ों से कमलगट्टे व सिंघाड़े आदि प्राप्त करनेवालों को (विद् लाभे) नियत करे। ११४. **नड्वलाभ्यः**=नड़ों व सरकण्डोंवाले प्रदेशों के लिए **शौष्कलम्**= (शुष्= कला) उन तृणों को सुखाकर कलात्मक वस्तुएँ बनानेवाले को नियत करे। ११५. **पाराय मार्गारम्**=पार जाने के लिए मार्ग को जाननेवाले को अथवा जल-जन्तुओं का शिकार कर सकनेवालों को नियत करे (मृगणाम् अरिः, तस्यापत्यम्) ११६. **अवाराय**=नदी में उरले किनारे पर लौट आने के लिए **कैवर्तम्**=केवट को नियत करे। ११७. **तीर्थेभ्यः**=तीर्थों के लिए, घाट आदि के लिए अथवा तीर्थस्थानों के लिए जोकि प्रायः नदी के किनारे होते हैं **आन्दम्**=(अदि बन्धने) बाँध बाँधनेवाले को नियत करे। ११८. **विषमेभ्यः**=विषम स्थानों के लिए, जलों में संकटयुक्त स्थानों के लिए, जहाँ कि मगरमच्छ आदि का भय हो **मैनालम्**=जालों द्वारा (मीनान् अलति वारयति) मछली आदि के निवारण करनेवाले को नियत करे। ११९. **स्वनेभ्यः**=नाना प्रकार के शब्दों के लिए **पर्णकम्**=पहरेदार को (पृ पालनपूरणयोः) नियुक्त करे अथवा **स्वनेभ्यः**=उत्तम स्वरों के लिए **पर्णकम्**=तुरही (वाद्यविशेष) बजानेवाले को प्राप्त करे। १२. **गुहाभ्यः**=पर्वत कन्दराओं के लिए, पर्वत-कन्दराओं में शेर आदि के खतरे से बचने के लिए **किरातम्**=भीलों को प्राप्त करे। १२१. **सानुभ्यः**=पर्वत-शिखरों के लिए **जम्भकम्**=(जभि नाशने) हिंस्र-पशुओं के नाश करनेवाले को नियत करे और १२२. **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों के लिए **किम्पूरुषम्**=छोटे कदवाले पुरुषों को प्राप्त करे, पर्वतों पर ऐसे ही व्यक्ति सुविधा से कार्य कर सकते हैं, पर्वतारोही पुरुष छोटे कद के ही होने चाहिएँ।

भावार्थ—तालाबों व पहाड़ों पर कार्यव्यवस्था के लिए तदुपयुक्त पुरुषों को नियत करना चाहिए। तालाबों के लिए धीवर आदि तो पर्वतों के लिए किरात आदि।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौः**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

बीभत्स के लिए पौल्कस को

बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जनवादिनं व्यृद्ध्याऽअपगल्भꣳ सꣳशराय प्रच्छिदम्॥ १७॥

१२३. **बीभत्सायै**=हत्या आदि बीभत्स कार्यों के लिए **पौल्कसम्**=अन्त्यजजाति के व्यक्ति को प्राप्त करे। १२४. **वर्णाय**=सौन्दर्य निर्माण के लिए **हिरण्यकारम्**=सुवर्णकार को प्राप्त करे, वह सोने पर किस प्रकार चित्रकला द्वारा सौन्दर्य का उत्पादन करनेवाला होता है? १२५. **तुलायै**=तुला के लिए, तोलने आदि के कार्यों के लिए **वाणिजम्**=वणिक्पुत्र (बाणिया) को प्राप्त करे। १२६. **पश्चादोषाय**=पीछे दोष देने के लिए **ग्लाविनम्**=अहृष्ट, अशान्त को प्राप्त करे (ग्लै हर्षक्षये), अर्थात् अप्रसन्न रहने के स्वभाववाला व्यक्ति सदा पीठ पीछे दोषों का उद्घाटन करता है अथवा पश्चादोष (back biter) कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। १२७. **विश्वेभ्यः भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए **सिध्मलम्**=(सिध्माः सुखसाधकाः विद्यन्ते यस्य तम्–द०) सुखसाधक पदार्थों से युक्त पुरुष को नियत करे। १२८. **भूत्यै जागरणम्**=कल्याण के लिए जागरण को प्राप्त करे, अर्थात् जागनेवाले का ही कल्याण होता है, ऐसा समझे। १२९. **अभूत्यै स्वपनम्** =यह भी स्पष्ट है कि सोना, सोते रहना, अपने भले को न सोचना, अकल्याण के लिए होता है। १३०. **आर्त्यै**=पीड़ा के लिए **जनवादिनम्**=इधर-उधर लोकनिन्दा फैलानेवाले को प्राप्त करे। १३१. **व्यृद्ध्यै**=असमृद्धि व दरिद्रता के लिए **अपगल्भम्**=प्रगल्भतारहित पुरुष को प्राप्त करे। राजा के मन्त्री प्रगल्भ व चतुर न होंगे तो कोश खाली हो जाएगा। प्रगल्भता के अभाव में गृहस्थ दरिद्र ही बना रहेगा। १३२. **संशराय**=उत्तमता से हिंसा के लिए **प्रच्छिदम्**=उत्तम छेदनकर्ता को प्राप्त करे, अर्थात् वधदण्ड के लिए छेदनक्रिया में निपुण व्यक्ति को नियत करे।

भावार्थ—राष्ट्र में बीभत्स व छेदनादि कार्यों में निपुण व्यक्ति की नियुक्ति करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृत्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**।

अक्षराज के लिए कितव को

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणऽउप तिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम्॥ १८॥

१३३. **अक्षराजाय**=राजा की आँखरूप गुप्तचरों के (चारैः पश्यन्ति राजानः) अध्यक्ष पद के लिए **कितवम्**=(कित् ज्ञाने) अत्यन्त समझदार पुरुष को प्राप्त करे। १३४. **कृताय**=किये जा चुके, सम्पन्न कर्मों के लिए **आदिनवदर्शम्**=उन कर्मों में रह गये दोषों को देखनेवाले पुरुष को प्राप्त करे, ताकि उन दोषों को दूर किया जा सके। १३५. **त्रेतायै**= 'अग्नित्रयमिदम् त्रेता' गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि—इन तीन अग्नियों के कार्यों को ठीक रखने के लिए **कल्पिनम्**=कल्पशास्त्र में निपुण व्यक्ति को प्राप्त करे। इन कल्पसूत्रों में यज्ञों की वेदियों के विधि-विधानों का प्रतिपादन है। उनको ठीक से जाननेवाला यज्ञ के कार्यों को ठीक चला सकेगा। १३६. **द्वापराय**=(द्वौ परौ यस्य) धर्म, और मोक्ष ही पर—अन्तिम उद्देश्य हैं, जिसके 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' में एक सीमा पर धर्म और दूसरी

सीमा पर मोक्ष ही जिसके जीवन के अङ्ग है, उसके लिए **अधिकल्पिनम्**=अधिक सामर्थ्यवाले पुरुष को नियत करे। यह धर्मपूर्वक राष्ट्र के कार्य करता हुआ, दोषों से मुक्त रहता हुआ, अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा। सामान्य व्यक्ति तो अर्थ व काम में ही फँस जाता है। १३७. **आस्कन्दाय**=चारों ओर ज्ञान के प्रसार के द्वारा (गति =ज्ञान) दोषों के शोषण के लिए **सभास्थाणुम्**=सभा में स्थिरता से रहनेवाले को नियत करे। यह उत्तम नियमों के निर्माण व प्रचार के द्वारा प्रजा के दोषों का शोषण करना अपना कार्य समझे। १३८. **गोव्यच्छम्**=गौ को पीड़ित करनेवाले को **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए प्राप्त करे। १३९. **गोघातम्**=गोहत्या करनेवाले को **अन्तकाय**=बधक के लिए प्राप्त करे, अर्थात् गोघाती को वधदण्ड दे। १४०. **गां विकृन्तन्तम्**=गौ को काटते हुए पुरुष को **यः**=जो **भिक्षमाणः**=भीख माँगता हुआ **उपतिष्ठति**=उपस्थित होता है उसे **क्षुधे**=भूख के लिए प्राप्त करे, अर्थात् ऐसे व्यक्ति को भूखा रखने का दण्ड दिया जाए। १४१. **दुष्कृताय**=पापों को दूर करने के लिए **चरकाचार्यम्**=भ्रमणशील आचार्यों को स्थित करे, जो घूम-फिरकर प्रजा को ज्ञान देते हुए दुष्कृत्यों को दूर करे। १४२. **पाप्मने**=पापी पुरुष के लिए **सैलगम्**=(सैलेन सह गच्छति) अस्त्रधारी पुरुष को नियत करे।

भावार्थ—राष्ट्र में गोहत्या आदि पापों को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाए।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**भुरिग्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रतिश्रुत्क के लिए अर्तन को

प्रतिश्रुत्काया॑ऽअर्तनं घोषा॑य भ॒षमन्ता॑य बहुवा॒दिन॑मन॒न्ताय मूक॒ꣳ शब्दा॑याडम्बराघा॒तं मह॑से वीणावा॒दं क्रोशा॑य तूणव॒ध्मम॑वरस्प॒राय॑ शङ्ख॒ध्मं वना॑य व॒नप॒मन्यतो॑रण्याय दाव॒पम्॥ १९॥

१४३. **प्रतिश्रुत्काय**=प्रतिज्ञापूर्ति के लिए **अर्तनम्**=प्रेरक को नियत करे। यह निरन्तर उत्तम प्रेरणा देता हुआ उन्हें प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उत्साहित करता रहेगा। १४४. **घोषाय्**=उद्घोषणा के लिए **भषम्**=ऊँची आवाज़ से बोलनेवाले को प्राप्त करे। १४५. (क) **अन्ताय**=सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए **बहुवादिनम्** =उत्तम वक्ता को नियत करे। (ख) इस वाक्य में ऐसी भावना भी सूचित होती है कि बहुत बोलनेवाले को अन्त के लिए जाने, अर्थात् 'इसका आयुष्य अल्प हो जाता है' ऐसा समझे। १४६. **अनन्ताय**=उस अनन्त प्रभु के उपदेश के लिए **मूकम्**=मौन धारण करनेवाले को प्राप्त करे, क्योंकि ईश का उपदेश तो **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्'** के अनुसार मौन से ही दिया जाता है। साथ ही कम बोलनेवाले को दीर्घायुष्यवाला जाने। १४७. **शब्दाय**=शब्द करने के लिए, पक्षी आदि को भयभीत करने के लिए (आवाज़) करने के लिए **आडम्बराघातम्**=ढोल बजानेवाले को प्राप्त करे। १४८. **महसे**=उत्सवों के लिए, उत्सवों में सभ्यों के विनोदार्थ **वीणावादम्**=वीणा बजानेवाले को प्राप्त करे। १४९. **क्रोशाय**=लोगों को एकत्र होने की सूचना देने के लिए (आह्वान के लिए) **तूणवध्मम्**=ढक्का बाजनेवाले को प्राप्त करे। १५०. **अवरस्पराय**= आस-पास के लोगों को प्रार्थना आदि के लिए बुलाना हो तो **शंखध्म्**=शंख बजानेवाले को प्राप्त करे। १५१. **वनाय** =वनों की रक्षा के लिए **वनपम्**=वनों के रक्षक को नियत करे। १५२. **अन्यतः अरण्याय**=दूसरे घने जंगलों के लिए **दावपम्**=वनाग्नि से रक्षा करनेवाले को नियत करे। नगर के समीप साधारण वन की रक्षा के लिए वनाय की नियुक्ति है 'इन उपवनों का कोई दुरुपयोग न करे' इसके लिए निगरानी करनेवाले को रखना है और घने जंगलों की रक्षा के लिए दावपों की नियुक्ति है। उन वनों में अचानक आग लगने से लाखों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—जहाँ उद्घोषणा आदि के लिए ढोल आदि बजानेवाले की नियुक्ति करनी है वहाँ वनों की रक्षा के लिए रक्षापुरुषों को भी नियुक्त करना है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**ऋषभः**।

नर्म के लिए पुँश्चलू को

नर्माय पुँश्चलूꣳ हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम्॥ २०॥

१५३. **नर्माय**=क्रीड़ाओं के लिए **पुँश्चलूम्**=लोगों में चहल-पहल कर देनेवाले को नियत करे। ये लोगों में खेल देखने के लिए उत्साह पैदा करेंगे। १५४. **हसाय**=हास्य के लिए, केवल आमोद-प्रमोद के लिए **कारिम्**=अनुकरण करनेवाले को नियत करे। १५५. **यादसे**=जल-जन्तुओं के लिए **शाबल्याम्**=शबर स्त्रियों को नियत करे। १५६. १५७. १५८. **महसे**=तेजस्विता के लिए, राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए **ग्रामण्यम्**=ग्रामनेता, नम्बरदार **गणकम्**=हिसाब-किताब रखनेवाला पटवारी या क्लर्क तथा **अभिक्रोशकम्**=उद्घोषणापूर्वक सबको एकत्र करनेवाले **तान्**=इन तीनों को प्राप्त करे। प्रत्येक ग्राम में 'ग्रामणी, गणक व अभिक्रोशक' की व्यवस्था होनी चाहिए तभी राज्य-प्रबन्ध तेजस्वी बना रहता है, अन्यथा व्यवस्था ढीली हो जाती है। १५९. **नृत्ताय**=नृत्य के लिए **वीणावादम्**=वीणा बजानेवाले को, १६०. **पाणिघ्नम्**=हाथ से तबला आदि बाजानेवाले को १६१. **तूणवध्म्**=तुरही बजानेवाले को नियत करे। नृत्य में उत्साह लाने के लिए इनका होना आवश्यक है। इनके स्वर पर ही नृत्य चलता है। १६२. **आनन्दाय**=आनन्द के लिए, कीर्तन आदि में आनन्द की वृद्धि के लिए **तलवम्**=करताल बजानेवाले को प्राप्त करे।

भावार्थ—जहाँ ग्रामों के प्रबन्ध के लिए ग्रामणी आदि को नियत करना है, वहाँ आमोद-प्रमोद के उत्सवों के लिए वीणावादक आदि को भी प्राप्त करना है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

अग्नि के लिए पीवा को

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वꣳशनर्तिनं दिवे खलतिꣳ सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षꣳ रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्॥ २१॥

१६३. **अग्नये**=अग्नि के लिए, अग्नि के समीप कार्य करने के लिए **पीवानम्**=मोटे आदमी को प्राप्त करे। कार्य होने के साथ उसकी चरबी पिघलकर उसकी स्थूलता में भी उचित कमी आ जाएगी। १६४. **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए, पृथिवी पर बैठे-बैठे कार्य करने के लिए **पीठसर्पिणम्**=पीठेन सर्पति=बैठे-बैठे सरकनेवाले को नियत करो, उस पंगु पुरुष को नियत करे जो उठकर इधर-उधर नहीं जा सकता। १६५. **वायवे**=वायु के लिए, अर्थात् प्रचण्ड वायु में कार्य करने के लिए **चाण्डालम्**=(चण्ड अलं=शक्ति) प्रचण्ड शक्तिवाले को प्राप्त करे १६६. **अन्तरिक्षाय**=अन्तरिक्ष के लिए, ऊपर आकाश देश में कार्य करने के लिए **वंशनर्तिनम्** =बाँस पर नाच सकनेवाले को प्राप्त करे, इसे उस ऊँचे स्थान में कार्य करते हुए भय नहीं लगता। १६७. **दिवे**=द्युलोक के निरीक्षण के लिए **खलतिम्**=आकाशस्थ गोलों (पिण्डों) की गति को जाननेवाले को नियत करे। १६८. **सूर्याय**=सूर्य के निरीक्षण के लिए **हर्यक्षम्**=हरे रंग की आँखवाले को नियत करे। हरे रंग के शीशे के साथ सूर्य

का वेध लेने से आँख को हानि नहीं होती। १६९. **नक्षत्रेभ्यः**=नक्षत्रों के लिए **किर्मिरम्**=धवल वर्ण के शीशे के साथ देखनेवाले को नियत करे। १७०. **चन्द्रमसे**=चन्द्रमा के लिए, चन्द्रमा के निरीक्षण के लिए **विलासम्**=श्वेत वर्ण के शीशे से निरीक्षण करनेवाले को नियत करे। १७१. **अह्ने**=दिन में कार्य करने के लिए **शुक्लम्**=गौरवर्णवाले **पिङ्गाक्षम्**=पिङ्गाक्ष को नियत करे। **रात्र्यै**=रात्रि में काम करने के लिए **कृष्णम्**=काले रंगवाले **पिङ्गाक्षम्**=पिङ्गाक्ष को नियत करे। उस-उस समय कार्य के लिए ये व्यक्ति अधिक उपयुक्त होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में प्रत्येक स्थान पर तदुपयुक्त पुरुषों को ही कार्यार्थ नियुक्त करना चाहिए।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृत्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

विरूप पुरुष

अथैतानष्टौ विरूपाना लभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च । अशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः। मागधः पुँश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः॥ २२॥

१. **अथ**=अब विविध स्थानों पर उपर्युक्त पुरुषों की नियुक्ति के बाद **एतान्**=इन **अष्टौ**=आठ **विरूपान्**=परस्पर विरुद्ध रूपवाले व विकृत रूपवाले पुरुषों को **आलभते**=प्राप्त करता है। (क) **अतिदीर्घम्**=बड़े लम्बे कदवाले, (ख) **च**=और **अतिह्रस्वम्**=बहुत छोटे कदवाले=बौने को, (ग) **च अतिस्थूलम्**=और अत्यन्त स्थूलकाय को (घ) **च**=तथा **अतिकृशम्**=अत्यन्त दुर्बल शरीरवाले को (ङ) **च**=और **अतिशुक्लम्**=एकदम गौरवर्णवाले को **च**=तथा (च) **अतिकृष्णम्**=अत्यन्त काले रूपवाले को (छ) **च**=और **अतिकुल्वम्**=एकदम बालों से रहित को **च**=तथा (ज) **अतिलोमशम्**=सर्वत्र बालों से व्याप्त अङ्गवाले को। २. **अशूद्राः अब्राह्मणाः**=यदि ये विरूप पुरुष शूद्र व ब्राह्मण न हों तो **प्राजापत्याः**=प्रजापति के ही समीप रहने योग्य हैं। शूद्र तो श्रम में लगा रहकर लोगों की कृपा का ही पात्र रहेगा, और ब्राह्मण ज्ञान के कारण आदर का पात्र बनेगा, परन्तु ये आठ विरूप वैश्य व क्षत्रिय तमाशे का, लोगों की उत्सुकता का कारण बनेंगे और सामान्य कार्यक्रम में पर्याप्त विघ्न के कारण हो जाएँगे। ३. इसी प्रकार **मागधः**=भाट, **पुँश्चली**=असंयत जीवनवाली स्त्री **कितवः**=जुआरी **क्लीबः**=कमज़ोर—ये चारों भी **अशूद्राः**=शूद्र नहीं होते, शूद्र में मागध बनने की योग्यता नहीं होती, काम में लगे रहने व सादा भोजन मिलने से इनका जीवन असंयमवाला नहीं होता, जुए के लिए अवकाश व धन नहीं जुटा पाते, श्रम के कारण शक्तिसम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार ये **अब्राह्मणः**=ब्राह्मण भी नहीं होते। ज्ञानी होने तथा निर्लोभता के कारण व्यर्थ स्तुति करने की इनमें भावना नहीं होती, संयमी होते हैं, जुए से दूर रहते हैं और संयम के कारण निर्भीक व सशक्त होते हैं। **ते**=अशूद्र व अब्राह्मण मागध, पुँश्चली, कितव व क्लीब भी **प्राजापत्याः**=राजा के समीप रहने चाहिएँ। राजा को चाहिए कि इन्हें प्रजा में मिश्रित न होने दे। प्रजा में इन्हें मिश्रित होने का अवसर मिलेगा तो ये प्रजा-पतन का ही कारण बनेंगे।

भावार्थ—आठ विरूप पुरुषों को तथा मागध आदि चार को राजा प्रजा से दूर ही रखे, जिससे राष्ट्र का कार्य सुचारुरूपेण चलता रहे। न प्रजा तमाशा देखने में लग जाए और न ही आचरण से गिर जाए।

सूचना—राष्ट्र में सबको यथोचित कार्यों में लगाना ही 'पुरुषमेध' हैं (मेध=संगम)। 'पुरुषमेध' के ठीक होने पर ही राज्य का सारा ऐश्वर्य बढ़ता है।

इति त्रिंशोऽध्यायः॥